मोक्ष अथवा निर्वाण की बात करते हैं।[745] अविद्या (अज्ञान) राग, द्वेष, तृष्णा आदि को बंधन का कारण मानते हैं।[746]

ये धर्म कर्मवाद की मान्यताओं में अटूट विश्वास रखते हैं। प्राणी द्वारा कृत कर्मों का फलभोग अनिवार्य मानते हैं।[747] कर्मानुसार प्राणी विभिन्न योनियों अर्थात् जन्मों में विचरण करते हैं अर्थात् पुनःजन्म जीवन प्राप्त करते हैं। तीनों ही धर्म पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ कर्मों के फल के रूप में नरक व स्वर्ग की धारणा को मानते हैं।[748] अच्छे या शुभ कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति व बुरे या अशुभ कर्मों से नरक की प्राप्ति होना माना गया है।

हिन्दू जैन और बौद्ध तीनों धर्म जगत अथवा संसार चक्र को बंधन मानते है। जीवन को दुःखमय मानते हैं और यह दुःख अज्ञान-मिथ्याज्ञान अथवा अविद्या के कारण होता है-माना गया है।[749]

तीनों पौर्वात्य धर्म तपश्चर्या के साथ त्रिविध साधन मार्गों के अनुसरण को स्वीकार करते हैं।[750] ये मन वचन एवं कर्म से धर्म के सदाचरण (अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, प्रेम) को महत्व देते हैं। क्रियाविहीन ज्ञान ज्ञानविहीन क्रिया (कर्म) आचरण को निरर्थक माना गया है। अतः हिन्दू धर्म में ज्ञान निष्ठा, कर्म निष्ठा और भक्ति या भाव निष्ठा को ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग भी कहा गया है। जैन धर्म में इन्हें सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि और सम्यक् चरित्र के रूप में तथा बौद्ध धर्म में प्रज्ञा, शील और समाधि के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार हिन्दू, जैन बौद्ध धर्म त्रिविध साधना मार्ग व संयम साधना के द्वारा मानव जीवन में समन्वय संतुलन से मोक्ष अथवा निर्वाण की उपलब्धि को मानते हैं। मोक्ष या निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् दुःखों का अंत हो जाता है।

तीनों धर्मों के धार्मिक प्रत्ययों के इस तुलनात्मक अध्ययन-विवेचन से स्पष्ट होता है कि उनमें

---

745. कठ. उप., 1/3/7-8; तैत्तिरी. उप., 2/1-5; मुण्डक. उप., 3/2/5-9; गीता, 9/9, 32; तत्वार्थ सू., 9/1; उत्तरा. सू., 30/5-9; राजवा., 1/4/3; उदान 8/3, 1/10

746. बृह. उप., 4/4/12; गीता, 3/27-29, 7/27; प्रव, सार, 175; बंधनसुत्त, 29/3/2/15; संयुक्तनि, 36/6; 43/7/3

747.-748. अथर्व., 5/1/2; 18/4/14; मार्कण्डेय पु., 12/3/39; गीता, 5/15; 2/37; 16/16; सूत्रकृ., 2/1/4; 2/5/12-29; धम्मपद, 9/126; मज्झिम नि., 3/203; अंगुत्तर नि, 2/3/7-8

749. मुण्डक उप., शा.भा., 3/1/1, 2; वेदा. सू., 3/4/26; उत्तरा. सू., 19/16; दशवै., 4/12; धम्मपद, 11/146-148

750. गीता, 4/34, 39; तत्वार्थ सू., 1/1; उत्तरा. सू., 28/2; इसिभासियाइंसुत्त, 21/3; सुत्तनिपात, 28/2; अंगुत्तर नि., 1/17

भिन्न-भिन्न देश-काल एवं परिस्थितियों के कारण उत्पन्न भिन्नताएं होने पर भी उनकी सारभूत मान्यताओं में प्रायः अधिक समान भावना/विचार दृष्टिगत होते हैं।

इन पौर्वात्य धर्मों के अंतर्गत चेतनात्मक आधार पर सभी प्राणियों के प्रति एकात्मकता/समान भाव को माना गया है।[751] सभी मनुष्यों में चेतना के स्तर पर विभिन्न प्रकार की प्रायः समान अनुभूतियां पायी जाती हैं। अतः सभी को अपने समान ही समझकर व्यवहार करना चाहिए।[752] जाति, वंश वर्ण, भाषा, धर्म आदि के आधार पर उनमें भेदभाव नहीं करना न्याय चाहिए। सबके प्रति समानता व सहृदयतापूर्ण मातृत्वभाव अपनाते हुए सभी मनुष्यों के लिए, दया, प्रेम, अहिंसा, सहयोग, संगति आदि को मान्यता दी गयी है एवं सबकी उन्नति व कल्याण के लिये प्रयत्न करना माना है।[753] इस प्रकार तीनों धर्म चेतनात्मक आधार पर मनुष्य-मनुष्य में मूलतः कोई अंतर नहीं मानते हैं। ये परस्पर समभाव से रहने को मान्यता देते हैं।

तीनों धर्मों में राग-द्वेष से परे-निष्पक्ष या अनासक्त भाव के आधार पर समभावपूर्ण व्यवहार करने को मान्यता दी गयी है। इनके अनुसार मूल तत्व/सत्ता निस्पृह एवं अनासक्त है।[754] अतः राग-द्वेष से परे होकर-समस्त दोषों का त्याग कर शुद्ध चित्त के सत्य के आधार पर सुमतिपूर्वक सबके प्रति समान स्नेह व सौमनस्य/समभाव का व्यवहार करना हितकर माना गया है।[755] कारण है कि सभी वर्णों व वर्गों के मनुष्य एक ही मानव जाति के हैं, उनमें भेद करना अनुचित हैं।[756] अतः उनके प्रति समान प्रेम, दया, नम्रता, न्याय, नैतिकता आदि को महत्व देते हुए इनके अनुकूल आचरण को शुभ फल देने वाला तथा इनके विपरीत आचरण को अशुभ फल देने वाला माना है।[757] तीनों ही धर्म मानते हैं कि यह कर्मफल

---

751. ऋग. 5/59/6; उत्तरा सू., 6/7; दशवै., 6/11; सुत्तनिपात, 3/37/7, 27

752. ऋग. 5/60/5; 10/191/2-3; आचा. सू., 1/2/3; 1/1/7; 1/5/5; धम्मपद, 10/129-130; सुत्तनिपात, 129

753. ऋग. 5/60/5, 10/191/2-4; आचा. सू., 1/3/3; उत्तरा. सू., 25/32; भक्त परिज्ञा, 93; दशवै,, निर्युक्ति, 60; धम्मपद, 26/388; इतिवुत्तक, 2/2/9; बोधिचर्या., 3/17-18

754. अथर्व., 13/4/4; कार्तिकेय अनुप्रेक्षा, 198. समाधि., 2/223/7; इतिवुत्तक सुत्त, 43; ललित., परि. 19/853; 26/1486

755. ऋग., 4/1/4; यजु., 16/4; अथर्व., 6/341; 12/1/24; महाभा., शांतिपर्व, 50/40-41; 50/9; 58/7; गीता, 6/29-30, 32; नियमसार, 104; भग. सू., 7/8/102; संयुक्त नि., 1/1/8; 1/2/6; धम्मपद, 10/142

756. यजु., 18/48; न्यायसूत्र, 2/2/70; सांख्यका., 5/7

757. ऋग. 10/190/1; अथर्व., 5/1/2; बृह. उप., 4/4/5-6; गीता, 4/11, 9/29, 16/16; भग. सू. , 1/2/64; सूत्रकृ., 2/1/4; 2/5/12-29; धम्मपद., 9/126; मज्झिम नि., भाग 2, पृ. 203; अंगुत्तर नि., 2/3/7-8

निष्पक्ष न्याय के रूप में सत्यतापूर्वक एवं व्यक्ति के कर्मानुसार ही होता है।[758] आसक्ति या ईर्ष्या के आधार पर अथवा अव्यवस्थापूर्वक कुछ भी नहीं होता है। सब कुछ नियमानुसार ही होता है। इस प्रकार तीनों धर्म राग-द्वेष से परे, निष्पक्षता के आधार पर धर्म समभाव को मान्यता देते हैं।

हिन्दू, जैन और बौद्ध - तीनों धर्म अन्य धर्मों/मतों के प्रति उदार, सहिष्णु एवं अनाग्रहपूर्ण भाव अपनाने को महत्व देते हैं। इनके अनुसार विभिन्न मत/धर्म एक ही परमसत्ता/परमतत्व/परमसत्य से संबंद्ध व्याख्याएं और अभिव्यक्तियां हैं।[759] अतः उन सबके प्रति समानभाव युक्त/परस्पर आदरभावपूर्वक सहअस्तित्व के लिये प्रेम, सहयोग एवं सौमनस्यपूर्ण व्यवहार करने को मान्यता देते हैं।[760] इनके अनुसार सत्य के प्रति एकांगी दृष्टिकोण एवं वैचारिक मताग्रह अपनाने के कारण व्यक्ति एकांगदर्शी हो जाते हैं और अन्य मतों/धर्मों को मानने वालों से कलह, संघर्ष, विवाद आदि करते हैं। जो अपने मत को ही मात्र सत्य मानते हुए दूसरों को हीन समझते हैं उनकी अवज्ञा/निरादर करते हैं, वे तृष्णापूर्ण अविवेकी दृष्टि वाले हैं। विवेकी मनुष्य/साधु/ब्राह्मण (ज्ञान वाला/तत्वज्ञ) अपने किसी भी एकांगीवाद के प्रति मोहासक्त एवं पक्षपाती नहीं होता है।[761] वह सत्य के प्रति उदार व व्यापक दृष्टिकोण रखता है।

तीनों धर्म समभाव के लिये श्रद्धा के साथ ही बुद्धि/विवेकज्ञान/प्रज्ञा/तर्कयुक्ति, विश्लेषण आदि को महत्वपूर्ण मानते हैं। इनके आधार पर ही व्यक्ति सत्य-असत्य एवं शुभ-अशुभ का विचार कर अच्छे (कल्याणकर) एवं सत्य को ग्रहण करता है तथा समान भाव से अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करता है।[762] इन आधारों पर ये धर्म मात्र श्रद्धा, शास्त्र या परंपरागत आधार पर किसी भी मत को मान लेने का निषेध करते हैं। इनके अनुसार सभी प्रकार की मोहासक्ति व अंधश्रद्धा का त्यागकर तुलनात्मक दृष्टि से युक्तिसम्मत एवं सत्य मत को माना जाना चाहिये।

सत्यबोध होने पर व्यक्ति ज्ञानी हो जाता है और वह समस्त मिथ्यात्वों का त्याग कर देता है।

---

758. ऋग. 4/1/4; यजु., 36/18; महाभा., शांतिपर्व, 55/9; आचा. सू., 1/8/8/4; बोधपा, 47; संयुक्त नि., 1/1/8; सुत्तनिपात, 3/37/4-5

759. ऋग. 1/164/46; 10/114; कठ. उप., 2/3/2; गीता, 10/4-5, 6-11; विष्णु पु. 1/19/85; उत्तरा सू., 7/29; विशेषा. भा., 954; समाधि., 97-98 धम्मपद, 26/388

760. ऋग., 5/59/6; अथर्व., 3/304; समयसार, 20, 21, 22; युक्तानु., श्लोक 46; तत्वा. सू., 4/2; उत्तरा. सू., 23/30-33; सुत्तनिपात, 50/16-17; 51/10, 11

761. ऋग. 10/12/1; योगवाशिष्ठ, 3/1/12, 3/5/6, 7; गीता, 18/63; लोकतत्व निर्णय, 1/37, 38; पुरूषार्थ सिद्धयुपाय, 28; उत्तरा. सू., 23/25; संयुक्त नि., 1/1/8; अंगुत्तर नि., 3/65; मज्झिम नि., 1/4/8

762. ऋग. 8/31/13; यजु., 1/5; 19/77; 20/11-12; गीता, 10/4-11; लोकतत्व निर्णय, 1/37-38; पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, 28; उत्तरा. सू., 23/25; अंगुत्तर पि., 3/65; मज्झिम नि., 1/4/8

उसमें धर्मानुभव एवं ज्ञान बढ़ने से सबके प्रति करुणा तथा कल्याण के भाव उत्पन्न होते हैं और वह भाषा, वर्ण, जाति आदि समस्त प्रकार के भेदों से ऊपर उठकर सहयोग व समानता का व्यवहार करता है।[763] इससे स्पष्ट है कि तीनों धर्म अन्य धर्मों/मतों के प्रति विवेक के आधार पर धर्म समभाव का व्यवहार करना महत्वपूर्ण मानते हैं।

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर सारतः यह कहा जा सकता है कि हिन्दू, जैन एवं बौद्ध धर्म, धर्म समभाव के अंतर्गत परमसत्ता में विश्वास रखते हुए सभी मनुष्यों में चेतनात्मक एकता को मानते हुए, अनेकता के मूल में एक ही परमतत्व को मानते हैं। जहां वास्तव में सभी प्रकार की विविधताओं का समन्वय होता हैं। ये तीनों धर्म मानव जीवन के आदर्शों एवं धर्मों के प्रति सम्मान भावना, राग-द्वेष से परे समत्व भावना और विवेक भावना के आधार पर सहानुभूति, आत्मीयता, अनाग्रह आदि की व्यापक मान्यताएं प्रस्तुत करते हैं। मतान्धता, राग-द्वेष एवं असहिष्णुता का त्याग कर सत्य को सदैव स्वीकार करने के दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं। सभी धर्मों में सत्यता की संभावना को मानते हैं तथा विवेक के आधार पर युक्ति से सत्यान्वेषण कर उसे स्वीकार करना चाहिये – यह माना गया है। इस प्रकार तीनों पौर्वात्य धर्मों यथा-हिन्दू धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म में धर्म समभाव की आवश्यक मान्यताओं के अनुरूप चिंतन हुआ है।

---

763. यजु., 36/18, अथर्व., 3/30/1-7; महाभा., शांतिपर्व, 21/4-6; 10-11; आचा. सू. 1/4/3; अध्यात्मसार, 69-73; विशेषा., 954; उदान, 6/4; सुत्तनिपात, 16/20, 50/16-17

चतुर्थ सोपान

पाश्चात्य धर्म एवं धर्म समभाव

पिछले अध्याय में पौर्वात्य धर्म (हिन्दू, जैन, एवं बौद्ध धर्म) एवं धर्म समभाव पर तुलनात्मक दृष्टि से चर्चा की गयी है। प्रस्तुत अध्याय में हम पाश्चात्य धर्म एवं धर्म समभाव (सेमेटिक अथवा नबीमूलक धर्म : यहूदी, ईसाई, एवं इस्लाम धर्म) पर पूर्व अध्याय में मान्य प्रत्यय सिद्धांतों एवं धर्म समभाव के आधारों पर चर्चा करते हुए उनमें अंतर्निहित धर्म समभाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

4.1 यहूदी धर्म :

पाश्चात्य चिंतन में प्राचीन यहूदी धर्म को विशिष्ट स्थान दिया गया है। इसमें पाश्चात्य धर्म चिंतन में विकसित अध्यात्मवाद का पुरातन स्वरूप देखने को मिलता है। इस धर्म के संस्थापक हज़रत मूसा है।[1] अतः इसे मूसा धर्म या मोज़ेज धर्म भी कहा जाता है। इसके उपदेश प्रायः इब्रानी (हिब्रू) भाषा में होने एवं इब्रानियों के उद्धार से संबंधित होने के कारण यह इब्रानी धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। यह मिस्रियों (मिस्र लोगों) की शक्ति से मुक्त हुए एवं एक भिन्न प्रदेश इस्रायल में विकसित हुआ। इसके विश्वासियों ने यहूदी जाति को परमेश्वर द्वारा चुनी हुई श्रेष्ठ जाति मानते हुए इसका प्रचार-प्रसार किया।

1. ऐतिहासिक स्वरूप :

उपलब्ध उल्लेखों के आधार पर प्राचीन सभ्यताओं में सर्वाधिक पुरातन पाश्चात्य सभ्यता मिस्र की मानी जाती है।[2] इस पुरातनता को दर्शाने वाले मिस्र के पिरामिड माने जाते हैं। अन्य सभ्यताएं यथा सुमरेरियन, बेबीलोनियन, मेसोपोटेमियन तथा असीरियन मिस्र की कई धार्मिक धारणाओं को ही थोड़े बहुत भेद के साथ स्वीकार करती थी।[3] इतिहास में 1400 ई.पू. लिखे गये 'तेल-अल्-अमरना' के पत्रों में

---

1. सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृ. 137
2. Magenis and Appel, A History of the World, P. 29
3- Ibid, P. 200

यहूदियों (हिब्रू लोगों) का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है।[4] उन दिनों यहूदी कौम एक ख़ानाबदोश जाति थी जो मिस्र के फेराओं के शासन काल में नये चरागाहों और कृषिभूमि की खोज में आयी थी।[5] परवर्ती शासकों ने उन्हें दास बना लिया। उन पर अत्याचार होने लगे तथा वे (हिब्रू लोग) स्वतंत्रता की उत्कठ अभिलाषा रखने लगे।

आदिमानव आदम की वंशावली में नूह, नूह की वंशावली में शेम और शेम की पारंपरिक वंशावली में उत्पन्न याकूब इब्राहिम, इसहाक से यूसुफ, यूसुफ की संतानों से लेवी वंश में उत्पन्न मूसा (13वीं सदी पूर्व) हुए जिनकी प्राप्ति नील नदी के तीर पर फिरौन राजा की बेटी ने एक टोकरी से की थी। राजा फिरौन की बेटी के कहने पर बालक मूसा की माता को इब्री धाय के रूप में आमंत्रित कर उसको दूध पिलाने का सवैतनिक कार्य सौंपा गया।[6] इस प्रकार उनका पालन-पोषण हुआ।

मिस्र में परतंत्रता की स्थिति में मोज़ेज (मूसा) ने नेतृत्व कर हिब्रू लोगों (यहूदियों) को समझाया कि वे देवपूजा (मूर्तिपूजा) करना छोड़ दें तथा एकेश्वरवाद को मानें।[7] मिस्र में परतंत्रता की स्थिति से यहूदियों ने मोज़ेज के नेतृत्व में मुक्ति पायी, मोज़ेज ने यहूदियों को नये प्रदेश (कनान) में बसाया और यहूदियों ने मोज़ेज को एक नबी अथवा पैग़ंबर माना। माऊंट सिनाई पर नबी मोज़ेज/मूसा को 'दस आदेश' सुनाई पड़े जो उसके ईश्वर-यहोवा (जिसे यावे, यहावे आदि भी कहा गया है) द्वारा दिये गये थे।[8] ये आदेश ईश्वर 'प्रकाशना' (परमेश्वर की ओर से मानव को रहस्य का प्रकटीकरण, या ईश्वर का दर्शन व उसकी वाणी सुनाई पड़ना) के रूप में माने गये हैं, जो उन्हे श्रुति रूप में मिले थे। इन आदर्शों के आधार पर मोज़ेज ने यहूदियों में पारिवारिक-सामाजिक, नैतिक व धार्मिक कर्त्तव्य, विधान आदि की व्यवस्थाएं स्थापित की।[9] व्याभिचार न करने, झूठी गवाही न देने, खून न करने, चोरी न करने, लालच न करने आदि को सिनाई पर्वत पर दिये गये दस आदेशों में अत्यधिक महत्व दिया गया है।[10]

मूसा द्वारा इन व्यवस्था वचनों आदि से अंत तक पुस्तक में लिखने के पश्चात व इस्राइलियों

---

4. राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 138
5. Magenis and Appel, A History of the World, P. 201
6. Exo., 2/1-10
7. Exo. 20/2-6; राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 210
8. Bible. Old Testament, Exo. 19/3-25; 20/1-21
9. Numbers Denteronomy, Leuiticus
10. Exo 20/13-17, Is., 53/11

को गीत-वचन सुनाने तथा आशीर्वाद देने के उपरांत मोआब देश मे उनकी मृत्यु 120 वर्ष की अवस्था में हो गयी। बाइबिल में ऐसा विवरण मिलता है।[11] उनकी मृत्यु के बाद यावे दास (यहोवा के दास)[12] के रूप में यहोशू, शमूएल, दाऊद, दानिय्येल, आमोस आदि कई पैगंबर माने गये है जिन्होंने यहोवा के आदेशों का-मोज़ेज धर्म सिद्धांतों को आधार मानकर इस धर्म का वंशानुक्रम एवं यात्राओं के द्वारा कनान, बैतलहम, यरूशलम, यरदान, इस्रायल आदि में प्रचार-प्रसार करने के लिये उपदेश दिये व कई राजाओं ने युद्ध किये। ऐसा धर्मशास्त्र, पुराने नियम के अध्ययन से ज्ञात होता है।[13]

2. साहित्य :

यहूदी धर्म का प्रारंभिक साहित्य रूप-'ईश्वर प्रकाशना' रूपी श्रुति के द्वारा मोज़ेज (मूसा) को सिनाई पर्वत पर सुनी गयी ईश्वर वाणी के आधार पर माना गया है। इस 'ईश्वर प्रकाशना' के आधार पर मोज़ेज द्वारा प्रदत्त 'पुस्तक', जो कई चिंतकों द्वारा 'तौरह' (Torah) मानी गयी-को इस धर्म के अनुयायी अपना मूल धर्म ग्रंथ मानते हैं।[14] इसमें लिखित और मौखिक, दो प्रकार की बातें लिखी हुई हैं। मूसा की ही पुस्तक के आधार पर एजा (एजरा-444 ई.पू.)-जिसे निपुण शास्त्री व पुजारी माना गया है।[15] ने पंञ्चजना (Penta Teuch)[16] की रचना की थी। इसे ही वर्तमान में मूसा संहिता कहा जाता है। ये सभी प्राचीन एवं पारंपरिक ग्रंथ माने जाते हैं।

धर्मशास्त्र अथवा बाइबिल (शाब्दिक अर्थ-'पुस्तक'), जो दो खंडों में विभक्त है- पूर्वार्द्ध-पुराना नियम अथवा ओल्डटेस्टामेंट तथा उत्तरार्द्ध-नया नियम अथवा न्यूटेस्टामेंट। इसका पुराना नियम (ओल्ड टेस्टामेंट) यहूदियों को धर्मग्रंथ के रूप में मान्य है किंतु नया नियम (न्यू टेस्टामेंट) मान्य नहीं है। विद्वानों के मतानुसार पुराना नियम का सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ आमोस नबी का (8वीं शताब्दी ई.पू.) है, तथा सर्वाधिक अर्वाचीन प्रज्ञा ग्रंथ (50 ई.पू.) है।[17] इसमें लगभग 56 ग्रंथ (पुस्तकें) सम्मिलित हैं एवं इनका क्रम

---

11. Deut., 31/24-30; 33/1; 34/1-7
12. Josh., 1/1-9
13. Josh., 1/10-18; 5/13-27; 7/10-25; 8/1-9, 10-28; 10; 11; 12; 13; I Sam., 11/14; 12; 12; II Sam., 5; 6; 7; 8
14. माचवे, प्रभाकर तथा दफ्तुआर, सुरेंद्रनारायण, विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना पृ. 161; मसीह, याकूब, तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृ. 154
15. Ezra, 6/18, 2; 7/6-11; Glimpses of World Religions, P. 149
16. वही, 8/1-36; वही, पृ. 149
17. फाइस, योहन, ईसाई दर्शन; इतिहास और सिद्धांत, पृ. 1

उनकी रचना के अनुसार नहीं हैं। यहूदी धर्म के अधिकांश ग्रंथ इब्रानी भाषा (हिब्रू भाषा) में है। कुछ ग्रंथों के मूल पाठ यूनानी भाषा में भी उपलब्ध होते हैं। प्रसिद्ध यहूदी दार्शनिक सादिया (सन् 882-942) और मैमोनाइडस (सन् 1135-1206) तालमूद (Talmud) को भी पारंपरिक धर्मस्रोत मानते हैं। यह विधि ग्रंथ है।[18]

यहूदी धर्म के साहित्य की चर्चा करने के पश्चात् उसके मान्य धर्म-प्रत्यय सिद्धांतों (धर्म के मान्य तत्वों) का विवेचन करना उपयुक्त होगा। हमने पूर्व अध्याय-पौर्वात्य धर्म एवं धर्मसमभाव में धर्म के मान्य सामान्य प्रत्यय यथा-परमसत्ता, शरीरेत्तर चेतना (पुनर्जन्म बंधन व मोक्ष), कर्मवाद (नीतिगत स्वरूप पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदि) एवं जगत संबंधी विचारों की चर्चा की है। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से इन्हीं प्रत्यय-सिद्धांतों के आधार पर इस अध्याय के अंतर्गत मान्य धर्मों यथा-यहूदी धर्म, ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म की चर्चा करेंगे।

धार्मिक प्रत्यय :

क. परमसत्ता/परमतत्व :

यहूदी धर्म ईश्वरवादी धर्म है। इस धर्म की मान्यता के अनुसार ईश्वर-अथवा परमेश्वर-यहोवा ने सबकी सृष्टि (आकाश, पृथ्वी, वनस्पति एवं अन्य समस्त प्राणी जगत की उत्पत्ति) की।[19] अतः यहूदी धर्म में परमेश्वर को परमतत्व के रूप मे मानते हुए यहोवा[20] अथवा 'यावे' या 'याहवे' कहा गया है। सामी जातियां परमतत्व बोधक नाम के रूप में 'एलोहीम'-जिसमें ईश्वर की अनेक शक्तियां सम्मिलित मानी गयी है-शब्द का बहुवचन संज्ञा के रूप में प्रयोग करती थीं।[21] प्रारंभिक इब्रानी जाति द्वारा भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता था तथा वे अपने एकमात्र परमेश्वर (एक ही ईश्वर है) को अन्य जातियों के परमेश्वर से भिन्न नहीं समझते थे। इब्रानियों (यहूदी) और अन्य जातियों के परमेश्वर के इस पूर्वोक्त तादाम्य से स्पष्ट है कि बाइबिल 'यहोवा' अथवा 'यावे' के निजी नाम (इब्रानियों के) और 'एलोहीम' की सामान्य संज्ञा,

---

18. माचवे, प्रभाकर तथा दफ्तुआर सु.ना., विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना, पृ. 161; मसीह, याकूब, तुलनात्मक धर्म-दर्शन, पृ. 155
19. Gen., 1-2
20. Exo. 3/15
21. Dufour, Leon (Ed.), Dictionary of Biblical Theology, P. 206, उद्धृत-फाइस, योहन, ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धांत, पृ. 3

दोनों को जोड़ती है;[22] किंतु यहूदी धर्म के मान्य प्रवर्त्तक को स्वयं यहोवा परमेश्वर द्वारा प्रदत्त उपदेश के आधार पर सभी को भविष्य में 'यहोवा' के नाम से ही स्मरण करने का निर्देश दिया गया है।[23]

इस प्रकार यहूदी धर्म में यहोवा को ही एकमात्र परमेश्वर मानते हुए कह गया है कि 'मैं ही यहोवा (प्रभु, परमेश्वर) हूं और मुझे छोड़कर (मेरे अतिरिक्त) कोई दूसरा उद्धारकर्त्ता नहीं है।'[24] मुझे छोड़कर दूसरों को ईश्वर न मानना, किसी अन्य की पूजा या उपासना न करना, न मूर्ति बनाना, न उनको दंडवत् करना, क्योंकि मैं तेरा परमेश्वर यहोवा जलन रखने वाला ईश्वर हूं, और जो मुझसे बैर रखते हैं, उनके बेटों, पोतों, और पड़पोतों को भी पितरों का दंड दिया करता हूं, और जो मुझसे प्रेम रखते हैं और मेरी आज्ञाओं को मानते हैं, उन हजारों पर करुणा किया करता हूं।[25] दूसरे देवताओं के पीछे न चलो, इससे तुम्हारी हानि होती है।[26] मैं सर्वशक्तिमान ईश्वर हूं।[27] मिस्र के सारे देवताओं को भी दंड दूंगा, मैं तो यहोवा हूं।[28] इस प्रकार यहूदी धर्म अनेक देवी देवताओं की उपासना व मूर्तिपूजा को दृढ़ता से अस्वीकार करते हुए एक ही परमेश्वर को सर्वोच्च, दयालु अनुग्रहकारी, धीरजवंत, करुणामय, सत्य एवं न्याय करने वाला तथा क्षमाशील मानता है।[29] इसके लिये कहा है कि मुझ से पहले कोई ईश्वर नहीं हुआ और न मेरे बाद भी कोई होगा। मैं ही ईश्वर हूं और भविष्य में भी मैं ही हूं, मेरे हाथ से कोई नहीं छुड़ा सकेगा। मैंने ही यह समाचार दिया, उद्दार किया और यह वर्णन किया कि जब तुम्हारे बीच कोई पराया देवता नहीं था।[30] अन्य देवताओं की उपासना को अनुचित माना गया है। कहा है कि उनकी उपासना करने वालों पर यहोवा का कोप भड़क उठा है क्योंकि उन्होंने यहोवा की दृष्टि से बुरा कार्य किया।[31]

यहोवा का ईर्ष्यागत स्वभाव का उल्लेख हमें कई स्थलों पर मिलता है। जैसे-'यदि तुम मेरी न सुनोगे, और इन सब आज्ञाओं (जो दी गयी है) को न मानोगे तो मैं तुमको बेचैन (परेशान) करूंगा; क्षयरोग

---

22. वही, पृ. 206, उद्धृत, वही, पृ. 3

23. Exo, 3/13-15

24. Is. 43/11

25. Exo., 20/3-6; Deut., 5/7-10 , 6/14-15

26. Jer., 7/6

27. Gen., 35/11

28. Exo., 12/13

29. Exo., 34/6-9; Lev 19/4, Deut., 12/2-3; 13/2-4, 6, 11

30. Is., 43/10-13; 45/20-24, 46/8-10

31- Judg. 2/7-8

और ज्वर से पीड़ित करूंगा, इनके कारण तुम्हारी आंखे धुंधली हो जाएगी, तुम्हारा मन अति उदास होगा, तुम्हारा बीज बोना व्यर्थ होगा, क्योंकि तुम्हारे शत्रु उसकी उपज खा लेंगे, मैं भी तुम्हारे विरुद्ध हो जाऊंगा, तुम अपने शत्रुओं से हार जाओगे, मैं तुम्हारे घमंड को तोड़ दूंगा, तुम्हारे लिये आकाश को मानों पीतल का बना दूंगा, तुम्हारे बल अकारथ कर दूंगा और यदि तुम इन बातों के उपरांत भी मेरी न सुनो, तो मैं तुम्हारे पापों के कारण तुम्हें सातगुणी सजा (संकट/ताड़ना) दूंगा[32] पर यहोवा का यह निर्देश चेतावनी पूर्ण है। यह संकट या ताड़ना उनके लिये है जो उससे (यहोवा) बैर/विरोध रखते हैं। वह अपने बैरी के विषय में विलंब न करेगा, उसे देखते ही बदला देगा[33] माना है। इस प्रकार कई स्थलों पर यहोवा/परमसत्ता की आज्ञा न मानने पर विभिन्न प्रकार के कष्ट, प्रताड़ना, रोग, शाप, नाश-पतन, बदला आदि देने वाला बतलाया है।[34] जो उसकी आज्ञा मानने वाले, विश्वास करने वाले हैं उनके लिये वह करुणा, दया, भलाई, रक्षा आदि करने वाला तथा संपन्न करने वाला, दूध-मधु की धाराएं बहाने वाला बताया गया है।[35]

स्पष्ट है कि यहूदी धर्म में यहोवा/ईश्वर को सर्वशक्तिमान एवं सुख चैन देने वाला माना गया है।[36] उसे शांतिदाता, प्रकाशक, न्यायकर्त्ता, महान शासक/राजा, उद्धारकर्त्ता, धर्म और शक्तिरूप कहा है।[37] यहूदी धर्म के अनुसार यहोवा पवित्र है तथा संपूर्ण पृथ्वी पर उसका तेज/ज्योति व्याप्त है।[38] वह अपने शब्द की शक्ति मात्र से सब कुछ स्पष्ट करता है।[39] इस प्रकार इस धर्म में ईश्वर/यहोवा को शाश्वत्, सृष्टा, एक, सत्य, ज्योतिर्मय, सर्वशक्तिमान स्वामी, न्यायी, वाचा बांधने वाला (वचन देने वाला व पूर्ण करने वाला) माना गया है।

यहूदी धर्म में मनुष्य/मानव की ईश्वर से घनिष्ट संबद्धता मानी गयी है। यह उल्लेख है कि 'परमेश्वर ने कहा, हम मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार अपनी समानता में बनाएं; और वे सभी प्राणियों (जल, थल व नभ) पर अधिकार रखे; तब परमेश्वर ने मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार उत्पन्न किया; नर और नारी करके उसने सृष्टि की और परमेश्वर ने उनको आशीष दी; कहा कि फूलो-फलो और पृथ्वी

---

32. Lev., 26/14-21, 22-34
33. Deut., 7/10
34. Ibid, 28/15-68; 7/20; Josh., 13/6-9, 15; Nah., 1/2/3
35. Deut., 7/9, 11/9, 13-24, 28/1-14; Josh., 13/4
36. Lev., 26/3-12, Josh., 24/19
37. Is., 44/6-8, 24; 45/5-8 24; Jer., 10/6-10
38. Is., 6/3-4; Hab., 3/3-4
39. Gen., 1/3-4

14—259 Min. of H.R.D./2005

पर भर जाओ, उसको अपने वश में कर लो।'[40] इस प्रकार मानव की परमेश्वर से अनुरूपता को स्वीकार करते हुए उसे (आदम) पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना है। अतः यहूदी धर्म के अनुसार परमेश्वर ने मानव की सृष्टि की है इसलिये वह चाहता है कि प्रत्येक स्थिति में मानव उसकी आज्ञाओं का पालन करे और उसमें निष्ठा रखे। यही मानव जीवन का प्रमुख लक्ष्य है और ईश्वर की वाचा (शब्द/वचन) है। यह वाचा नबी मूसा को दी गयी है। वह सबको आज्ञाओं के द्वारा बांधता है।[41] उन आज्ञाओं का उद्देश्य मनुष्य का मार्गदर्शन कर गुमराह होने से बचाना है। इस प्रकार मूसा ईश्वर आज्ञाओं को अभिव्यक्त करने वाले पैग़ंबर माने गये हैं।

ख. शरीरेतर चेतना :

शरीरेत्तर चेतना के अंतर्गत यहूदी धर्म आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता है। इसके अनुसार आदि में कुछ भी न था 'परमेश्वर का आत्मा जल के ऊपर मंडराता था'।[42] उसी ईश-आत्मा के प्रभाव से विश्वोत्पत्ति हुई है। आगे कहा गया है कि 'यहोवा परमेश्वर ने आदम (मनुष्य) को भूमि की मिट्टी से रचा और उसके नथुनों में जीवन का श्वांस फूंक दिया; और आदम जीवित प्राणी बन गया।'[43] इनसे मनुष्य का जीवात्मा होना दर्शाया गया है।

इब्रानी भाषा में आत्मा का प्रत्यय या सूचक 'रूअह' (रूह) और 'प्राण' दोनों है। इसके अनुसार परमेश्वर की आत्मा तूफान के समान शक्तिशाली मानी जाती है।[44] प्राण रूपी आत्मा द्वारा परमेश्वर सभी जीव-जंतुओं को प्राण प्रदान करता है। इसे जीवन शक्ति के रूप में जीवात्मा माना गया है। यह तब तक बनी रहती है जब तक उनमें ईश-आत्मा के प्रभाव से प्राण की स्थिति है। एक स्रोत के अनुसार 'जब तू (परमेश्वर, यहोवा) उनका प्राण ('रूहअ' या 'आत्मा') खींच लेता है, तो वे मर जाते हैं। जब तू अपनी आत्मा फूंक देता है, तो वे उत्पन्न होते हैं।'[45] 'प्रभु की आत्मा उस पर छाई रहेगी-प्रज्ञा तथा बुद्धि की

---

40. Ibid, 1/26-28; Ps. 8/5
41. Exo., 19/3-25; 20/1-21, Is., 53/11
42. Ibid, 1/2
43. Ibid, 2/7
44. स्रोत्र ग्रन्थ, 29/5/6, उद्धृत-फाइस, योहन, ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धांत, पृ. 6
45. वही, 104/29/30, उद्धृत-वही, पृ. 6

आत्मा, सुमति तथा धैर्य की आत्मा, ज्ञान तथा ईश्वर भक्ति की आत्मा।'[46] उसने (यहोवा) सब कुछ ऐसा बनाया कि अपने-अपने समय पर वे सुंदर होते हैं; फिर उसने मनुष्यों के मन में अनादि अनंत काल का ज्ञान उत्पन्न किया है, वह आदि से अनंत तक मनुष्य बूझ नहीं सकता।[47] ये विचार अनश्वरता के भाव को स्पष्ट करते हैं।

यहूदी धर्म में आत्मा और उसकी अमरता अविनाशिता की ओर भी विभिन्न संदर्भों में उल्लेख मिलता है। ओल्ड टेस्टामेंड में श्योल (Shole) की धारणा से भी आत्मा के अमर होने की मान्यता को स्वीकार करने की पुष्टि होती है। श्योल वह स्थान माना गया है जहां मृतक को (यदि वह कुकर्मी होता है तो) मृत्योपरांत ढकेल दिया जाता है। 'श्योल' का शाब्दिक अर्थ गड्ढा माना गया है। यही धारणा बाद में नरक/अधोलोक की धारणा में विकसित हुई। इस गड्ढे में कौन व कैसे (किन परिस्थितियों में) प्राणियों को फैंका जाता है, इससे हटकर विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि वहां उनका चैतन्य अस्तित्व रहता है। यद्यपि यह एक भिन्न बात है कि उनकी यह अवस्था आनंदपूर्ण नहीं मानी गयी हैं। बाइबिल में कई स्थलों पर बारंबार इस विषय पर प्रार्थनाएं की गयी है कि यहोवा इस गढ्ढे से आत्माओं को निकाले जीवन व आनंद का रास्ता दिखाए साथ ही यहोवा से अधोलोक से प्राणों को न छोड़ने की बात कही गयी है।[48]

अमरता संबंधी अन्य संकेत मृतात्माओं को आमंत्रित कर उनसे परामर्श करने के उद्धरणों में भी मिलते हैं। यद्यपि बाइबिल में (ओल्ड टेस्टामेंट) मृतात्माओं को साधने वालों की निंदा की गयी है किंतु इससे यह तो स्पष्ट होता है कि आत्मा की अनश्वरता अथवा अमरता को यहूदी धर्म स्वीकार करता है। यह धर्म यह नहीं मानता है कि मृतात्माओं से परामर्श नहीं किया जा सकता; अपितु यह मानता है कि ऐसा करना उचित नहीं। इस विषय में कहा गया है कि 'ओझाओं तथा भूत साधने वालों से परामर्श न करना और न ही ऐसे व्यक्ति की खोज करके उनके कारण अशुद्ध हो जाना।'[49] 'यदि कोई पुरुष या स्त्री मृतात्मा को बुलाने के लिये ओझाई या साधना करे तो उसे निश्चय ही मार डाला जाए।'[50] इसी प्रकार के कथन ओल्ड टेस्टामेंट की अन्य पुस्तकों में भी उपलब्ध होते हैं।[51] इन सबसे मृत्यु के पश्चात् आत्माओं का अस्तित्व माना जाना सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त 'तो भी मैं निरंतर तेरे संग ही था',

---

46. वही, 11/2, उद्धृत-वही, पृ. 6; Exo., 35/31

47. Eccle. 3/11, 7/14

48. Ps., 9/15-17; 16/8-10; 49/14, 15, Is, 14/8-9

49. Levi., 19/31

50. Ibid, 20/27

51. Deut., 18/11; Is., 8/19; 24/4

'तू अगुवाई करेगा', 'स्वर्ग में मेरा कौन है?'[52]-आदि कथन भी मृत्योपरांत अमरता के संकेत देते हैं।

यहूदी मत में अमरता की चर्चा के साथ ही मृत्योपरांत पुनः जीवित होने की अवधारणा मिलती है। इसे पुनरुत्थान भी कहा गया है। इस अवधारणा के अनुसार प्रत्येक मृतक अपने शरीर एवं आत्मा के साथ पुनर्जीवित हो उठेगा और इसके पश्चात् वह न्याय का विषय बनेगा। कहा गया है कि 'जो लोग पृथ्वी की मिट्टी में सोये हुए हैं, वे बड़ी संख्या में जाग जाएंगे, कुछ अनंत जीवन के लिये और कुछ अनंत काल तक तिरस्कृत और कलंकित होने के लिये।[53] 'तेरे मरे हुए लोग जीवित होंगे, मुर्दे उठ खड़े होंगे। हे मिट्टी में बसने वालों जागकर जय जयकार करो! क्योंकि तेरी ओस ज्योति से उत्पन्न होती है, और पृथ्वी मुर्दों को लौटा देगी।'[54] 'तब उस मनुष्य की देह बालक की देह से अधिक स्वस्थ एवं कोमल हो जाएगी, उसकी जवानी के दिन फिर लौट आएंगे।'[55] 'मैं तुमको नया मन दूंगा', 'तुम में सांस/प्राण समवाऊंगा और तुम जी जाओगे', 'परमेश्वर ने आज्ञा की और सांस उन में आ गई और वे जीकर अपने-अपने पांवों के बल खड़े हो गये।'[56]

यहूदी धर्म में इन विभिन्न अवधारणाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि मानव परमेश्वर से घनिष्ठ संबंध रखता है। उसके प्राण ईश्वर प्रदत्त हैं। परमेश्वर से वह संबद्ध होते हुए भी उसके अधीन है। जीवन का स्रोत स्वयं परमेश्वर है, मानव नहीं है। परमेश्वर ने मानव को अपने से कुछ ही कम बनाया है।[57] इस प्रकार परमेश्वर में मानवतारोपण को नहीं अपितु मानव में देवत्वारोपण (ईश आरोपण) को स्वीकार किया गया है। मानव में प्राण (जीवात्मा) और शरीर दो पहलुओं को माना गया है। ईश्वर ने मनुष्य को अनश्वर एवं अपना ही प्रतिरूप बनाया तथा विधान रूप में यह प्रतिज्ञा की कि पृथ्वी उजाड़ नहीं होगी, कोई भी प्राणी जल-प्रलय से नष्ट नहीं होगा।[58] इन विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि यहूदी धर्म में ईश्वर से अनुरूपता (ईश्वर का प्रतिरूप) के कारण मानव सत्ता संपूर्णता एवं आत्मा के अर्थ में अमर है। किंतु यह ध्यान रखा जाना चाहिये कि मानव ईश्वर से सादृश्य रखता है और 'सादृश्य' का अर्थ तादात्म्य नहीं है। मानव उस सृष्टा (परमेश्वर) की सृष्टि मात्र है। वह (परमेश्वर) उनका प्राण खींच लेता है तो वे (मनुष्य) मर जाते हैं, जब वह (परमेश्वर) अपनी आत्मा उनमे फूंक देता है तो वे उत्पन्न

---

52. Ps. 73/23, 24, 26
53. Dan, 12/2
54. Is, 26/19
55. Job, 33/25
56. Ezek., 36/26, 37/5, 6, 10
57. Ps., 8/5
58. Gen., 9/11, 15

हो जाते हैं[59] और 'यदि वह मनुष्य से अपना मन हटाये और श्वांस अपने ही में समेट ले, तो सब देहधारी एक संग नष्ट हो जाएंगे, और मनुष्य फिर मिट्टी में मिल जाएगा'[60] से यह स्पष्ट होता है कि आदम का शरीर मिट्टी से बना है अतः मिट्टी में ही मिल जाता है और जीवन तत्व जो प्राण या आत्मा के रूप में होता है उससे (शरीर से) विलग (पृथक) हो जाता है। मृत्यु के समय शरीर (देह) नष्ट हो जाता है, किंतु इस नष्टता (नश्वरता) में आत्मा भाग नहीं लेती। शरीर के नष्ट होने के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व रहता है। बर्काफ़ इसे 'रंगहीन अमरता' कहते हैं।'[61] इस दृष्टिकोण से मानव शरीर का स्वरूप भौतिक है, नश्वर है तथा आत्मा अथवा प्राण आध्यात्मिक है' अनश्वर (अमर) है। इसके अतिरिक्त इसका यह अर्थ भी है कि अन्य प्राणियों अथवा जीवों की आत्माओं की अमरता ईश्वरापेक्षा के कारण सादि है तथा स्वयं अपने आप में मूल नहीं है क्योंकि वे ईश्वर प्रदत्त हैं। जबकि ईश्वर की अमरता मूल और शाश्वत (नित्य) है।

पूर्व अध्याय के विवेचन से यह स्पष्ट हुआ है कि पुनर्जन्म अमरता की क्रमिक रूप से होने वाली अभिव्यक्ति का ही एक मान्य सिद्धांत है और इसी रूप में अमरता को समझा जा सकता है। अतः इस दृष्टिकोण के आधार पर भी अवलोकन करना संगत होगा।

यहूदी धर्म यद्यपि पुनरुत्थान/पुनर्जीवन[62] को स्पष्टतः स्वीकार करता है एवं सैद्धांतिक दृष्टि से प्रत्यक्षतः पुनर्जन्म को स्वीकृति नहीं देता है; फिर भी ओल्ड टेस्टामेंट में कुछ प्रसंग एवं स्थल ऐसे उपलब्ध होते हैं जो अप्रत्यक्षतः पुनर्जन्म की ओर संकेत करते हैं अथवा उन्हें पुनर्जन्म की स्वीकृति देने वाला माना जा सकता है। उदाहरणार्थ वह कथन द्रष्टव्य है कि 'यदि मनुष्य मर जाए तो क्या वह पुनर्जीवित होगा? मेरे नियत सभी दिनों में मैं अपने परिवर्तन तक प्रतीक्षा करूंगा।'[63] 'तब उस मनुष्य की देह बालक की देह से अधिक स्वस्थ एवं कोमल हो जाएगी उसकी जवानी के दिन फिर लौट आएंगे।'[64] 'ईश्वर की ओर से मुझे ये अंग (शारीरिक अंग) मिले....., मेरा विश्वास है कि ईश्वर इन्हें मुझको लौटा देगा।'[65]

---

59. स्रोत ग्रन्थ, 104/29/30, उद्धृत-फाइस, योहन, ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धांत, पृ. 6
60. Job., 34/14-15
61. Berkhof., L., Systematic Theology, P. 672
62. Job., 14/14
63. Ibid. 14/14
64. Ibid, 33/25
65. मक़्काबियों का दूसरा ग्रंथ, 7/11, उद्धृत-फाइस, योहन, ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धांत. पृ. 29

ये कथन यद्यपि 'पुनर्जीवन' अथवा 'पुनरुत्थान' के संबंध में कहे गये माने गये हैं जो उचित प्रतीत नहीं होते हैं। कारण यह है कि पुनर्जीवन या पुनरुत्थान में संपूर्ण मानव का मृत्यु के बाद फिर से जी उठना माना गया है तथा यह इहलोक/पृथ्वी का जीवन न होकर परलोक-स्वर्ग और नरक का जीवन माना गया है और फलतः वह एक बार ही हो सकता है।[66] जबकि इन कथनों से साधक की यह भावना दृष्टिगत होती है कि वह पृथ्वी पर पुनः जीवित होने की एवं नये अंगों से युक्त शरीर धारण कर युवावस्था का जीवन पुनः व्यतीत करने की भावना रखता है।

यही नही अपितु वृक्ष के विकास भाव के वर्णन से भी पुनर्जन्म की भावना अभिव्यक्त होती है। कहा गया है कि 'वृक्ष की तो आशा रहती है कि चाहे वह काट डाला जाए तो भी फिर पनपेगा और उसमें नर्म-नर्म डालियां निकलती ही रहेंगी। चाहे उसकी जड़ भूमि में पुरानी हो जाए और उसका ठूंठ मिट्टी में ही सूख जाए तो भी जल की गंध पाकर वह फिर पनपेगा।'[67] उससे पौधे की नाईं शाखाएं फिर फूटेंगी।[68] इनसे यह स्पष्ट होता है कि यह धर्म वृक्ष एवं जीवन की तुलना के द्वारा यह मानता है कि जिस प्रकार वृक्ष के सूखने अथवा काटने पर भी उसकी उत्पत्ति-पुनरुत्पत्ति होती है उसी प्रकार वह/मनुष्य भी पुनः उत्पन्न होगा या जन्म लेगा।

वस्तुतः पुनर्जन्म की अवधारणा के लिये आत्मा का पूर्ण अस्तित्व एवं नैतिक दृष्टि से कर्म की धारणा का होना आवश्यक है। चाहे वह शरीरयुक्त हो या शरीररहित हो। इस दृष्टि से यहूदी धर्म में कुछ कथन उपलब्ध होते हैं जो पूर्व अस्तित्व का होना अभिव्यक्त करते हैं। कहा है कि 'मैंने मृतकों को जो मर चुके हैं, उन जीवितों से जो अब तक जीवित है अधिक सराहा; वरन् उन दोनों से अधिक सुभागी वह है जो अब तक हुआ ही नहीं, न ये बुरे काम देखे जो संसार में होते हैं।'[69] यह कथन स्पष्टतः जन्म लेने वाले के पूर्व अस्तित्व को तो सिद्ध करता ही है पर यह भी स्पष्ट करता है कि जो अभी तक नहीं जन्मा है वह सर्वाधिक भाग्यशाली है क्योंकि उसे जगत की बुराई देखने का अवसर नहीं मिला। अन्यत्र कहा है कि 'देख मैं अधर्म के साथ उत्पन्न हुआ और पाप के साथ माता के गर्भ में पड़ा।'[70] इस प्रकार जन्म लेना दुःख कारण व दोषपूर्ण माना है।[71] कारण कि जन्म लेने से ही कलंक और कष्ट भोगने वाला बंधन

---

66. फाइस, योहन, वही, पृ. 29
67. Job., 14/7-9
68. Ibid, 14/2
69. Eccle., 4/2-3
70. Ps., 51/5
71. Job., 10/18-19; 14/1; 15/14

मिलता है। इसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि 'विपत्ति धूल से उत्पन्न नहीं होती है और न ही कष्ट भूमि में उगता है; परंतु जैसे चिनगारियां ऊपर ही ऊपर को उड़ जाती हैं वैसे ही मनुष्य कष्ट ही भोगने के लिये उत्पन्न हुआ है।'[72] 'मेरा प्राण जीवित रहते उकताता है।'[73] ये सभी कथन न केवल मनुष्य के पूर्व अस्तित्व का समर्थन करते हैं अपितु उसके जन्म का कारण कष्ट भोगना भी मानते हैं। इसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति 'मेरा प्राण जीवित रहते उकताता है' तभी कह सकता है जब वह पूर्व में मृत्यु का आस्वादन कर चुका हो और यह जन्म ग्रहण करना मृत्यु को प्राप्त करने पर ही संभव है।

इस कष्ट से मुक्ति प्राप्ति तभी मानी गयी है जब यहोवा मनुष्य का हृदय फिर से शुद्ध कर, आत्मा को सुदृढ़ बना देता है तथा उसका सानिध्य मनुष्य को प्राप्त हो जाता है।[74] इस प्रकार यहोवा को मुक्तिदाता[75] माना है। उसकी आज्ञा, नियम जो निर्मल[76] सत्य[77], धर्ममय और अनंत काल तक स्थिर[78] रहने वाले हैं। उनके पालन से व्यक्ति अपराधों से बचा रहता है व सिद्ध/मुक्त हो जाता है।[79] अर्थात् वह कर्ममय सब कष्टों से छूट जाता है[80] और ईश्वर उसे अपना लेता है।[81]

यहूदी धर्म में आत्मा के प्रत्यय का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि यहूदी धर्म आत्मा के रूप में शरीरेत्तर चेतना को अनश्वर/अमर मानता है। इस अमरता के आधार पर पुनर्जीवन/पुनरुत्थान को माना गया है। परंतु पुनर्जन्म के संकेत भी उपलब्ध होते हैं। यह धर्म जन्म लेने वाले के पूर्व अस्तित्व को स्वीकार करता है तथा अधर्म से उत्पन्न/जन्म होना मानता है। यह जन्म कष्ट भोगने के लिये होता है अतः इसे दोषपूर्ण एवं बंधन मानते हुए यहोवा/परमेश्वर की आज्ञा का पालन व धर्ममय नैतिक जीवन व्यतीत करने पर मुक्ति होना भी माना गया है।

---

72. Ibid, 5/8
73. Ibid, 10/1
74. II Sam., 22/21-29, 34
75- Is., 43/10-13: 44/6-8, 24; Ps. 18/46; 19/14
76. Job., 8/6
77. Ps. 18/30; 119/151
78. Ibid, 119/137, 142
79. Ibid, 18/23; 19/13
80. Prov., 11/8
81. Ps., 5/7

ग. कर्मवाद :

यहूदी धर्म में मनुष्य द्वारा किये गये कर्म के प्रभाव को मानते हुए तद्नुरूप कर्मफलन को माना गया है। कहा है कि 'धर्मियों से कहो कि उनका भला होगा क्योंकि वे अपने कर्मों का फल प्राप्त करेंगे। दुष्टों पर हाय! उनका बुरा होगा क्योंकि उनके कामों का फल उन्हें मिलेगा।'[82] 'जैसी जिसकी करनी वैसी उसकी भरनी होती है'[83] अर्थात् जो जैसा करेगा वैसा वह भरेगा। 'दुष्ट, दुष्ट कार्य (मिथ्या कार्य) करता है, परंतु जो धर्म का बीज बोता है उसको निश्चय ही फल (अच्छा फल) मिलता है।'[84] यहूदी धर्म में यह स्पष्टतः माना गया है कि व्यक्ति का कार्य ही उसे अच्छा या बुरा बना देता है, यह उसके स्वयं के मार्ग के कारण ही होता है।[85] अतः मनुष्यों को ही उनके कार्यों का करने वाला एवं उनके परिणाम को भोगने वाला मानते हुए कहा है कि 'जो पाप को जोतते और दुःख बोते हैं, वे ही उसे काटते हैं।'[86] दुष्ट मनुष्य बुराई करता हुआ नष्ट हो जाता है किंतु धर्मी को मृत्यु के समय भी शरण मिलती है।'[87] इन कथनों से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति जो कुछ करता है उसके अनुरूप ही फल प्राप्त करता है। ये फल शुभ या अशुभ अर्थात् अच्छे या बुरे होते हैं। अतः स्पष्ट होता है कि यहूदी धर्म में कर्म की धारणा को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। इसी कर्म के आधार पर व्यक्ति को अच्छा या बुरा कहा जाता है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि कोई व्यक्ति अच्छा या बुरा क्यों है? शुभ-अशुभ का कारण क्या है? इन जिज्ञासाओं के उत्तर में यहूदी धर्म आदम के पतन या मूल पाप की धारणा उल्लिखित करता है। अन्य शब्दों में इसे हम कर्मबंधन की धारणा भी मान सकते हैं।

इस संदर्भ में यह माना गया है कि आदम अपनी पत्नी हव्वा के साथ परमेश्वर के उद्यान में रहता था। उसके लिये ज्ञान वृक्ष का फल खाने की आज्ञा नहीं थी लेकिन धूर्त्त सर्प ने उसकी पत्नी को फल खाने के लिये प्रेरित किया और उस स्त्री ने तथा उसके पति ने वह वर्जित फल खाया।[88] इससे दोनों को ज्ञान हुआ कि वे नग्न हैं तो उन्होंने अंजीर के पत्तों को जोड़कर लंगोट पहन लिये। यहोवा के उद्यान में आकर आदम तू कहां है यह पूछे जाने पर उसे पेड़ के पीछे छुपा हुआ पाया और यह जानकर कि

---

82. Is., 3/10-11
83. Prov., 12/14
84. Prov., 11/18, Ezek., 18/20
85. Ibid, 21/8
86. Job., 4/8
87. Prov., 14/32
88. Gen., 3/6

आदम और हव्वा ने उस वृक्ष का फल खा लिया है जिसके लिये मना किया था, तो वह क्रोधित हुआ और सर्प, स्त्री तथा आदम को शाप दिये। सर्प ने चूंकि स्त्री हव्वा को बहकाया था अतः उसे सब पालतू/घरेलू पशुओं और जंगली/वनैले पशुओं से अधिक शापित किया और कहा कि 'तू हमेशा पेट के बल चलेगा, मिट्टी चाटेगा एवं तुझमें और मनुष्य वंश में बैर रहेगा।'[89] स्त्री को कहा कि तेरी लालसा तेरे पति की ओर होगी, वह तुझ पर प्रभुता करेगा और मैं तेरा प्रसव दर्द बढ़ाऊंगा।[90] पुरुष आदम को शाप दिया कि तुने मेरी आज्ञा का उल्लंधन कर अपनी पत्नी की बात मानकर मेरे द्वारा वर्जित कहे गये वृक्ष का फल खाया अतः तू जीवन भर दुःखपूर्वक अपने द्वारा शापित भूमि व अपने माथे के पसीने/मेहनत की ऊपज/रोटी खायेगा और अंततः उसी मिट्टी में मिल जाएगा जिसमें से तू निकला है।[91] इसके पश्चात यहोवा ने यह विचार कर कि मनुष्य को अच्छे-बुरे का ज्ञान हो गया है और कहीं वह देव समान न हो जाए तथा अनंत जीवन तक जीवित रहने हेतु जीवन वृक्ष का फल भी न खा लें।[92] इसलिये यहोवा ने आदम को उसकी पत्नी हव्वा के साथ उस एडन वाटिका (ईडन गार्डन) से निकाल दिया तथा जीवन वृक्ष की ओर जाने वाले मार्ग पर चारों और घूमने वाली एक ज्वालामयी तलवार को पहरे पर स्थापित कर दिया कि जिससे कोई उधर न जा सके।[93] संक्षेप में यह मनुष्य-आदम व हव्वा पतन/मूल पाप की कहानी है। इसके आधार पर निम्न सिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं[94]-

प्रथम-औपचारिक सिद्धांत जिसके अनुसार ज्ञानवृक्ष का फल पापपूर्ण नहीं था अपितु यहोवा की आज्ञा में अंतर्निहित नैतिकता के नियम का उल्लंघन पापपूर्ण था। इसलिये मनुष्य अभिशापित अथवा दंडित हुआ। द्वितीय-भौतिकवाद के सिद्धांत के अनुसार मनुष्य ने स्वयं की इच्छा को ईश्वर इच्छा के प्रति समर्पित नहीं किया अपितु उसके विरुद्ध स्वयं को स्थापित करने का प्रयत्न किया; इसी कारण वह बंधनग्रस्त हुआ। तृतीय-प्रलोभनवाद के सिद्धांत के अनुसार मनुष्य का पतन प्रलोभन एवं ईश्वर के प्रति अविश्वास रखने से हुआ। यह प्रलोभन सर्प का हव्वा के प्रति, हव्वा का आदम के प्रति और आदम का ईश्वर के प्रति था। ये सभी सिद्धांत न्यूनाधिक भेद से एक ही प्रकार के मंतव्य को प्रस्तुत करते हैं। इन सिद्धांतों के अनुसार मनुष्य का पतन ईश्वर की आज्ञा के उल्लंघन, अविश्वास, लालसा और तृष्णा, स्वार्थ

---

89. Ibid 3/14, 15
90. Ibid 3/16
91. Ibid, 3/17-20
92. Ibid, 3/22
93. Ibid, 23/24
94. Berkhof, Systematic Theology, P. 221

एवं ईश्वर तुल्य होने की अहंभावना के कारण हुआ।[95] अन्य शब्दों में इसे हम यों कह सकते हैं कि मनुष्य आसक्तिवश (तृष्णा अथवा लालसा) ही पतित एवं बंधनग्रस्त हुआ, मृत्यु का विषय बना अथवा मिट्टी में ही मिलता है।[96]

इस प्रकार स्पष्ट है कि यहूदी मत मनुष्य के इस प्रारंभिक बंधनग्रस्त होने की धारणा को ही मूल पाप की धारणा मानता है और समस्त दुःखों का कारण भी इसे मानता है। मूल पाप की सार्वभौमिकता को कई स्थलों पर स्वीकार करते हुए बाइबिल में माना गया है कि पृथ्वी पर ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो शुभ करते हुए पाप या अशुभ न करता हो। मनुष्य शुभ-अशुभ या पाप-पुण्य दोनों करता है, निष्पाप या निर्दोष तो कोई मनुष्य नहीं हैं।[97] इस दृष्टि से जो भी व्यक्ति पैदा हो चुके हैं और होंगे वे सभी बंधनग्रस्त हैं।

यहूदी धर्म में बंधनग्रस्त होने के दो रूपों को मान्यता प्रदान की गयी है। प्रथम-मूलपाप एवं द्वितीय वास्तविक पाप। प्रथम स्वरूप के अंतर्गत मनुष्य के दैवीय स्वभाव की सार्वजनिक विकृति मानी गयी है जो उसकी प्रवृत्तियों को दोषरूप में निर्मित करती हैं। द्वितीय स्वरूप के अंतर्गत उन्हें माना गया है जिन्हें व्यक्ति मन, वचन और कर्म से करता है। अन्य शब्दों में मूलपाप मनुष्य (व्यक्ति) द्वारा किये जाने वाले (मन, वचन व कर्म) पापों की आधारभूमि है जिसमें वे सब घटित होते हैं। मूल-पाप की सार्वभौमिकता एवं आदम द्वारा प्रथम पाप के पश्चात् से समस्त मानव जाति की पीढ़ी में पाप की सार्वभौमिकता के विषय में मतभेद उत्पन्न हुए हैं। इस संबंध में पेलेजियंस (Palagians) और सोसियंस (Socinions) का आरमीनियंस (Arminians) से मतभेद है। इनकी चर्चा करना यहां प्रासंगिक नहीं होगा क्योंकि ये मूल धर्म में स्वीकृत धारणाओं की व्याख्या के संबंध में उत्पन्न मतभेद हैं। अतः विषय की प्रासंगिकता के अनुसार यह कहना ही यहां पर्याप्त होगा कि जहां यहूदी धर्म कर्म बंधन की दृष्टि से मूलपाप को कर्मबंधन के रूप में स्वीकार करता है वहीं व्यक्ति के जन्म के पश्चात् मृत्युपर्यंत किये जाने वाले कर्मों को भी बंधन-योग्य स्वीकार करता है। इस दृष्टि से अच्छे एवं बुरे अर्थात् पुण्य एवं पाप के कार्यों में भेद स्वीकृत किया गया है। यह सिद्धांत सार्वभौमिक रूप से समस्त मानव संतति-जो आदिपिता आदम एवं आदिमाता हव्वा की संतान है-पर लागू है। शुभ और अशुभ अथवा अच्छाई और बुराई व्यक्ति के स्वयं के द्वारा आसक्ति, तृष्णा या अहंभाव से स्वतंत्रतापूर्वक किये गये कर्मों का परिणाम है। इस संबंध में हमें हव्वा द्वारा वर्जित फल खाने की लालसा या तृष्णा का उदाहरण उपलब्ध होता है।[98] अतः कहा जा

---

95. Berkof, Systematic Theology, P. 223; Devaraj, N.K., Hinduism and Christianity, P. 73

96. Gen., 3/19

97. Gen. 4/7-8; 1 Kings, 8/46; Ps. 25/1-7, 143/2; Prov. 20/9, Eccle., 7/20

98. Gen., 3/1-6

सकता है कि बुराई स्वयं व्यक्ति द्वारा किये बुरे कर्म का परिणाम है जिसके लिये व्यक्ति को ही उत्तरदायी माना गया है। बाइबिल में यहोवा की आज्ञाओं के पश्चात् उनका उल्लघंन करना और आदि पाप के तुरंत बाद पाप के रूप मे भ्रातृहत्या का वर्णन मिलता है तथा इसके परिणामस्वरूप अशुभ के रूप में उसके शापित होने के प्रसंग है।[99] अतः यह स्पष्ट है कि यहूदी धर्म कर्म बंधन के कारण के रूप में आसक्ति, तृष्णा या अहंभाव को स्वीकार करता है।

जन्म के बाद यदि व्यक्ति मूसा के दस आदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत नहीं करता है तो वह कर्मबंधन में बंधता है। इन आदेशों में यहोवा परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी को भी परमेश्वर या ईश्वर न मानना, उसकी प्रतिमा न बनाना और उसकी उपासना न करना, अपने परमेश्वर (यहोवा) का नाम लेना, सेबॉय (विश्राम का दिन पवित्र मानना) रखना, किसी का खून न करना, चोरी, व्याभिचार न करना, किसी के विरुद्ध झूठी साक्षी न देना, किसी के घर का व वस्तु का लालच न करना, माता-पिता का आदर करना आदि प्रमुख आदेश हैं।[100] अन्यत्र भी इस प्रकार के उपदेशों को कहा गया है। जैसे एक दूसरे पर अन्याय न करना, बदला न लेना, धर्म से न्याय करना, चोरी न करना, बैर न रखना, प्रेम रखना, बड़ों का सम्मान करना, क्रोध न करना, लालच न करना, कुकर्म न करना आदि को धर्म व्यवहार माना गया है।[101] इनके विरुद्ध आचरण करना अधर्म अथवा पाप माना गया है, यहोवा उन्हें दंडित करेगा।[102] ये सभी बातें मूलतः इसी बात का संकेत करती हैं कि क्रोध, लोभ, लालच, असत्य, अहंकार, व्यभिचार आदि अनैतिक कर्म कर्मबंधन का कारण हैं जिनके आधार पर व्यक्ति को निर्णयदिवस का सामना करना पड़ेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस धर्म मे कर्मबंधन का कारण तृष्णा एवं आसक्ति को माना गया है।

प्रस्तुत विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कर्मबंधन की धारणा अनिवार्यतः कर्मफलन की धारणा से संबंधित हैं। कर्मफलन में कालिक दृष्टि से चाहे कितना ही अंतराल क्यों न हो, किंतु यह अवश्य ही होता है। इस दृष्टि से इसे यहूदी धर्म में 'न्याय दिवस की धारणा' कहा गया है। ओल्ड टेस्टामेंट में कहा गया है कि 'यहोवा ज्ञानी है और कर्मों को तोलने वाला है।'[103] वह तो न्याय करने वाला है।[104] वह पृथ्वी को न्याय देगा संसार को औचित्य से जांचेगा और लोगों को उसके सत्य से।[105]

---

99. Gen. 4/8-12

100. Exo. 20/1-17

101. Lev., 19/3-4, 9-37; Is., 56/1-7; Ezek., 18/5-9

102. Lev., 20/3-27, 26/1-44; Ps., 89/30-33; Prov. 6/23-35

103. 1 Sam. 2/3

104. Job. 21/22

105. Ps., 96/13; Gen., 18/25

ईश्वर की आंखें मनुष्य के चाल-चलन पर लगी रहती हैं; वह उसकी सारी चाल को (कर्म को) देखता रहता है। ऐसा अंधियारा या घोर अंधकार कहीं नहीं है जिसमें अनर्थ करने वाले छिप सकें, क्योंकि उसने (ईश्वर ने) मनुष्य का कुछ समय नहीं ठहराया, ताकि वह ईश्वर के सम्मुख अदालत में जाए।[106] अन्य स्थलों पर ईश्वर द्वारा न्याय करने की धारणा मिलती है।[107] व्यक्ति के कर्मसंचय में वह किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता एवं उनका न्याय उनके कर्मानुसार ही करता है। इस संबंध में कहा गया है कि यदि तूने पाप किया है तो ईश्वर का क्या बिगड़ता है यदि तेरे अपराध बहुत ही बढ़ जाएं तो भी तू उसके साथ क्या करता है? यदि तू धर्मी है तो उसे क्या दे देता है। तेरी दुष्टता का फल तुझ जैसे मनुष्य के लिये ही है और तेरे धर्म का फल भी तुझ जैसे मनुष्य के लिये ही है।[108] अन्यत्र कहा गया है कि 'जब तुम मेरी ओर हाथ फैलाओगे तब मैं तुमसे मुंह फेर लूंगा। तुम कितनी ही प्रार्थना क्यों न करो तो भी मैं तुम्हारी नही सुनूंगा क्योंकि तुम्हारे हाथ खून से भरे हैं।[109]

न्याय की धारणा में यहूदी धर्म में नैतिक उचित एवं ईश्वर वाचा के अनुकूल कार्य करने वालों को पुरस्कृत करने का उद्देश्य निहित है, वहीं वाचा तोड़ने वालों अथवा आदेश भंग कर अधर्म करने वालों अथवा नियम-विरुद्ध जीवन व्यतीत करने वालों को दंडित करने का उद्देश्य भी निहित है। ईश्वर (यहोवा) कर्मफल विभिन्न प्रकार से देता है। अच्छे कर्मफल वह भौतिक वस्तुओं जैसे-उत्तम उपज, नया दाख, मधु एवं विभिन्न खाद्य पदार्थों की प्राप्ति के रूप में, आशीष के रूप में, राज्य के प्राप्ति के रूप में भलाई, करुणा आदि के रूप में, अपनी आज्ञा का पालन करने वालों को देता है।[110] तथा अनुचित, बुरे कर्मफल वह विभिन्न प्रकार के कष्ट, रोग, भौतिक व प्राकृतिक आपदा के कारण रूप में देता है।[111] ओल्ड टेस्टामेंट में उल्लेख है कि यहोवा ने प्राणियों के अनुचित चाल-चलन के कारण जल प्रलय के द्वारा समस्त सृष्टि नष्ट कर दी और नोहा ही शेष रहा।[112] उसने उनका अनर्थ का काम उन्हें ही वापस लौटाया और वह उन्हें उन्हीं की बुराई के द्वारा नष्ट करेगा।[113] दुष्ट अपने ही कर्मों में फंसेगा, अपने ही पाप के

---

106. Job., 34/21-23

107. Ps. 9/4-8, 16; 58/11' 76/9; 89/14; Exo., 23/1-3, 6-9

108. Job. 35/6-8

109. Is., 1/15-17

110. Gen., 27/28-29. Exo., 15/26; Lev., 5/29, 8/2-10

111. Exo. 8/20-24, 10/12, 20/6; Lev., 8/12-20

112. Gen. 6/6-22. 7/6-24

113. Ps. 94/23

बंधन में बंधा रहेगा।[114] इस प्रकार चोर, शराबी, हत्यारे व्यक्ति को समाज की उपेक्षा, आंतरिक बोझ, दुःख एवं आनंदविहीनता आदि सब ईश्वर द्वारा स्थापित नियमों से ही प्राप्त होते हैं।

ईश्वर यहोवा ने नैतिक व्यवहार एवं आदान-प्रदान के कुछ नियम भी बनाये हैं जिनसे मनुष्य का नैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन शासित एवं व्यवस्थित होता है। इनके उल्लंघन करने पर कई दंड विधान किये गये हैं। जैसे-'जो अपने माता-पिता को मारे या पीटे उसे मार डाला जाए।'[115] 'जो किसी व्यक्ति को चुराए, चाहे उसे ले जाकर बेच डाले उसे मार डाला जाए।'[116] 'यदि कोई गर्भिणी स्त्री को मारे और चोट पहुंचाए कि उसका गर्भ गिर जाए, परंतु कुछ हानि न हो, तो अपराधी को उतना दंड दिया जाए जितना कि उस स्त्री का पति पंच की सहमति से निश्चित करें।[117] 'यदि कोई गड्ढा खोदे, किंतु उसे ढके नहीं और उसमें किसी का पशु (बैल या गधा) गिर पड़े तो गड्ढा खोदने वाला उस पशु का दाम उसके स्वामी को दे दे।[118] किसी परदेसी, विधवा या अनाथ बालक को दुःख न देना, यदि तुम ऐसों को किसी प्रकार का दुःख दो और वह मेरी दुहाई करे तो मैं उसे अवश्य सुनूंगा और क्रोध के कारण तुम्हें तलवार से मरवाऊंगा।[119] स्वयं के कारण यदि अन्य व्यक्तियों की हानि होती है तो वह व्यक्ति निश्चित रूप से हानि को निर्धारित मूल्य के अनुसार भर दें।[120] इस प्रकार लेन देन, वस्तुओं के उपयोग, खान-पान, शिक्षा, विवाह, धर्म, समाज, राज्य, दास-दासी, पशु आदि से संबंधित नियमों को प्रायः उनके तत्कालीन समाज में प्रचलित दंडों के साथ माना गया है। इन नियमों के अंतर्गत मिलने वाले दंड कृत कर्मों के फल ही माने गये हैं और ईश्वर ने मूसा को दर्शन देकर इन्हें प्रस्तावित किया था ऐसी धारणा है। ओल्ड टेस्टामेंट में कहा गया है कि ईश्वर ने कहा-ये वचन लिख ले, क्योंकि इन्हीं वचनों के अनुसार मैं तेरे और इस्रायल के साथ वाचा (संबंध) बांधता हूं।[121]

अतः यह स्पष्ट होता है कि यहूदी धर्म दंड को न्याय के ईश्वरीय स्वरूप का द्योतक मानता है। इसके अनुसार व्यक्ति को नष्ट करने के उद्देश्य से नहीं अपितु उसे बुराई से, पाप मुक्त करने के

---

114. Prov., 5/22; 23/31; 24/14, 31/3
115. Exo. 21/15
116. Ibid, 21/16
117. Ibid, 21/22
118. Ibid, 21/33
119. Ibid, 22/21-24
120. Ibid, 21/29-32; 22/1-15
121. Exo., 34/27

लिये और नैतिक व्यवस्था के लिये दिया जाता है। ईश्वर के सभी मार्ग न्याय के मार्ग हैं।[122] व्यक्ति के कार्य ही उसे अच्छा और बुरा बना देते हैं।[123] वह औचित्यपूर्ण और सीधे न्यायवाला है।[124] कर्मों के कारण उसे ही घायल करने वाला और पट्टी बांधने वाला कहा गया है।[125] परमेश्वर को व्यक्ति बुरे कार्यों के कारण उसकी ताड़ना करने वाला, किंतु मृत्यु के वश न करने वाला माना गया है।[126] इस प्रकार उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने, उसके विरुद्ध बातें करने के कारण कष्ट भोगने की बात कही गयी है और इसके प्रतिफल के रूप में यहोवा द्वारा उन्हें विभिन्न संकट में डालने, आग में जलाने व शापित करने का विवेचन उपलब्ध होता है।[127] इस प्रकार यहूदी धर्म में व्यक्ति के अच्छे बुरे कर्म की फल प्राप्ति को मूल पाप की धारणा से लेकर निर्णय दिवस की स्थिति तक माना गया है।

यहूदी धर्म ने नरक की धारणा गेहना (Gehenna) अथवा श्योल (Shoel) से उत्पन्न मानी है। पूर्व विवेचित आत्मा के प्रत्यय के अंतर्गत इसे स्पष्ट कर चुके हैं। अतः यहां यह स्पष्ट करना ही प्रासंगिक होगा कि कुकर्मी अथवा पाप करने वाले मनुष्य को अधोलोक में धकेल दिया जाता है। अतः कहा गया है कि दुष्ट अधोलोक में लौट जाएंगे।[126] यह अधोलोक गड्ढे के रूप में यातनादायक माना गया है। अतः यहोवा से प्रार्थनाएं की गई है कि वह आत्माओं को उसमें से निकाले और आनंद का रास्ता दिखाये।[129] उसके प्राणों को अधोलोक में न छोड़े।[130] साथ ही यह भी कहा गया कि 'हे यहोवा, तूने मेरा प्राण अधोलोक में से निकाला है।'[131] तू उसको छड़ी से मारकर उसका प्राण अधोलोक से बचायेगा।'[132] इन सबसे यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि यहूदी धर्म में नरक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि

---

122. Deut. 32/4
123. Job., 34/10-11
124. Ps., 119/37
125. Job. 5/17
126. Ps., 118/18
127. Gen., 42/21; I Sam., 15/24; II Sam., 12/13, 24/10; Ezra, 9/6; Job, 7/21; Ps., 51/1-4; Deut,, 27/15-26; Josh., 7/15
128. Ps., 9/17
129. Ibid, 16/8-10; 49/14, 15
130. Is. 14/8-9
131. Ps., 30/3
132. Prov., 23/14, Ps., 49/15

अधोलोक को अन्य सब कष्टों से अधिक कष्टपूर्ण एवं सबसे बड़ी यातना मानते हुए उससे निरंतर बचाये रहने की विनती की गयी है। अधोलोक की यातना नरक की यातना व स्थिति के अनुरूप ही मानी गयी ज्ञात होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि यहूदी धर्म में स्वीकृत अधोलोक की मान्यता एक प्रकार से कष्टपूर्ण नरक की ही मान्यता है।

ईश्वर का पवित्र धाम स्वर्ग है, वहां से अपनी प्रजा की ओर दृष्टि कर इस्रायल को आशीष देने एवं दूध तथा मधु की धाराओं के प्रदान करने की बात कही गयी है।[133] एलिय्याह के स्वर्गारोहण की बात को माना गया है।[134] स्वर्ग के संबंध में अन्यत्र कहा है कि 'यहोवा ने ही स्वर्ग को बनाया है। उसके चारों ओर वैभव व ऐश्वर्य है, उसके स्थान में सामर्थ्य एवं आनंद है।[135] वह पृथ्वी का न्याय करने को आनेवाला है।[136] वह तो सबसे ऊंचे स्वर्ग में भी नहीं समाता है।[137] किंतु फिर भी पृथ्वी के भवन में मनुष्यों के संग वास करने की व प्रार्थना सुनने की प्रार्थना यहोवा से की गयी है।[138] स्वर्ग से दयालु परमेश्वर को सुनने वाला एवं चिताकर (याद कराकर) अपनी व्यवस्था के अधीन करने वाला[139] कहा गया है। उसका (यहोवा का) दर्शन मैं अपनी आंख से अपने लिये करूंगा, मेरा हृदय अंदर ही अंदर चूर-चूर भी हो जाए तो भी मुझमें तो धर्म का मूल पाया जाता है।[140] उसके भवन के चिकने भोजन से तृप्त होंगे, उसकी करुणा स्वर्ग में है।[141] स्पष्ट होता है कि यहूदी धर्म स्वर्ग की धारणा को मानते हुए न्यायकर्त्ता ईश्वर यहोवा का सिंहासन उस सर्वोच्च स्थान पर मानता है। वह वहीं से मानव कर्मों पर दृष्टिपात करता रहता है व धर्मी को दर्शन देता है। ईश्वर दर्शन हेतु शुभ कर्म करना आवश्यक माना गया है। इससे स्पष्ट है कि यहूदी धर्म में स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य की धारणा को माना गया है।

पूर्व में शरीरेत्तर चेतना में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि यहूदी धर्म में प्रसव से जन्म लेने पर कर्म

---

133. Deut. 26/15; Ps. 33/13-18

134. II Kings, 2/1-11

135. IChr., 16/26-27

136. Ibid, 16/33

137. II Chr., 2/6, 6/18; Ps., 68/33, 17/15

138. Ibid, 6/19-24

139. Nehe., 9/28-29

140. Job., 19/27; Ps., 11/5-7

141. Ps., 36/5, 7, 8

को पाप का बंधन माना गया है।[142] ईश्वर सानिध्य द्वारा इस बंधन से मुक्त होना माना गया है।[143] अतः इस पर विशेष चर्चा न करते हुए यह कहना पर्याप्त होगा कि यहूदी धर्म तृष्णाओं/इच्छाओं को बंधन का कारण मानता है। इन इच्छाओं से मुक्त होने पर सभी प्रकार के कर्मफलन से स्वतंत्र होने को माना है। कहा है कि 'मेरे प्राण नाश होना चाहते हैं, मेरे दिन पूरे हो चुके (बुझ गये) हैं।[144] 'मेरे दिन तो बीत चुके और मनसाएं (इच्छाएं/तृष्णाएं) मिट गयी हैं और जो मेरे मन में था, वह नाश हुआ है।'[145] 'भला होता कि, मैं जानता कि वह (यहोवा) कहां मिल सकता है, तब मैं उसके विराजने के स्थान (स्वर्ग) तक जा सकता! मैं उसके सामने अपना मुकदमा पेश करता और बहुत से प्रमाण देता..... क्या वह अपना बड़ा बल दिखाकर मुझसे मुकदमा लड़ता? नहीं वह मुझ पर ध्यान देता।'[146] सज्जन व भले (धर्मी) उनसे विवाद कर सकते हैं और इस रीति से मैं अपने न्यायी (सुकृत कर्मों के फलों का) के हाथ से सदा के लिए छूट जाता।'[147]

यह स्पष्ट होता है कि सांसारिक जीवन (जन्म व मृत्यु) व्यतीत करना अंतिम लक्ष्य नहीं है वरन् ईश्वर की निकटता एवं जन्म ग्रहण न करना ही लक्ष्य है जिसके लिये वह लालसामुक्त होकर पुनः कर्मफल न भोगने की बात कहता है। उसके निकट आनंद का अनुभव[148] माना गया है। क्योंकि वह मुक्तिदाता है।[149] वह सभी पापों से जब साधक को मुक्त कर देता हैं तो वह सिद्ध हो जाता है।[150] अतः यहोवा परमेश्वर उद्धार करते हैं, मुक्त करते हैं।[151] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यहूदी धर्म में मुक्ति की धारणा पायी जाती है। यह विवेचन भी स्पष्ट करता है कि तृष्णाओं को नष्ट करने, यहोवा से विश्वासपूर्वक प्रार्थना करने एवं शुभ कर्म करने से ही उसकी उपलब्धि हो सकती है।

---

142. Job., 9/21-22; 10/1; 10/18-22
143. II Sam., 22/21-28, 29, 34
144. Job., 17/1; 16/22
145. Ibid, 17/11
146. Ibid, 23/3-6
147. Ibid, 23/7
148. Ps., 16/8, 9
149. Ibid, 18/46
150. Ibid, 19/3
151. Ibid, 19/14

कर्म संबंधी इस विवेचन से सारांशतः स्पष्ट होता है कि यहूदी धर्म में कर्म सिद्धांत के अंतर्गत कर्म कर्त्ता अथवा व्यक्ति से संबंधित हैं। इसके अनुसार कर्मानुसार ही व्यक्ति का चरित्र निर्मित होता है। कर्मानुसार ही तदनुरूप फलवंत होता है। आदम को ईश्वर रचना मानते हुए उसके मूल पाप की धारणा को अनादि की धारणा मानी जा सकती है। ईश्वर ने मानव के बुरे कर्म देखकर अपनी सृष्टि को नष्ट करने का विचार किया और चारों ओर जल प्रलय (बाढ़) हो गया। केवल नोहा ही शेष बचा जिसे वनस्पति आदि के बीज संगृहीत करने के लिये कहा जाता है। बाद में फिर सृष्टि विकसित (फलने-फूलने) होने लगती है, किंतु परवर्ती सृष्टि एवं विशेषतः मानव संतति ईश्वर के शाप से ग्रसित होकर विकसित होती है। अतः यह स्पष्ट होता है कि यह धर्म परवर्ती सृष्टि को जीव-कर्म सापेक्ष मानता है।

मानव के शापग्रस्त होने से पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण, लालसामय एंद्रियक जीवन, सत्य के प्रति अज्ञान आदि स्थितियां उत्पन्न होती हैं। इनके कारण (वासना, आसक्ति, तृष्णा, अहंकार) ही मानव का बंधनग्रस्त होना माना गया है। इस बंधनग्रस्त अवस्था में वह जो कोई भी कार्य करता है उसका कर्म फलन पाप-पुण्य या शुभ-अशुभ के रूप में होता है। इन्हीं के कारण वह अधोलोक जो विनाशकारी, जला देने वाला, यातनापूर्ण स्थान है और ईश्वर का आनंददायक स्वर्गिक सानिध्य प्राप्त करता हैं। ये धारणाएं नरक दुःखपूर्ण (अधोलोक) एवं स्वर्ग (सुखपूर्ण आनंददायक) की स्वीकृति को स्पष्ट करती है।

पुनरुत्थान के अनुसार कई वर्ष बाद सभी आत्माएं अपने कोमल शरीर को प्राप्त कर जीवित हो उठेंगी और उन्हें न्याय दिया जाएगा। इस संदर्भ में आत्मा की अमरता की सिद्धि स्पष्ट होती है। अधोलोक/नरक से आत्मा को निकालने का विचार और क्या तू मुझे फिर धूल में मिलाएगा आदि के द्वारा पुनर्जन्म की तरह ही जीवन व्यतीत करते हुए पुनः मृत्यु होने पर मिट्टी मे मिलने की भावना को स्पष्ट करता है। अतः इसे पुनर्जन्म के संकेत के रूप में माना जा सकता है। किंतु यह अनादि अनंत अवस्था नहीं है। अपितु भलाई की राह चलने पर व मुक्त होने पर पुनः जीवन नहीं होना माना गया है। यह स्थिति मोक्ष की स्थिति अथवा ईश्वर सानिध्य की परम स्थिति के रूप में मानी जा सकती है।

घ. जगत :

यहूदी धर्म में जगत की धार्मिक धारणा मिलती है। जगत् अथवा विश्वोत्पत्ति के दो प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं। प्रथम वर्णन के अनुसार स्वयं परमेश्वर के द्वारा इस जगत की सृष्टि की गयी है। इसके अंतर्गत यह भी कहा गया है कि परमेश्वर ने कहा और सृष्टि हुई। ओल्ड टेस्टामेंट में इस संबंध में कई उल्लेख उपलब्ध होते हैं। जैसे - 'आदि (प्रारंभ) में परमेश्वर ने आकाश और पृथ्वी की सृष्टि

15—259 Min. of H.R.D./2005

की।'[152] 'पृथ्वी बेडोल और सुनसान पड़ी थी, गहरे जल के ऊपर अंधेरा था, तथा परमेश्वर का आत्मा जल के ऊपर मंडराता था। तब परमेश्वर ने कहा कि उजाला हो : तो उजाला हो गया। परमेश्वर ने उजाले को देखा कि अच्छा है और उसने उजाले को अंधेरे से अलग किया। तब परमेश्वर ने उजाले को दिन और अंधेरे को रात कहा। सांझ हुई फिर भोर हुई इस प्रकार पहला दिन हो गया।'[153] इसी प्रकार परमेश्वर के कहने से दूसरे दिन अंतर कर जल से ऊपर, आकाश, तीसरे दिन-पृथ्वी (सूखी जमीन) पर उनकी अपनी-अपनी जाति की एक एक हरी घास, बीजवाले छोटे पेड़, फलदार वृक्ष उगे, चौथै दिन-सूर्य, चंद्रमा, तारागण, पांचवे दिन-जल के जीव, उड़ने वाले जीव (पक्षी), घरेलू पशु, रेंगनेवाले जंतु, वनपशु आदि उत्पन्न करने के पश्चात छठे दिन मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुरूप उत्पन्न किया, नर व नारी करके उसने मनुष्यों की सृष्टि की और आशीष देकर कहा कि-पृथ्वी में भर जाओ, उसे अपने वश में कर लो (पृथ्वी पर फैलकर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित करलो) सभी जीव-जंतुओं पर अधिकार रखो; सबके लिये खाने की वस्तुओं का निर्धारण कर परमेश्वर ने अपनी सृष्टि को देखा, बहुत ही अच्छा है कहकर सराहा और सातवें दिन अपना सारा सृष्टिकार्य समाप्त कर विश्राम किया।[154]

द्वितीय वर्णन के अनुसार-परमेश्वर ने स्वयं आदम-मनुष्य को अपने स्वरूप में भूमि की मिट्टी से रचा और उसमें जीवन का श्वांस फूंका, अदन देश में एक उद्यान लगाकर उसमें उसे रख दिया। परमेश्वर ने उसे ज्ञानवृक्ष (जो अच्छे बुरे का ज्ञान कराता है) का फल न खाने एवं उद्यान के अन्य सब वृक्ष के फल खाने का निर्देश दिया तथा उसके अकेलेपन को दूर करने के लिये उसकी सहायक के रूप में उस आदम-मनुष्य की पसली से स्त्री बना दिया।[155] इन दोनों से ही बाद की सृष्टि होना माना गया है।

उपर्युक्त दो प्रकार के वर्णन से परमेश्वर के सृष्टि कार्य की भिन्न-भिन्न विधि स्पष्ट होती है। प्रथम वर्णन के प्रकरण मे परमेश्वर द्वारा अपने शब्द की शक्ति मात्र से अर्थात् कहने मात्र से सब कुछ स्पष्ट होता है और अंत में मनुष्य को उत्पन्न करता है। मक्काबियों के ग्रंथ में आकाश, पृथ्वी और सब कुछ की रचना शून्य से मानी गयी है।[156] यद्यपि यह ग्रंथ बहुत बाद की रचना प्रतीत होती है क्योंकि इसकी मूल भाषा इब्रानी न होकर यूनानी है। अतः इस पर यूनानी चिंतन में स्वीकृत शून्य के प्रत्यय का प्रभाव

---

152. Gen., 1/1

153. Ibid, 1/2-5

154. Ibid, 1/6-31, 2/1-3

155. Ibid, 2/4-23

156. ।। मक्काबियों का ग्रन्थ, 7/28, उद्धृत-फाइस, योहन, ईसाई दर्शनः इतिहास और सिद्धांत, पृ. 12

पड़ा हो ऐसा संभव है तथापि यह तो स्पष्ट होता ही है कि मौलिक सृष्टि, सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर एवं समझ के पूर्वाभाव से पहले नहीं थी। इस संदर्भ में लिखा भी है कि यहोवा ने मुझे (बुद्धि, समझ) काम करने के आरंभ में, वरन् अपने प्राचीनकाल के कर्मों से भी पहले उत्पन्न किया, मै सदा से वरन् आदि से पृथ्वी की सृष्टि के पहले से ही ठहरायी गयी हूं।[157] स्पष्ट है कि यहोवा द्वारा प्रदत्त बुद्धि[158] सागर, जल स्रोत, पृथ्वी, धूल, आकाश आदि से पहले उत्पन्न हुई और उसके बाद सृष्टि हुई। यह विचार भी परमेश्वर व समझ के पूर्वाभव को ही स्पष्ट करता है और एक प्रकार से शून्य से अन्य वस्तुओ को उत्पन्न करने के भाव को भी। अतः कहा जा सकता है कि परमेश्वर ने शून्य से यह सृष्टि कार्य किया। यह मंतव्य यहूदी धर्म में स्पष्टतः दृष्टिगत होता है।

द्वितीय सृष्टि वर्णन के अंतर्गत जगत की रचना का केंद्र बिंदु मनुष्य को माना गया है, जिसे आकाश, पृथ्वी, जल, सूर्य, चंद्र एवं अन्य जीव जंतुओं को उत्पन्न करने के बाद आदम (मनुष्य) को मिट्टी से स्वयं ने रचा। यह अवधारणा भी अंत में मनुष्य की उत्पत्ति को मानती है तथा विश्व में मनुष्य ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राणी है तथा उसकी सुविधा के लिये ही सब कुछ बनाया है। यह समस्त प्रकरण ईश्वर को कर्त्ता के रूप में प्रतिष्ठित करता है तथा ईश्वर द्वारा सृष्टिकर्तृत्व के अंतर्गत विचारकों द्वारा वर्णित कुंभकार द्वार घट की रचना के दृष्टांत भाव को स्पष्ट करता है।

परमेश्वर द्वारा जगत की मौलिक सृष्टि के अंतर्गत ये दो वर्णन यहूदी धर्म में पाये जाते है। इनको क्रमशः आध्यात्मिक और भौतिक प्रक्रिया से उत्पन्न धारणा भी कहा जा सकता है। लेकिन दोनों ही धारणाएं विश्वमंडल की उत्पत्ति में सभी उत्पत्ति के पश्चात् ही आदम मनुष्य एवं स्त्री-हव्वा की उत्पत्ति को मानती है। अतः कहा जा सकता है कि यहूदी धर्म में सृष्टि के मौलिक स्वरूप की उत्पत्ति में मनुष्य सर्वोपरि है तथा वह अच्छे बुरे या शुभाशुभ के भाव से परे है। कर्मफलन, संघर्ष व तृष्णा का उसमें अभाव है। संपूर्ण सृष्टि ईश्वर की आज्ञा से निर्देशित है।

यहूदी धर्म में जगत संबंधी उपर्युक्त मौलिक अवधारणा के अतिरिक्त व्यावहारिक जगत की (व्यवहार्य जगत) अवधारणा भी स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। इसका प्रत्यय धूर्त्त सर्प के उकसाने पर एवं ज्ञान प्राप्त कर परमेश्वर तुल्य होने के लिये परमेश्वर द्वारा वर्जित किये गये ज्ञानवृक्ष का फल स्त्री-हव्वा एवं पति आदम के द्वारा खाने तथा ईश्वराज्ञा का उल्लंघन कर शुभाशुभ का ज्ञान प्राप्त कर लेने के आधार पर माना गया है। इसे संक्षेप में आदिपाप (मूल पाप) की अवधारणा भी कहा गया है। इसे पूर्व

---

157. Prov., 8/22-23

158. Ibid, 2/6, 8/24-31

में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः पुनरावृत्ति न करते हुए यह कह देना पर्याप्त होगा कि इस आदिपाप के वर्णन[159] के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार पाप से अशुभ उत्पन्न हुआ। इस आदि पाप के परिणामस्वरूप ही मनुष्य शरीर रूप में मृत्यं हुआ और परमेश्वर द्वारा शापित हुआ।[160] यह शाप ही उसके जीवन में दुःख, पीड़ा, लालसा, जन्म, मृत्यु, भय, नैतिक-अनैतिक कर्म, अभिमान, बैर आदि का कारण है। आदि सृष्टि की सुव्यवस्था का उल्लंघन कर मानव द्वारा व्यावहारिक रूप में ईश्वर सानिध्य से संबंध विच्छेद कर पतित, मरणशील, असत्य, पाया जीवन व्यतीत करना एवं पुनः ईश्वर सानिध्य के लिये धर्ममय, नैतिक जीवन व्यतीत करने की ओर अग्रसर होना तथा हृदय की शुद्धता, पापों से मुक्ति व दया के लिये परमेश्वर से प्रार्थना करते हुए जीवन व्यतीत करना ही[161] व्यावहारिक संसार चक्र माना गया है। मानव द्वारा ईश्वरीय विधान के आधार पर जीवन व्यतीत करने से परमेश्वर करुणा करता है।[162] वही मनुष्य का उद्धारकर्त्ता है, मुक्तिदाता है, शांतिदाता है।[163] मनुष्य जैसे कर्म करता है वैसे ही फल वह देता है।

इस प्रकार व्यावहारिक संसार चक्र (जन्म व मृत्यु) में शुभाशुभ के कर्मफलन की धारणा भी समावेशित है। मौलिक-आदि सृष्टि में इन विचारों का अभाव है। आदि सृष्टि परमेश्वर की पवित्र सृष्टि है तथा आदि पाप के बाद की सृष्टि ईश्वराज्ञा के उल्लंघन से होने वाले प्रसवों से निर्मित है, अतः अपवित्र है।[164] इस प्रसवोत्पन्न सृष्टि/जीवन को बंधनग्रस्त जीवन कहा गया है जो अपवित्र अविश्वास, स्वार्थ एवं अहंभाव पूर्ण तृष्णा के कारण हुआ। यहूदी धर्म में आदि सृष्टि की और व्यावहारिक बंधनयुक्त, कर्मफलनमय जगत दोनों की धारणा पायी जाती है।

4. यहूदी धर्म में धर्म समभाव की अवधारणा :

i. चेतनात्मक आधार पर धर्म समभाव :

यहूदी धर्म में आदम और हव्वा को परमेश्वर द्वारा रचित मानते हुए उन्हें संपूर्ण मानव जाति का आदिपिता माना गया है।[165] ईश्वर ने इनकी रचना करने व श्वांस अथवा प्राण डालने के पश्चात् सृष्टि

---

159. Gen., 3
160. Ibid, 2/17, 3/11-23
161. Job., 5; 6; 7; 12/2-25, 19/21-27; 21/22-26
162. Exo., 19; 20; 21; Deue., 5-30
163. Is., 9/5, 43/11
164. Gen., 3/20. 4/1-24, 5, 6
165. Ibid, 3/20, 1/27

की रचना करना बंद कर दिया।[166] परवर्ती संतानें एवं वंश इनसे से ही उत्पन्न माने गये हैं। यह धर्म सभी मनुष्यों की उत्पत्ति के वंशानुक्रम के अंतर्गत आदिपाप को मानता है, तथा ईश्वर के सार्वभौमिक शाप के कारण आदम और हव्वा से उत्पन्न एवं सभी भ्रूण से विकसित मनुष्य जन्म मरण का बंधनमय जीवन जीने वाले माने गये हैं। मूलपाप की सार्वभौमिकता को कई स्थानों पर स्वीकार किया गया है।[167] इस दृष्टि से वे सब मनुष्य जो जन्म ले चुके हैं और जो जन्म लेंगे वे सब समान रूप से बंधनग्रस्त माने गये हैं। व्यक्ति वैयक्तिक रूप में जो पापकर्म मन, वचन एव कर्म से करता है उनकी मूल पृष्ठभूमि अथवा आधारभूमि आदिपाप ही है जिसके कारण यह सब घटित होते हैं।

ओल्ड टेस्टामेंट में कथन है कि-'ईश्वर ने मनुष्य को अनश्वर बनाया है, उसने उसको अपना प्रतिरूप ही बनाया है'-मानव चेतना की सार्वभौमिक अमरता को मानते हुए मानव धारणा के एकात्मक स्वरूप को स्पष्ट करता है। यह किसी व्यक्ति विशेष की वैयक्तिक अमरता के संदर्भ में नहीं अपितु मानव की संपूर्ण जातिगत चेतना (मानव जाति) की अनश्वरता (आत्मा की अमरता) के संदर्भ में ही मान्य है। इसलिये सृष्टि के अंतर्गत सार्वभौमिक मुक्ति की धारणा भी इस धर्म में विकसित हुई है।

सभी मनुष्यों में चेतना के आधार पर समानता को मानते हुए कहा गया है कि 'जैसे जल में मुख की परछाई मुख से मिलती है वैसे ही एक मनुष्य का मन दूसरे मनुष्य से मिलता है।'[168] 'वह मृत्यु का सदा के लिये नाश करेगा, और प्रभु यहोवा सभी मुख पर से आंसू पौंछ डालेगा और अपनी प्रजा की नामधराई सारी पृथ्वी पर से दूर करेगा।'[169] उस समय यह कहा जाएगा, देखो हमारा परमेश्वर यही है, हम उसकी बाट जोहते आये हैं। हम उससे उद्धार पाकर मगन व आनंदित होंगे।[170] उसके न्याय के काम पृथ्वी पर प्रकट होते हैं; तब जगत के रहने वाले धर्म सीखते हैं।[171] इन सभी कथनों से स्पष्ट है कि यहूदी धर्म पृथ्वी/जगत के सभी मनुष्यों को परमेश्वर की प्रजा मानता है एवं उनके कल्याण/उद्धार को स्वीकृति देता है क्योंकि सभी मनुष्यों की मनस्चेतना एक दूसरे के समान परस्पर मिलती है। उनमें मूलतः कोई अंतर नहीं है।

इन उल्लेखों के अतिरिक्त चेतनात्मक एकता को मानते हुए मुक्तिकर्त्ता के रूप में परमेश्वर और

---

166. Ibid, 2/2

167. 1 Kings., 8/46; Ps., 143/2; Prov., 20/9; Eccle., 7/20

168. Prov., 27/19

169. Is 25/8

170. Ibid, 25/9

171. Ibid, 26/9

उसके दास (यहोवा दास या प्रभु दास) का वर्णन मिलता है। इस संबंध में कहा गया है कि सभी के प्राण तो मेरे हैं, जैसा पिता का प्राण, वैसा ही पुत्र का भी प्राण है, दोनों मेरे ही है।[172] पृथ्वी के लोगों को सांस और उस पर चलने वालों को आत्मा देने वाला यहोवा है। अतः वह अपने दास को धर्म के कारण बुला लेता है और उसे प्रजा और अन्य जातियों के लिये वाचा और प्रकाश हेतु नियुक्त करता है ताकि वह (प्रभुदास) अंधों की आंखे खोले, बंदियों को बंदीगृह से निकाले और जो अंधेरे में बैठे हैं उनको काल-कोठरी से निकाले।[173] अपने ज्ञान के द्वारा मेरा धर्मी-दास बहुतेरों को धर्मी ठहराएगा और उनके अधर्म के कार्यों का बोझ स्वयं उठा लेगा।[174] उसी पर परमेश्वर ने हम सभी के पापों का भार डाल दिया है वह लोगों को उनके पापों से मुक्त करेगा। वह मृत्यु तक दूसरों के बदले सहन करता है, उसने (प्रभु दास) प्रायश्चित के रूप में अपना जीवन अर्पित कर दिया है।[175]

इन सभी कथनों से यह स्पष्ट होता है कि यहूदी धर्म चेतनागत एकता को मानते हुए सभी प्राणियों को पिता-पुत्र के संबंध के रूप में उन्हें सर्वोच्च चेतना परमेश्वर (परम आत्मा) से संबद्ध मानता है। उनकी (मनुष्यों) मुक्ति या कल्याण के लिये यहोवा-दास को परमेश्वर द्वारा चयनित प्रतिनिधि रूप मानता है, जो मनुष्य को उसके पापों द्वारा उत्पन्न दुःख से मुक्त कराता है। यह अवधारणा समस्त मनुष्य-समाज की चेतनात्मक एकता के सार्वभौमिक प्रतिनिधिक स्वरूप को भी स्पष्ट करती है। सभी के लिये न्याय, धर्म, दया, नैतिकता आदि को मान्यता देता है।[176] जो भी अधर्मी परमेश्वर के प्रति अविश्वासी, उल्लंघनकारी है उन्हें यहोवा दंड देता है।[177] कई स्थलों पर 'हे मनुष्य की संतान', 'सब प्राणियों'[178] आदि के द्वारा भी चेतनात्मक एकता को मानना स्पष्ट होता है।

ii अनासक्त (राग-द्वेष से परे निष्पक्ष) भाव के आधार पर धर्म समभाव :

यहूदी धर्म में ईश्वर को उच्च न्यायदाता के रूप में माना गया है जो न्याय के अंतर्गत मनुष्य

---

172. Ezek., 18/4
173. Is., 42/1, 6-7; 1, 48/5-6
174. Ibid, 53/11
175. Ibid, 53/10
176. Jer., 22/3, 15-16; Ezek., 18/5-9
177. Ibid, 36/25-31; Ezek., 7/21-25
178. Ezek., 19/27, 21/14, 28

के कर्मानुसार न्याय करता है। वह (परमेश्वर यहोवा) अशुभ कर्मों का अशुभ फल-दंड तथा शुभ कर्मों का शुभ फल-पुरस्कार देता है।[179] ईश्वर की पूर्णता[180] का कई स्थानों पर उल्लेख करते हुए उसे निष्पक्ष न्यायकर्त्ता माना गया है। यहूदी धर्म यद्यपि एक जाति विशेष (यहूदी), प्रदेश ओर उसके उत्थान-पतन से संबंधित है। जैसे 'यह जो मैं करता हूं सो क्या इब्राहिम से छिपा है? इब्राहिम से तो निश्चय ही एक बड़ी और सामर्थ्यवान जाति उपजेगी और पृथ्वी की सारी जातियां उसके द्वारा आशीष पायेंगी।'[181] 'यहोवा ने मूसा से कहा, एक और विपत्ति में फेरोहा और मिस्र देश पर डालता हूं, उसके पश्चात् वह तुम लोगों को जाने देगा।'[182] मै तुम्हारा परमेश्वर यहोवा हूं जो तुम्हे दासत्व के घर से निकाल लाया हूं। तुम मुझे छोड़कर किसी अन्य को न पूजना, क्योंकि मैं तेरा परमेश्वर यहोवा ईर्ष्यालु (जलन रखने वाला) ईश्वर हूं।[183] वस्तुतः यहूदी धर्म में राग-द्वेष से परे, अनासक्त भाव का कोई प्रत्यक्षरूप में स्पष्ट स्वतंत्र चिंतन उपलब्ध नहीं होता है। परंतु इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि धर्म राग-द्वेष को मान्यता देता है।

यहूदी धर्म में यद्यपि ईश्वर को 'ईर्ष्यालू ईश्वर' माना गया है किंतु उसकी यह 'ईर्ष्या' मानवीय ईर्ष्या की तरह नहीं है। वह स्पष्टतः धर्मी एवं अधर्मी के भेद पर आधारित ईर्ष्या हैं क्योंकि यहोवा अधर्मियों के प्रति दंड प्रधान एवं धर्मियों के प्रति रक्षा प्रधान है। यही उसका न्याय माना गया है जो निष्पक्षता पूर्वक, राग-द्वेष से परे रहकर संपन्न करता है। जैसे-'वह मनुष्य की करनी का फल देता है और प्रत्येक को अपनी-अपनी चाल (व्यवहार) का फल भुगतवाता है।'[184] मनुष्य का सारा चाल-चलन अपनी दृष्टि में पवित्र ठहरता है, परंतु यहोवा तोलता है। क्या वह प्रत्येक मनुष्य को उसके कार्यों का फल नहीं देगा?[185]

अन्य स्थल पर अय्यूब द्वारा कहा गया है कि 'तू मेरे लिये कठिन दुःखों की आज्ञा देता है क्योंकि मैंने बुरा किया। तू मेरी जवानी के अधर्म के फल मुझे भुगताता है।'[186] अन्यत्र कहा गया है, कि जो न्याय करता है वह खाता, पीता और सुख से रहता है।[187] सभी प्राण मेरे प्राण हैं, इसलिये जो प्राणी पाप करे वही मर जाएगा, धर्मी को धर्म का फल और और दुष्ट को दुष्टता का फल मिलेगा।[188] यहोवा की विधियों

---

179. deut., 7/9, 12, 13; Ps., 58/11; Job., 4/8; Prov., 11/18
180. Ezra., 15; Ps., 119/37
181. Gen., 18/17
182. Exo., 11/1
183. Ibid, 20/2-5
184. Job., 34/11
185. Prov. I, 16/2; 24/12
186. Job., 13/26
187. Jer., 22/15-16
188. Ezek., 18/4, 20-21

पर चलने वाले, न्याय, नैतिकता, धर्म, दया आदि का सच्चाई से पालन करने वाले को धर्मी एवं इनके विपरीत कर्म करने वाले को अधर्मी कहा गया है।[189] वह प्रत्येक धर्मी को निष्पक्षतापूर्वक सराहता है, उसकी करुणा से सहायता करता है और अधर्मी को दंड देता है। विपत्ति और कल्याण दोनों परमप्रधान की आज्ञा से, निष्पक्षतापूर्वक होते हैं।[190] वह अपने मन से न तो दबाता है और न दुःख देता है।[191] वह तोलकर उचित न्याय करता है।[192] न्याय की अवधारणा सत्य[193] से आबद्ध मानी गयी है। अन्य स्थल पर कहा है कि पाप और पुण्य से ईश्वर का क्या बिगड़ता है ये तो तुझ जैसे मनुष्य के लिये हैं।[194]

इन कथनों से स्पष्ट होता है कि यहूदी धर्म ईश्वर को निष्पक्ष एवं व्यक्ति के कर्मानुसार उचित न्याय करने वाला मानता है। वह सब मनुष्यों के प्रति राग-द्वेष से परे रहकर समभावपूर्वक न्याय देता है। किसी से भी प्रभावित नहीं होता है। पाप,पुण्य/शुभ-अशुभ आदि के निर्णय भी मूलतः मनुष्य के सामाजिक व नैतिक व्यवहार के लिये हैं। मनुष्य चूंकि निष्पक्षतापूर्वक अपना निर्णय नहीं कर सकता है, अतः ईश्वर को न्यायदाता के रूप में माना गया है। परंतु वह स्वयं न्याय करते समय एवं न्याय करने के पश्चात् उन निर्णयों से अप्रभावित रहता है। कारण यह कि पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक आदि विधि-विधान तो मनुष्य एवं उसके देहकर्म के लिये है। स्वयं ईश्वर इनसे अप्रभावित/अनासक्त रहता है।

परमेश्वर का ज्ञान होने पर प्रभु दास/प्रभु भक्त भी स्थिर प्रेम की ओर अग्रसर होते हैं।[195] अतः यहूदी धर्म के अनुसार ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करना और परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करना सर्वोपरि माना गया है।[196] कारण कि सत्य ज्ञान/परमेश्वर का ज्ञान होने पर मनुष्य भी राग-द्वेष से परे होकर निष्पक्षतापूर्वक ईश्वर ज्ञान व निर्देश के अनुकूल व्यवहार करता है। वह सबके प्रति समान भाव वाला व्यवहार करता है क्योंकि मनुष्य ईश्वर से कुछ ही कम है।[197]

---

189. Ibid, 18/10, 13, 18
190. The Lamen., 3/38-40
191. Ibid, 3/31-36, Gen., 18/25
192. 1 Sam., 2/3
193. Ps., 96/13, Gen., 18/25
194. Job., 35/6-8
195. Hos., 6/6
196. Ibid, 6/3; 14/9 Ps., 2/11-12
197. Ps., 8/5

अतः कहा जा सकता है कि यहूदी धर्म में अनासक्त राग-द्वेष से परे, निष्पक्षता के आधार पर समभाव को मान्यता दी गयी है।

iii अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव :

पूर्व विवेचन में हमने यहूदी धर्म में इब्रानी अथवा यहूदी जाति को श्रेष्ठ मानने का उल्लेख किया है। यहूदी धर्म के विधान तत्कालीन इब्रानी राष्ट्र या यहूदी राष्ट्र की उत्पत्ति से संबंध रखते हैं। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उसके आधार पर विकसित स्वभाव (धारणाएं) इस धर्म के विशिष्ट लक्षण हैं किंतु इससे इस धर्म को लौकिक संकट अथवा मात्र सांसारिक घटनाओं तक सीमित रहने वाला एक जाति विशेष का ही राष्ट्रवादी धर्म मानना उचित प्रतीत नहीं होता है। इस धर्म में राष्ट्रीयता से ओतप्रोत जाति विशेष के वैयक्तिक व सामाजिक पहलुओं के बावजूद भी धर्म के सार्वभौमिक, मानवतावादी स्वरूप का चिंतन पाया जाता है। यहूदी धर्म अन्य जातियों व धर्मों के प्रति सहिष्णुता व समभाव की विचारणा को मान्यता देता है। इस संदर्भ में कई कथन उपलब्ध होते हैं। जैसे :

'मैं तो सब प्राणियों का परमेश्वर यहोवा हूं, क्या मेरे लिये कोई भी काम कठिन है?'[198] वह (यहोवा) सब मनुष्यों को बदला देता है और सब पर करुणा करता है।[199] जाति-जाति व अन्य देशों के लोगों के न्याय व समन्वय के संबंध में कहा गया है कि अंत के दिनों में यहोवा के भवन का पर्वत सब पहाड़ों पर दृढ़ किया जाएगा और प्रत्येक जाति के लोग धारा की भांति उसकी ओर चलेंगे। आपस में मिलकर यहोवा परमेश्वर के भवन में जाने का मानस बनाएंगे। वह बहुत देशों के लोगों का न्याय करेगा, और दूर-दूर तक की सामर्थी जातियों के झगड़ों को मिटायेगा, तब एक जाति दूसरी जाति के विरुद्ध तलवार फिर न चलाएगी, और लोग आगे को युद्ध विद्या न सीखेंगे। परंतु वे अपनी-अपनी दाखलता और अंजीर के वृक्ष तले बैठा करेंगे, तथा उनको कोई नहीं डराएगा।[200] यह कथन स्पष्टतः अन्य जातियों व धर्मों के लोगों के प्रति समभावपूर्ण सह अस्तित्व की धारणा को अभिव्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त अन्य निम्न उल्लेख भी मिलते हैं।

सब राज्यों के लोग तो अपने-अपने देवता का नाम लेकर चलते हैं, परंतु हम लोग अपने परमेश्वर

---

198. Jer., 32/26-27, 51/15-16

199. Ibid, 32/17-18, 19

200. Mic., 4/1-4

यहोवा का नाम लेकर सदा सर्वदा चलते रहेंगे।[201] क्या हम सभी का एक ही पिता नहीं हैं? क्या एक ही परमेश्वर ने हमको उत्पन्न नहीं किया? हम क्यों एक दूसरे का विश्वासघात करके अपने पूर्वजों की वाचा को तोड़ देते हैं?[202] क्या उसने एक ही को नहीं बनाया, जबकि और आत्माएं उसके पास थी? और एक ही को क्यों बनाया? इसलिये कि वह परमेश्वर के योग्य संतान चाहता है। इसलिये तुम अपनी आत्मा के विषय में चौकस रहो, विश्वासघात मत करो, यही यहोवा का वचन है।[203] वह प्रभु दुःख भी दे, तो भी अपनी करुणा की बहुतायत के कारण वह दया भी करता है, क्योंकि वह मनुष्यों को अपने मन से न तो दबाता है और न दुःख देता है। पृथ्वी भर के बंधुओं को पांव तले दलित करना, किसी पुरुष के हक परम प्रधान के सामने मारना और किसी मनुष्य का मुकदमा बिगाड़ना, इन तीनों कामों को यहोवा देख नहीं (सहन नहीं कर) सकता।[204]

'विपत्ति और कल्याण क्यों दोनों परम-प्रधान की आज्ञा से नहीं होते? सो जीवित मनुष्य क्यों कुड़कुड़ाए? और पुरूष अपने पाप के दंड को बुरा क्यों माने? हम अपने चाल-चलन को ध्यान से परखें और यहोवा की ओर उन्मुख हों।'[205] वह पुकारने पर अभय देता है व बचाता है।[206] हम मिट नहीं गये हैं, हमारा अस्तित्व (मनुष्य जाति का) उसकी महाकरुणा का फल है, क्योंकि उसकी दया अमर है, प्रति भोर वह नई होती रहती है, तेरी (मनुष्य) सच्चाई महान है। जो यहोवा की बाट जोहते हैं और जो जीव उसके पास जाते हैं, उनके लिये यहोवा भला है।[207]

इन कथनों से यह स्पष्ट होता हैं कि यहूदी धर्म ईश्वर के आदेशों-यथा सत्यता नैतिकता सहिष्णुता और उसके प्रति निष्ठा रखने वालों को ही मूलतः धार्मिक मानता है, तथा मानव एकता में विश्वास रखते हुए ईश कृपा का पात्र केवल इब्रानी जाति को ही नहीं वरन् पृथ्वी के सभी मनुष्यों को मानता है। जो भी जीव उसके प्रति विश्वासी है, अच्छे आचरण वाले हैं उन्हें वह (ईश्वर) बचाता है। उसका अधिकार सार्वभौमिक है। वह केवल मात्र इब्रानी जाति के प्रति ही दयालु नहीं है वरन् उन सबके प्रति दयालु है जो सीधे व सच्चाई के मार्ग पर चलते हैं, चाहें वे किसी भी जाति व देश को मानने वाले क्यों

---

201. Ibid, 4/5
202. Mala., 2/10
203. Ibid, 3/15-16
204. The Lamen., 3/31-36
205. Ibid, 3/38-40
206. Ibid, 3/55-59
207. Ibid, 3/21-25

न हों। अन्य जातियों व परदेशियों के साथ सहिष्णुतापूर्वक रहने और अपने ही समान व्यवहार करने तथा इस्रायल के घराने के सम्मार्ग दिखाने के संदर्भ में भी उल्लेख मिलते हैं।

दिव्य पुरूष के द्वारा मनुष्य को ज्ञान प्रदान करने के दृष्टांत देते हुए स्पष्टतः कहा गया है कि 'उस ज्ञान' को (परमेश्वर के वचन व ज्ञान को) आत्मसात् कर इस्रायल के घराने के पास जाकर उनको मेरे वचन सुना। क्योंकि तू किसी अनोखी बोली और कठिन भाषा वाली जाति के पास नहीं भेजा जाता है परंतु इस्रायल ही के घराने के पास भेजा जाता है। अनोखी बोली और कठिन भाषावाली बहुत सी जातियों के पास जो तेरी बात समझ न सकें, तू नहीं भेजा जाता। निःसंदेह यदि मैं तुझे ऐसों के पास भेजता तो वे तेरी सुनते।'[208]

स्पष्ट है कि अन्य देश, जाति व भाषा वालों के प्रति विश्वास प्रकट करते हुए इस्रायल के घराने/लोगों को ही यहोवा के वचन सुनाने की बात कही गयी है, क्योंकि वह सारा घराना ढीठ, कठोर मन का एवं बलवई/उपद्रवी है।[209] अतः ज्ञानी मनुष्य को भले-बुरे, धर्म-अधर्म की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि 'हे मनुष्य की संतान जितने वचन मैं तुझसे कहूं वे सब हृदय में रख, कानों से सुन और और उन बंधुओं के पास जाकर, जो तेरे जाति भाई हैं, उनसे बातें करना और कहना कि प्रभु यहोवा यों कहता है, चाहे वे सुने या न सुनें।[210] उन्हें मेरी ओर से चिताना (मेरा स्मरण कराना) ताकि वे दुष्ट मार्ग छोड़ कर सचेत हों।[211] आगे कहा गया है कि यरूशलेम जिसे मैंने (यहोवा) अन्य जातियों व देशों के बीच ठहराया है, उसने मेरे नियमों को तुच्छ जानकर मेरी विधियों की अन्य जातियों देशों की अपेक्षा अधिक बुराई की, उपद्रव व अशांति (हुल्लड़) मचायी, मेरी विधियों व नियमों का पालन नहीं किया तथा न ही चारों ओर की अन्य जातियों के नियमानुसार किया इसलिये मैं प्रभु यहोवा-स्वयं तेरे विरूद्ध हूं। अन्य जातियों के शुभ कामों को देखते हुए मैं न्याय करूंगा और तेरे सब घिनौने (अनुचित) कामों पर ऐसा फल दूंगा जैसा कि अब तक नहीं दिया है।[212] यह देश अन्याय, हत्या और उपद्रव से भरा है। मैं सारे के सारे देश पर महाविपत्ति डालूंगा।[213] इसलिये कि वे अशांति व उपद्रव फैलाकर मुझ यहोवा से लोगों को दूर रखते हैं, विश्वासघात करते हैं।[214] यह कष्ट और विपत्ति विशेषतः यहोवा के मूल धर्म के विरुद्ध मनुष्य में भेद करने, असहिष्णुता, द्वेष व अनैतिकता का आचरण करने के कारण देना माना है।

---

208. Ezek., 3/4-6, 1, 2, 3
209. Ibid, 3/7
210. Ibid, 3/10-11, 7-8
211. Ibid, 3/17-19
212. Ibid, 5/5-9
213. Ibid, 7/21-25; 8/5-13
214. Ibid, 15/8

जो (चाहे वह इस्रायल हो) ईश्वर के नियमों का उल्लंघन करता है उसके लिये कहा गया है कि 'यदि ये नियम मेरे सामने से टल जाएं तब ही यह हो सकेगा कि इस्रायल का वंश मेरी दृष्टि में सदा के लिये एक जाति ठहरने की अपेक्षा मिट सकेगा।'[215] जो भी यहोवा की वाणी सुनकर उनका पालन करेंगे उन्हें वह धन-धान्य, दाख-मधु आदि से परिपूर्ण एवं तृप्त करेगा, उसकी प्रजा की आशा कभी न टूटेगी तथा वह उसके बाद सब प्राणियों मे अपना आत्मा उड़ेलेगा।[216] ये विचार भी स्पष्टतः जाति विशेष के धर्म एवं प्राणियों का नहीं अपितु पृथ्वी के उन सभी जातियों एव परदेशियों को समन्वित करने की एवं उनमें ईश्वर आत्मा को स्थित करने की धारणा के द्वारा परस्पर समभावी होने की अवधारणा को स्वीकृति प्रदान करते हैं। अन्यत्र देश को अपने गोत्रों के अनुसार बांटकर, परदेशियों के साथ संबंध स्थापित कर उन्हें अपनी दृष्टि में देशी इस्रायलियों की तरह ही मानने और वे जिस गोत्र के देश में रहते हों उन्हें वही भाग दे देने के संबंध में भी कई कथन उपलब्ध होते हैं।[217] मानवीय आधार पर दास-दासियों की स्वतंत्रता को महत्व देते हुए उन्हें अपने भाई के समान ही समझने का निर्देश देते हुए कहा गया है कि सब लोग अपने-अपने दास-दासी को स्वाधीन होकर जाने दें एवं कोई अपने भाई से सेवा न कराएं।[218] ईश्वर सबका न्याय चुकाता है और परदेशियों से प्रेम करता है। उन्हें भोजन वस्त्र देता है इसलिये तुम भी परदेशियों से प्रेम रखना।[219]

इन कथनों से यह स्पष्ट होता है कि यहूदी धर्म अन्य जातियों एवं परदेशियों में समभाव को अस्वीकार नहीं करता है। यद्यपि इस धर्म के अंतर्गत अन्य धर्मावलंबी अथवा अन्य धर्मों को मानने वाले जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। तथापि अन्य जातियों एवं परदेशियों शब्द में अथवा अन्य देवताओं, कठिन भाषा वाली बहुत सी जातियां आदि शब्दों के द्वारा अन्य मत या धर्म को मानने वाले लोग का अर्थ ग्रहण करना अनुचित नहीं होगा। इस शब्दों का प्रयोग स्पष्टतः प्रायः अन्य धर्मों के उन अनुयायियों के लिये किया गया प्रतीत होता है जो इब्रानी एवं यहूदी जाति के नहीं है अथवा उनके राष्ट्र की सीमा में जो देश नहीं आते हैं।

इस संदर्भ में कहा गया है कि 'एप्रैम' के पहाड़ी देश के अतिरिक्त, सिय्योन आदि के उद्धार के अतिरिक्त उत्तर देश से और पृथ्वी के कोने-कोने से लोगों को इकट्ठा करूंगा और उनके बीच अंधे, लंगड़े,

---

215. Jer., 31/36-37

216. Joel., 2/12, 21, 27, 28-29

217. Ezek., 47/13-14, 15, 21-23, 48/1-29 Deut., 18/6-8, 19/33-34; Num., 15/29

218. Jer., 34/8-10

219. Deut., 10/18-19

गर्भवती और जच्चा स्त्रियां भी आएंगी, मैं दुःखियों को किनारे-किनारे से ले आऊंगा।'[220] हे जाति-जाति के लोगों, यहोवा का वचन सुनो, और दूर-दूर के द्वीपों में भी इसका प्रचार करो, कहो कि जिसने इस्रायलियों को तितर-बितर किया था वही उन्हें इकट्ठे भी करेगा और उनकी ऐसी रक्षा करेगा जैसी चरवाहा अपने झुंड की करता है।[221]

इस प्रकार धर्मों का पालन करने वाले सब मनुष्यों के प्रति समभाव को अपनाते हुए कहा गया है कि 'तूने मिस्र देश मे चिह्न और चमत्कार किये हैं और आजतक इस्रायलियों में ही नहीं वरन् सब मनुष्यों के बीच वैसा करता आया है, इस प्रकार तूने अपना ऐसा नाम किया है जो आज दिन तक बना है।'[222] यहोवा द्वारा अन्यत्र कहा गया है कि तुम्हारे बीच देशी हो चाहे परदेशी हो, सबके लिये तुम्हारी एक ही व्यवस्था हो, जो कोई भी देसी या परदेसी प्राणी ढिठाई करे, भूल से कुछ करे वह यहोवा का अनादर करने वाला ठहरेगा और नष्ट किया जाएगा।[223]

जिस दास को मैं संभाले हूं, जिससे मेरा जी प्रसन्न है वह न तो चिल्लाएगा न ऊँचे शब्दों (अहंकार में) में बोलेगा, न सड़क पर अपनी वाणी सुनाएगा। वह न तो टिमटिमाती बत्ती को बुझाएगा और न ही सहृदयता तथा प्रतिबद्धता को छोड़ेगा। वह किसी के साथ अन्याय नहीं करेगा तथा सच्चाई से न्याय चुकाएगा। अन्य जातियों के लिये वह न्याय प्रकट करेगा और द्वीपों के लोग उसकी व्यवस्था की प्रतीक्षा करेंगे। मैंने उन पर अपना आत्मा रखा है।[224]

इन कथनों से स्पष्ट होता है कि यहूदी धर्म सब व्यक्तियों के प्रति चाहे व स्वधर्म को मानने वाले देसी हों या अन्य-धर्म को मानने वाले/परदेसी हों उन सबके प्रति समभाव को मानता है। जो व्यक्ति न्याय, ईमानदारी, सत्य, प्रेम आदि धर्म का आचरण करते हैं वे प्रभु कृपा के अधिकारी माने गये हैं, चाहे वे देसी हो या विदेशी हों। ईश्वर उनमें कोई भेद नहीं करता है। यहूदी धर्म झगड़ा बढ़ाने द्वंदात्मक स्थिति उत्पन्न होने से पूर्व ही उसे छोड़ देना उचित मानता है।[225] उसके अनुसार शांत, ज्ञानी पुरुष संभलकर बोलता है, झगड़े-रगड़े में प्रीति नहीं करता है।[226] स्पष्ट है कि वह प्रेम व सौहार्द के भावों का व्यवहार करते

---

220. Ibid, 31/8-9
221. Ibid, 31/10
222. Deut., 32/20
223., Num., 15/29-30
224. Is., 42/1-4
225. Prov., 17/14-15
226. Ibid, 15/4; 17/27

हुए सबके प्रति समभाव अपनाता है।

यहूदी धर्म में सहिष्णुता एवं समभाव से संबंधित विचारों की अवधारणा में विश्वास के साथ ज्ञान, बुद्धि, विवेक आदि को पर्याप्त महत्व दिया गया है। यह धर्मबोध व न्याय को मात्र विश्वास के आधार पर ही नहीं मानता है वरन् बुद्धि व समझ (विवेक) के आधार पर भी मानता है। इसलिये नीतिवचन में कई स्थलों पर कहा है कि 'भोलों को चतुराई और जवान को ज्ञान और विवेक मिले।'[227] 'बुद्धि और शिक्षा को मूढ़ लोग ही तुच्छ जानते हैं।'[228] 'हे मेरे पुत्र यदि तू मेरे वचन ग्रहण करे और मेरी आज्ञाओं को अपने हृदय में रख छोड़े, बुद्धि की बातें ध्यान से सुने और समझ की बात मन लगाकर सोचे, प्रवीणता और समझ के लिये अति यत्न से पुकारे, 'गुप्त धन के समान उसकी खोज में लगा रहे तो, परमेश्वर का ज्ञान तुझे प्राप्त होगा[229] 'क्योंकि बुद्धि यहोवा ही देता है, ज्ञान और समझ की बातें उसी के मुंह से निकलती हैं। वह सीधे लोगों के लिये सच्ची-खरी बुद्धि रख छोड़ता है। जो सच्चाई से चलते हैं उनके लिये वह ढाल (रक्षक) होता है। वह न्याय के पथ की देखभाल करता है और अपने भक्तों के मार्ग की रक्षा करता है। तब तू धर्म और न्याय और सीधाई को, निदान को और सब भली-भली चाल समझ सकेगा, क्योंकि बुद्धि तो तेरे हृदय में प्रवेश करेगी और ज्ञान तुझे मनभाऊ लगेगा, विवेक तुझे सुरक्षित रखेगा और समझ तेरी रक्षक होगी, ताकि तुझे बुराई के मार्ग व उलट-फेर की बातों से बचाये।'[230]

आगे कहा गया है कि 'बुद्धि को प्राप्त कर, समझ को भी प्राप्त कर, इनको भूल न जाना, न मेरी बातों को छोड़ना। बुद्धि को न छोड़, वह तेरी रक्षा करेगी, उससे प्रीति रख, वह तेरा पहरा देगी। बुद्धि श्रेष्ठ है इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर, जो कुछ तू प्राप्त करे उसे प्राप्त तो कर परंतु समझ/विवेक की प्राप्ति का यत्न घटने न पाये। उसकी बड़ाई कर, वह तुझे बढ़ाएगी, जब तू इससे लिपट जाए (अपना ले), तब वह तेरी महिमा करेगी, वह तेरे सिर पर शोभायमान भूषण बांधेगी।'[231] बुद्धिवान महिमा को पाएंगे[232], उनके मार्ग में अथवा चलने में कोई बाधा न होगी क्योंकि वे जीवन में शुभ-अशुभ का निर्णय कर सकेंगे, अज्ञानी एवं दुष्ट अपनी मूर्खता और दुष्ट कर्मों के कारण भटकते ही रहेंगे।[233]

---

227. Ibid, 1/4
228. Ibid, 1/7
229. Prov., 2/1-4, 5
230. Ibid, 2/6-12
231. Ibid, 4/5-9
232. Prov., 3/35
233. Ibid, 4/11-27, 5/1-23

ज्ञान प्राप्ति को महत्व देते हुए बुद्धि के द्वारा प्रतीक रूप में कहलाया है कि हे मनुष्यों मैं तुमको पुकारती हूं, मेरी बात सब आदमियों के लिये है, हे भोले लोगों चतुराई सीखो, अपने मन में समझ लो। सुनो! मैं तुमसे उत्तम बातें कहूंगी और मुझसे सच्ची सीधी बाते निकलेंगी, दुष्टता की बातों से मुझे घृणा है। मेरी सब बातें धर्म की होती हैं उनमें कोई टेढ़ी या उलट-फेर की बात नहीं निकलती है।[234] विवेक/समझ वाले व ज्ञान प्राप्त करने वाले के लिये वे सब सहज और अति सीधी हैं, अतः मेरी शिक्षा लो एवं चांदी और उत्तम कुंदन से बढ़कर ज्ञान को ग्रहण करो, क्योंकि बुद्धि मूंगे से भी अच्छी है और कोई भी वस्तु उसके तुल्य नहीं है।[235]

'मैं जो बुद्धि हूं, सो चतुराई में वास करती हूं, ज्ञान और विवेक प्राप्त करती हूं। यहोवा का भय मानना बुराई से बैर रखना है। घमंड, अहंकार और बुरी चाल से, मैं बैर रखती हूं। उत्तम युक्ति और खरी बुद्धि मेरी ही है, मैं तो समझ हूं, पराक्रम भी मेरा है। मेरे ही द्वारा राजा राज्य करते हैं, और अधिकारी धर्म से विचार करते हैं, पृथ्वी के सब न्यायी शासन करते हैं। जो मुझसे प्रेम रखते हैं उनसे मैं भी प्रेम रखती हूं और जो मुझको यत्न (एकाग्रता पूर्ण प्रयास) से सवेरे उठकर खोजते हैं, वे मुझे पाते हैं।[236] मेरा फल सबसे उत्तम है।[237]

पुनः आगे कहा है कि 'मैं धर्म की बाट में और न्याय की डगरों के बीच चलती हूं, जिससे मैं अपने प्रेमियों को परमार्थ का भागी करूं और उनके भंडारों को भर दूं। यहोवा ने मुझे काम करने के आरंभ में, वरन् अपने प्राचीनकाल के कामों से भी पहले उत्पन्न किया। मैं सदा से वरन् आदि ही से पृथ्वी की सृष्टि के पहले ही से ठहरायी गई हूं। जब सागर, पहाड़, पृथ्वी, मैदान धूल आदि कुछ भी न था तब से ही मैं उत्पन्न हुई।[236]

इस प्रकार स्पष्ट है कि यहूदी धर्म में बुद्धि व युक्ति को परमेश्वर द्वारा प्रदत्त-अनादि और अनंत शक्ति के रूप में मानते हुए उसे जीवन का स्रोत माना गया है।[239] उसके विषय में अनसुनी न कर उसको (बुद्धि को) सुनकर उसके अनुसार व्यवहार करने वाले मनुष्य को, पुत्र को धन्य कहा है।[240] बुद्धि के कई रूप मानते हुए निर्बुद्धि व भोले लोगों (विवेकहीन, अंधविश्वासी) का संग छोड़कर समझ के अर्थात्

---

234. Ibid, 8/1-8
235. Ibid, 8/9-11
236. Ibid, 8/12-17
237. Ibid, 8/18-19
238. Ibid 8/20-26
239. Ibid, 8/27-31
240. Ibid, 8/32-35

विवेक के मार्ग चलने का, मजाक करने वाले दुष्टजन को न डांटने का एवं सबके प्रति प्रेम रखने का निर्देश दिया है।[241]

यहूदी धर्म के अनुसार समझ वाले बुद्धिमान व विवेकी मनुष्य धर्मी, स्थिर, निरभिमानी व नम्र होते हैं। ज्ञान का सही बखान (वर्णन) करते हैं, कोमल व शांत उत्तर देते हैं, इससे जीवन वृक्ष पनपता (विकसित) है, मन आनंदित होता है, वे निरंतर ज्ञान की खोज करते रहते हैं।[242] धर्मी व्यक्ति सबके प्रति प्रेममय होकर धर्म, बुद्धि व सत्यतापूर्वक परस्पर मेल की युक्ति से आनंद की वृद्धि करते हैं।[243] उदार व सहिष्णु व्यवहार करते हैं।[244] अहंकार रहित होने के कारण सबके प्रति सम्मति (विवेकपूर्ण सहमति) का भाव रखते हैं, झगड़े नहीं करते हैं।[245] सुबुद्धि के कारण उनमें अनुग्रह[246] होता है, सच्चे साक्षी होते हैं एवं प्राण रक्षा करते हैं।[247] अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भली युक्ति के कारण यहूदी धर्म में करुणा व विवेकपूर्ण ज्ञान को महत्व देते हुए अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव को माना गया है।

इस विवेच्य बिन्दु के साररूप में यह कहा जा सकता है कि यहूदी धर्म में धर्म के विभिन्न प्रत्ययों को मानते हुए धर्म समभाव के सभी मान्य आधारों पर सर्व धर्मसमभाव को स्वीकार किया गया है। वह सब मनुष्यों को एक ही परमपिता की संतान मानते हुए चेतनात्मक आधार पर परस्पर भ्रातृत्वभाव को मान्यता देता है। राग-द्वेष से परे होकर जगत के सब मनुष्यों के प्रति बिना किसी भेदभाव के निष्पक्षता एवं विवेकपूर्वक सह-अस्तित्व को भी स्वीकृति प्रदान करता है। वह सभी ज्ञान प्राप्त मनुष्यों के प्रति सम्मति का भाव रखने पर बल देता है।

4.2 ईसाई धर्म :

यह धर्म भी नबीमूलक धर्म है। इसे 'ख्रीष्टीय' धर्म भी कहा जाता है। 'ख्रीष्ट' शब्द यूनानी है और इब्रानी 'मसीह' शब्द का अनुवाद है। 'मसीह' का अर्थ है वह जिसे अभिषेक द्वारा इब्रानी प्रथा के

---

241. Prov., 9/1-8; 24/1-8
242. Ibid, 15/1-4, 14; 18/15-16
243. Ibid, 12/20
244. Ibid, 19/6
245. Ibid, 13/10
246. Ibid, 13/15
247. Ibid, 14/25

अनुसार यहोवा के प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त कर 'अभिषिक्त किया जाता था।[248] इस प्रकार का अभिषेक उस समय राजा, महायाजक (मंदिर के पुजारी) आदि का किया जाता था। यद्यपि बाइबिल में 'मसीह' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। इसे दीर्घ विकास के परिणामस्वरूप उत्पन्न धार्मिक व ऐतिहासिक[249] प्रत्यय माना गया है। इस धर्म के प्रवर्त्तक जीसस (ईसा) हैं जो स्वयं एक यहूदी थे।[250] यह यहूदी धर्म के अनंतर यहूदी भविष्य वक्ताओं द्वारा की गयी भविष्यवाणी से संबंधित माने गये हैं। इनके विश्वासियों ने इन्हें इनके आश्चर्य कर्मों के आधार पर ईश्वर प्रतिक्षित पुत्र मसीह कहा है।[251] यहूदी नबी मूसा के क्रम में ही मसीह-प्रतिक्षा के फलस्वरूप जीसस का आगमन हुआ है।[252] अतः यह कहना उचित है कि ईसाई धर्म का विकास यहूदी धर्म से हुआ है। इस संदर्भ में कहा भी गया है कि 'उसकी परिपूर्णता से हम सब ने प्राप्त किया अर्थात् अनुग्रह पर अनुग्रह इसलिये कि व्यवस्था तो मूसा के द्वारा दी गयी, परंतु अनुग्रह और सच्चाई यीशु मसीह के द्वारा पहुंची। परमेश्वर को किसी ने कभी नहीं देखा, उसी ने इकलौते पुत्र को प्रकट किया।'[253]

1. ऐतिहासिक स्वरूप :

उपलब्ध साहित्य के आधार पर आदम की वंशावली के क्रम में इब्राहिम से दाऊद तक चौदह पीढ़ी और दाऊद को बंदी बनाकर बेबीलोन पहुंचाये जाने तक चौदह पीढ़ी और बेबीलोन पहुंचाये जाने के समय से लेकर मसीह तक चौदह पीढ़ी मानी गयी है।[254]

जीसस (ईसा मसीह) का जन्म फिलीस्तीन देश के (यहूदिया) के बैतलहम ग्राम में यूसुफ व माता मरियम के यहां भविष्यवाणी के आधार पर हुआ।[255] हेरोद राजा द्वारा जीसस को मरवा देने के भयपूर्ण

---

248. फाइस, योहन, ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धांत, पृ. 25; मसीह, याकूब, तुलनात्मक धर्म दर्शन, पृ. 161
249. फाइस, योहन, ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धांत, पृ. 26
250. Bible, New Testament, Matt., 2/2
251. Matt., 2/23, 3/2-17; 16/13-20
252. John., 1/17., Mark, 1/2
253. John., 1/16-18; Matt., 3/3
254. Matt./, 1/17
255. Ibid, 1/18-25, 2/1-5

16—259 Min. of H.R.D./2005

स्वप्न से निर्देशित हो यूसुफ उस बच्चे (जीसस) व उसकी माता को लेकर मिस्र देश को चले गये व हेरोदेस के मरने तक वहीं रहे। इसके पश्चात् पुनः स्वप्न में प्राप्त निर्देशानुसार यूसुफ उन्हें इस्रायल के देश ले गया। वहां से गलील देश के नासरत नगर में जाकर रहने के कारण उन्हे नासरी भी कहा गया है।[256]

बड़े होने पर जीसस ने यूहन्ना संत (Jon-Baptist) से बपतिस्मा लिया।[257] इब्लीश से उनकी परीक्षा होने तथा ईश कृपा होने के पश्चात् वे धर्म-प्रचार, उपदेश एवं सार्वजनिक सेवा करते रहे।[258] उनका चरित्र आदर्शरूप में प्रतिष्ठित हुआ है। वे दीन, असहाय एवं दूसरों के दुःख देखकर द्रवित हो जाते थे। उन्होंने मानव से प्रेम करना बतलाया। कर्त्तव्य के प्रति सचेत रहकर, मन को संयमित व वश में कर धर्मयुक्त जीवन यापन करने से स्वर्ग का राज्य पृथ्वी पर आने और उनकी (व्यक्तियों की) इच्छा पृथ्वी पर ही पूरी होने की बात कही।[259]

जीसस ने अपने जीवन काल में बारह शिष्य बनाये जिन्हें प्रेरित भी कहा जाता है। ये हैं-शमौन (पीटर), एंड्रयु, जेम्स, जॉन (यहून्ना), फिलिप, थॉमस, मैथ्यू, हल्फै पुत्र याकूब, थाद्दैस, शमौन कनानी और जूडास (यहूदा) इस्करियोती।[260] इनमें से जूडास ने जीसस को महायाजकों व पुरनियों (पुजारियों व पुराणपंथियों) के हाथों पकड़वा दिया।[261] अंत में उन्हें व्यंग में 'यहूदियों का राजा' कह कर कई कष्ट देते हुए यरूशलम में क्रूस पर चढ़ा दिया गया और उन्होंने प्राण छोड़ दिये।[262] ईसाई धर्मावलंबियों व विश्वासियों में सब्त/सेबॉथ के (विश्राम दिन) एक दिन बाद उनके पुनः जी उठने की धारणा एवं ग्यारह शिष्यों को सुसमाचार के प्रचार का निर्देश दिये जाने तथा उसके बाद स्वर्ग पर उठाकर परमेश्वर के दाहिनी ओर बैठने का वर्णन प्राप्त होता है।[263]

---

256. Matt., 2/13, 19-23; John, 18/5
257. Ibid, 3/13-15
258. Ibid, 4/1-25, 5/1-12, 9/35
259. Ibid, 6/1-4, 9-13, 4/17, 5/3-12
260. Ibid, 10/2-4
261. Ibid, 26/47-57
262. Matt., 27/27-50; Mark, 15/21-41
263. Ibid, 28/5-6, 16-20; Ibid, 16/9-11, 14-20

2. साहित्य :

ईसाई धर्म बाइबिल को अपना धर्मग्रंथ मानता है। इसके पुराने एवं नये दो खंड हैं। पुनरावृत्ति से बचते हुए यहां इतना कह देना पर्याप्त है कि ईसाई धर्म ओल्ड टेस्टामेंट व न्यू टेस्टामेंट दोनों को ही अपना धर्मग्रंथ मानता है। न्यूटेस्टामेंट उत्तरार्द्ध ग्रंथ है एवं इसमें 27 पुस्तकें हैं, जिनमें से चार सुसमाचार (Gospels)-अर्थात् जीसस के जीवन उपदेश का संकलन है। इनमें उनके जीवनकाल के अनुयायियों के विचारों और अनुभवों का वर्णन भी है। सुसमाचार पारंपरिक रूप में है एवं इनके लेखक संत मैथ्यू, संत मार्क, संत ल्यूक और संत जॉन (यूहन्ना) है।[264] इसके अतिरिक्त संत ल्यूक ने प्रेरित चरित की रचना तथा संत जॉन ने अन्य तीन पत्रों व प्रकाशना ग्रंथ (Revelation of John) में प्रतीकात्मक दर्शनों का विस्तृत उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त पॉल (पौलुस) के एवं अन्य आदि चेलों के भी कई पत्र भिन्न-भिन्न क्लीसियाओं (धर्ममंडलियों) के नाम दिये गये उपदेश के रूप में मिलते हैं।[265] इन सब ग्रंथों का समावेश बाइबिल के न्यू टेस्टामेंट में हुआ है। इन समस्त ग्रंथों की मूल भाषा यूनानी है एवं वर्तमान में धर्मशास्त्र के अंतर्गत इनके हिन्दी अनुवाद तथा अन्य कई भाषानुवाद उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म यहूदियों के ओल्ड टेस्टामेंट को भी अपना धर्म ग्रंथ मानता है। यहूदी धर्म न्यू टेस्टामेंट को अपना धर्म ग्रंथ नहीं मानता है।

यद्यपि ईसाई धर्म यहूदी धर्म से ही विकसित माना गया है। ईसाई दृष्टिकोण से बाइबिल का पूर्वार्द्ध-ओल्ड टेस्टामेंट उत्तरार्द्ध-न्यू टेस्टामेंट की भूमिका के जैसा है, तथा उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध का संपूरक है। तथापि ईसाई धर्म को यहूदी धर्म से पृथक धर्म मानने के कुछ निम्न कारण रहें हैं-

यहूदी धर्म में जिन अंधविश्वासों, रूढ़ियों व बुराइयों का विरोध किया गया था कालांतर में वे ही रूढ़ियाँ और बुराइयाँ उसमें उत्पन्न हो गयी हैं। कबीलाई विश्वासों, रीति-रिवाजों, बाह्यचारों, भ्रमों का प्रचलन उनमें पहले की तरह ही हो गया। जीसस ने इन बुराइयों को दूर करने हेतु सुधारात्मक दृष्टिकोण अपनाया। उनके द्वारा दीन-दुःखियों की सेवा करना, तिरस्कृत व्यक्तियों के प्रति स्नेह एवं सम्मान रखना, क्षमाभाव रखना सब्त/सेबॉथ के दिन काम न करने की परंपरा को भंग करना, यरूशलेम मंदिर के बाहर दंभी पुजारियों व बलि हेतु पशु-पक्षियों को बेचने वालों को प्रताड़ित करना, रूढ़ियों व अंधविश्वासों से लोगों को मुक्त करना तथा मनुष्य को ईश्वर से आबद्ध कर स्वर्गराज्य की स्थापना को विशेष महत्व दिया।[266]

---

264. फाइस, योहन, ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धांत, पृ. 31

265. वही, पृ. 31

266. Matt., 5/17-20, 6/10-15, 9/13, 21/12-14; सत्यभक्त, ईसाई धर्म, पृ. 7-8, 18, 23-24, 44; ईसाई बहाई समीक्षा, पृ. 4

नैतिक एवं प्रेम की भावनाओं को महत्व देते हुए ओल्ड टेस्टामेंट में सुधार करते हुए उन्होंने कहा कि-

'ओल्ड टेस्टामेंट में कहा गया है कि तुम्हें व्यभिचार नहीं करना चाहिये, किंतु मैं तुमसे कहता हूं कि जो किसी स्त्री पर कुदृष्टि डाले वह अपने मन में व्यभिचार कर चुका।'[267] 'यह कहा गया है कि अपने मित्रों से प्रेम करो और अपने शत्रुओं से घृणा; किंतु मैं कहता हूँ अपने शत्रुओं को भी प्रेम करो। जो तुम्हें फांसी चढ़ाये उसके लिये ईश्वर से प्रार्थना करो।'[268] ये विचार यहूदी धर्म की तुलना में अधिक परिष्कृत व उदार रूप में ईसा मसीह द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं।

अन्य अंतर यह है कि न्यू टेस्टामेंट में जीसस ने कई मिथकों एवं दृष्टांतों[269] की भाषा का प्रयोग किया है। ईसा को उनके शिष्य न केवल मसीह अपितु परमेश्वर के रूप में भी मानते हैं। कहा गया है कि 'जिन्हें आप लोगों ने क्रूस पर चढ़ाया, ईश्वर ने उन्हीं ईसा को प्रभु भी बना दिया है और मसीह भी।'[270] इस प्रकार ईसाई धर्म ग्रंथ में यहूदी धर्म से भिन्न कई विचार पाये जाते हैं। अतः बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेंट को ही यहूदी अपना धर्मग्रंथ मानते हैं। जबकि ईसाई ओल्ड एवं न्यू-दोनों ही टेस्टामेंट को अपना धर्मग्रंथ मानते हैं। पूर्व में हम ओल्ड टेस्टामेंट से संबंधित विवेचन यहूदी धर्म के अंतर्गत कर चुके हैं अतः अब ईसाई धर्म के अंतर्गत ओल्ड टेस्टामेंट के कथनों की एवं विचारों की पुनरावृत्ति से बचते हुए प्रायः न्यूटेस्टामेंट के आधार पर चर्चा करेंगे।

3. धार्मिक प्रत्यय :

क. परमसत्ता/परमतत्व :

ईसाई धर्म में परमसत्ता के रूप में ईश्वर को माना गया है। ओल्ड टेस्टामेंट में वर्णित ईश्वर द्वारा सृष्टिकर्तत्व का विचार ईसाई धर्म को मान्य है। न्यूटेस्टामेंट में ईश्वर के विषय में बहुत कम चर्चा की गयी है तथापि जीसस के माध्यम से हम जिस ईश्वर-धारणा से परिचित होते हैं उसके अनुसार वह एक सनातन राजा है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान नित्य, शाश्वत, अगोचर, परम ज्ञानवान व महिमावान है।[271] उसने स्वर्ग, पृथ्वी और समुद्र को तथा जो कुछ उनमें है, बनाया।[272]

---

267. Ibid, 5/27; उद्धृत-वही, पृ. 37

268. Ibid, 5/43, 44

269. Ibid, 1-2, 21/33, 22/1-2

270. Acts., 2/36

271. 1 Tim., 1/17, Mark, 12/29

272. Acts., 4/24

वह परम पवित्र, समन्वयकारी, क्षमाशील व स्वर्ग में रहने वाला माना गया है।[273] उसे पिता के रूप में माना गया है।[274] जीसस को उसके प्रतिनिधि पुत्र के रूप में मानते हुए परमेश्वर को उनमें ही स्थित माना गया है। अतः जीसस द्वारा कहा गया है कि 'जिसने मुझे देखा है उसने पिता को देखा है; तू क्यों कहता है कि पिता को हमें दिखा। क्या तू प्रतीति नहीं करता, कि मैं पिता में हूँ और पिता में मुझ में है? ये बाते जो मैं तुमसे कहता हूँ, अपनी ओर से नहीं कहता, परंतु पिता मुझमें रहकर अपने काम करता है। मेरी ही प्रतीति करो, कि मैं पिता में हूँ और पिता मुझ में है, नहीं तो कामों ही के कारण मेरी प्रतीति करो। मैं तुम से सच-सच कहता हूँ कि जो मुझ पर विश्वास रखता है, ये काम जो मैं करता हूँ वह भी करेगा वरन् इनसे भी बड़े काम करेगा, क्योंमि मैं पिता के पास जाता हूँ। और जो कुछ तुम मेरे नाम से मांगोगे, वही मै करूंगा कि पुत्र के द्वारा पिता की महिमा हो'[275] मूर्ति पूजा का विरोध करते हुए एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है।[272] एक ही परमेश्वर, एक ही प्रभु है और हम उसी के लिये हैं, हम उसी के द्वारा हैं।[277]

ईश्वर को न्यायपूर्ण दयालू, रक्षक मानते हुए दृष्टांत रूप में कहा गया है कि किसी नगर में एक न्याय करने वाला रहता था जो न ईश्वर से डरता था, न किसी अन्य मनुष्य की परवाह करता था। एक विधवा स्त्री बार-बार उससे अपना न्याय करने की बात कहती थी किंतु वह बहुत समय तक इसके लिये तैयार नहीं हुआ। अंततः विचार कर बार-बार की परेशानी से बचने के लिये, वह यह सोचकर कि मैं तो न्यायकर्त्ता हूँ वह तैयार हो गया। तो क्या परमेश्वर तुम्हें अपना न्याय नहीं देगा? मैं तुमसे कहता हूँ वह तुरंत उसकी दुहाई देने वालों का न्याय चुकाएगा।[278]

प्रस्तुत कथनों से यह स्पष्ट होता है कि जीसस यह बताना चाहते हैं कि ईश्वर को न मानने वाला, अन्य किसी से न डरने वाला भी न्याय करता है तो फिर स्वयं ईश्वर क्यों नहीं करेगा। चूंकि वह पूर्ण है और पूर्णता के रूप में उसे न केवल सृष्टा ही वरन् पूर्ण न्यायकर्त्ता के रूप में पुरस्कारदाता[279] एवं

---

273. Matt., 6/9, 14, 5/45

274. John., 14/1-3, 20/31

275. John., 3/16, 14/9-13, 17/1-8

276. 1 Cor., 8/1-4, Mark, 12/29

277. 1 Cor., 8/5-6

278. Luke, 18/2-8

279. Matt., 25/21; Rom., 2/7

दंडदाता[280] भी मानाा गया है। वह क्षमाशील[281] अथाह और अगम (अज्ञेय और अज्ञात)[282] भी माना गया है।

ईसाई धर्म में यद्यपि अवतार शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है तथापि ईश्वर का पुत्र रूप में जीसस में प्रकट होना स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। कहा गया है कि 'ईश्वर ने जगत से ऐसा प्रेम रखा कि उसने अपना इकलौता पुत्र (जीसस) दे दिया, ताकि जो कोई उस पर विश्वास करे, वह नाश न हो परंतु अनंत जीवन पाये। परमेश्वर ने अपने पुत्र को जगत में इसलिये नहीं भेजा कि जगत पर दंड की आज्ञा दे, परंतु इसलिये भेजा कि जगत उसके द्वारा उद्धार पाये।'[283] 'जो उस पर विश्वास करता है उस पर दंड की आज्ञा नहीं होती, परंतु जो उस पर विश्वास नहीं करता, वह दोषी ठहर चुका, इसलिये कि उसने परमेश्वर के इकलौते पुत्र के नाम पर विश्वास नहीं किया।'[284] आगे कहा गया है जो 'ऊपर से आता है वह सर्वोत्तम है, जो पृथ्वी से आता है वह पृथ्वी का है और पृथ्वी की बातें कहता है, जो स्वर्ग (परमेश्वर से) आता है वह सबसे ऊपर है' 'क्योंकि जिसे परमेश्वर ने भेजा है वह परमेश्वर की बातें कहता है क्योंकि वह आत्मा नाप-नाप कर नहीं देता। पिता पुत्र से (परमेश्वर पुत्र जीसस से) प्रेम रखता है और उसने सब वस्तुएँ उसके हाथ दे दी हैं। जो पुत्र पर विश्वास करता है अनंत जीवन उसका है।'[285] जो परमेश्वर की ओर से है केवल उसी ने पिता परमेश्वर को देखा है, अन्य किसी ने नहीं।[286]

इन कथनों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि ईसाई धर्म ईश्वर व जीसस को परस्पर संबद्ध मानता है एवं उनको न केवल परमेश्वर पुत्र ही वरन् परमेश्वर अथवा प्रभु के रूप में भी मानता है जो ईश्वर की ज्योति है और पाप नाशक ईश्वर का प्रतिनिधि स्वरूप भी है।[287] इस प्रकार की धारणा को अथवा परमेश्वर की ज्योति का पृथ्वी पर मानव रूप में जन्म लेना और चमत्कारिक कार्य करना[288] तथा जगत का उद्धार करना अवतारवाद की अवधारणा के अंतर्गत मानना अनुचित प्रतीत नहीं होता है। अतः कहा

280. Rom., 1/32, 2/9, 12/19; II Thess., 1/8
281. Luke, 23/34
282. Rom., 11/33-34
283. John., 3/17-18
284. Ibid, 3/31, 34-36
285. Ibid, 6/44, 47; 20/31
286. Ibid, 6/46
287. Matt., 3/2, 17, 10/40, 16/27; John, 3/17-21; Acts, 7/55-56, 59, 17/31, 22/6-10; I Tim., 2/4-5
288. Matt., 9/1-8

जा सकता है कि ईसाई धर्म में जीसस का पृथ्वी पर जन्म लेना एक प्रकार से पृथ्वी पर परमेश्वर की ज्योति का अवतरण ही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ईसाई धर्म में ईश्वर अथवा परमेश्वर को परमात्मा के रूप में मानते हुए सृष्टा, अज्ञेय, अगम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, निर्णायक, प्रेममय क्षमाशील उद्धारकर्त्ता माना गया है। उसे मूलतः अशरीरी माना गया है किंतु जीसस के रूप में व्यक्तित्वपूर्ण भी माना गया है जो अवतार सिद्धांत के अनुकूल है।

ख. शरीरेतर चेतना :

ईसाई धर्म में चेतना को आत्मा और आत्मा को क्रमशः परमेश्वर-आत्मा एवं मानव आत्मा (जीवात्मा) के रूप में माना गया है। आत्मा संबंधी धारणाओं का मूल आधार ओल्ड टेस्टामेंट ही है। यहूदी धर्म के अंतर्गत ओल्ड टेस्टामेंट में उल्लिखित आत्मा, उसकी अमरता, पुनर्जीवन अथवा पुनरुत्थान, बंधन, मुक्ति आदि से संबंधित धारणाओं की विवेचना हम कर चुके हैं। अतः पुनरावृत्ति से बचते हुए ईसाई धर्म के मान्य बाइबिल के न्यूटेस्टामेंट के आधार पर ही विशेषतः चर्चा करेंगे।

ईसाई धर्म शुद्ध आत्मा के रूप में ईश्वर की आत्मा को मानता है। बाइबिल में उसे एक अनादि, अनंत, अमर-अविनाशी, एवं सृष्टि से पूर्व माना गया है।[289] उसकी अमरता के विषय में कहा गया है कि 'वह परम धन्य, राजाओं का राजा और प्रभुओं का प्रभु है जो स्वयं ही एकमात्र अमरता रखता है।'[290] संत पॉल ने इस विषय में स्पष्टीकरण करते हुए यह माना है कि ईश्वर की अमरता मूल और शाश्वत है। अनादि और अनंत है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसकी (ईश्वर की) सृष्टि में अन्य कोई अमर नहीं है।

ईश्वर द्वारा आत्मा अथवा अन्य प्राणियों को-मानव आत्मा को रचित मानते हुए उसे भी अविनाशी माना गया है। इस संबंध में माना गया है कि मनुष्य ईश्वर के अविनाशी बीज से उत्पन्न है अतः उसका आत्मा अमर है। कहा गया है कि 'तुमने नाशवान नहीं, परंतु परमेश्वर के अविनाशी बीज से और उसके सदा स्थिर रहने वाले वचन के द्वारा जन्म पाया है।'[291] इसका अर्थ यह है कि जीवात्मा अथवा मानव आत्मा ईश्वर द्वारा सृष्ट होने के कारण अनादि नहीं वरन् सादि हैं क्योंकि सृष्टि से पूर्व उसका अभाव है और ईश्वर द्वारा शरीर से संबद्ध किया जाता है। अतः अन्य प्राणियों की आत्मा की अमरता मूल

---

289. Gen., 1/2

290. I Tim., 6/15, 16

291. I Pet., 1/23

नहीं है वरन् यह ईश्वर द्वारा प्रदत्त है।

आत्मा की अमरता के संबंध में अन्य कथन भी उपलब्ध होते हैं। जैसेः 'जो शरीर को घात करते हैं, पर आत्मा को घात नहीं कर सकते, उनसे मत डरना, पर उसी से डरो, जो आत्मा और शरीर दोनों का नरक में नाश कर सकता है।'[292] यह कथन भी स्पष्ट रूप में आत्मा के दो रूप मानते हुए ईश आत्मा को जीवात्मा से न केवल पृथक मानता है वरन् आत्मा की अमरता मानते हुए सज्जन और दुष्ट आत्माएं मृत्योपरांत रहेंगी-के भाव को भी स्पष्ट करता है। अन्यत्र भी मैथ्यू[293], ल्यूक[294], जॉन[295], कॉरन्थियंस[296] आदि के कथन इस अमरता भाव को स्पष्ट करते हैं।

ईसाई धर्म में भी अमरता की चर्चा के साथ ही पुनर्जीवन या पुनरुत्थान की अवधारणा मिलती है। जीसस बार-बार अपने शिष्यों को अपने विषय में बताते हैं कि मारे जाने पर वे तीसरे दिन मृतकों में जी उठेंगे।[297] यह पुनरुत्थान देह के साथ आत्मा का माना गया है। सुसमाचारों (Gospels = Good news) के अंत में इसका वर्णन मिलता है।[298] जीसस के शिष्यों ने जीसस को बोलते, चलते खाते देखा है।[299] फिर भी पुनर्जीवन के पश्चात् जीसस का शरीर स्थूल रूप में नहीं अपितु सूक्ष्म रूप में हड्डी, माँस रहित था, द्वार बंद होते हुए भी वे भीतर प्रवेश कर जाते थे।[300] पुनर्जीवन के अंतर्गत फिर से जी उठने के पश्चात् वे अपने विश्वासियों में जा खड़े हुए और कहा कि 'क्यों घबराते हो? और तुम्हारे मन में संदेह क्यों उठते हैं? मेरे हाथ-पाँव को देखो कि मैं वही हूँ, मुझे छूकर देखो, क्योंकि आत्मा के हड्डी मांस नहीं होता जैसा मुझ में देखते हो। यह कहकर उसने उन्हें अपने हाथ पाँव दिखाये।'[301] 'उसने उनसे पूछा, क्या यहाँ तुम्हारे पास कुछ भोजन है? उन्होंने उसे भुनी मछली का टुकड़ा दिया। उसने लेकर उनके

---

292. Matt., 10/28

293. Ibid, 11/21, 24, 12/14

294. Luke, 23/43

295. John., 11/25, 14/3

296. I Cor., 15/3-8; II Cor., 5/1, 3, 4; 5/10

297. Matt., 12/40; 26/60-61; Mark, 8/31, 9/31, 10/34; John, 2/19

298. Matt., 28; Mark 16; Luke, 24; John, 20-21

299. Luke., 24/39-42

300. John., 20/19

301. Luke., 24/38-40

सामने खाया'[302] इसके पश्चात् जीसस द्वारा कुछ उपदेश व आशीष देकर उनके स्वर्ग में उठा लेने का[303] उल्लेख मिलता है। उक्त विवेचन से न केवल पुनर्जीवन की धारणा ही वरन् आत्मा की अमरता एवं हड्डी मांस रहित सूक्ष्म शरीर को मानने की धारणा की पुष्टि भी होती है। शरीर व आत्मिक देह के अविनाशी दशा में जी उठने एवं उठाये जाने की स्पष्ट स्वीकृति है।[304]

पुनरुत्थान अथवा पुनर्जीवन की धारणा के अनुसार प्रत्येक मृतक अपने शरीर एवं आत्मा के साथ जी उठेगा और इसके बाद वह न्याय का विषय बनेगा। यह न्याय उसके समस्त कर्मों के विषय में होगा। किंतु प्रश्न है कि यह पुनरुत्थान केवल आत्मा का ही होगा या शरीर का भी होगा? जीसस के समय भी यह धारणा विवादास्पद थी और सदूकी संप्रदाय जो आत्मा, स्वर्गदूत, पुनरुत्थान आदि को नहीं मानता था, जीसस से पूछता था, तर्क करता था।[305] जबकि फरीसी संप्रदाय इन्हें (आत्मा, पुनरुत्थान, स्वर्गदूत) मानता था।[306] बाइबिल में इस धारणा के प्रचलन के संकेत मिलते हैं कि ईश्वर किसी व्यक्ति विशेष को नहीं वरन् सबको मृतकों में से जी उठाने में समर्थ हैं।[307] कहीं-कहीं यह कहा गया है कि यह कार्य ईश्वर-पुत्र जीसस द्वारा होगा।[308]

पुनरुत्थान न केवल आत्मा का अपितु, शरीर का भी होगा। इस संदर्भ में कई कथन उपलब्ध होते हैं। जैसे : 'क्योंकि जब मनुष्य के द्वारा मृत्यु आई, तो मनुष्य ही के द्वारा मरे हुओं का पुनरुत्थान भी आया। जैसे आदम में सब मरते हैं, वैसा ही मसीह में, सब जिलाये जाएंगे। परंतु प्रत्येक अपनी-अपनी बारी से, पहला फल मसीह, फिर मसीह के आने पर उसके लोग।'[309] देह पवित्रात्मा का मंदिर है जो तुम में बसा हुआ है और तुम्हें परमेश्वर की ओर से मिला है, तुम अपने आप नहीं हो। भोजन पेट के लिये और पेट भोजन के लिये है। अतः देह द्वारा व्यभिचार नहीं वरन् प्रभु की महिमा करो। परमेश्वर ने अपनी सामर्थ्य से प्रभु को जिलाया, और हमें भी जिलाएगा।[310]

---

302. Ibid, 24/41-43

303. Ibid, 24/44-51

304. I Cor., 15/44, 51-54

305. Matt., 22/23; Acts., 23/8

306. Acts., 23/8

307. Ps., 49/15, 73/24; Prov., 23/14; Is., 26/19; II Cor., 1/9; Heb., 11/19

308. John., 5/21, 25, 28, 29, 6/38, 40, 44, 54; I Thess. 4/16

309. I Cor., 15/21-23

310. Ibid., 6/12-20

इन कथनों में यह स्पष्ट होता है कि शरीर का पुनरुत्थान परिवर्तन के साथ होगा। यह परिवर्तन वैसा ही होगा जैसा बीज और पेड़ में हम पाते हैं। यह कालक्रम से शुभकर्मी और अशुभकर्मी दोनों आत्माओं का ही होगा।[311] इस प्रकार पुनरुत्थान के दिन सभी मृतक अपनी आत्मा तथा शरीर के साथ जीवित हो उठेंगे।

आत्मा की अमरता, पुनरुत्थान की चर्चा के पश्चात् ईसाई धर्म में पुनर्जन्म की चर्चा करना उचित प्रतीत होता है। यह तो पूर्व विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है कि ओल्ड टेस्टामेंट के आधार पर सैद्धांतिक दृष्टि से पुनर्जन्म को स्वीकृति नहीं दी गयी है। परंतु उसमें जिन कथनों के आधार पर अप्रत्यक्षतः पुनर्जन्म की धारणा के समावेशित होने की पुष्टि की गयी है वे ईसाई धर्म में भी स्वीकृत होती है। यद्यपि यहूदी धर्म की भाँति ईसाई धर्म में भी इसकी चर्चा प्राप्त नहीं होती है, किंतु इसके अन्य ग्रंथ न्यू टेस्टामेंट में भी कुछ प्रसंग ऐसे हैं जो पुनर्जन्म की ओर संकेत करते हैं अथवा उन्हें पुनर्जन्म के रूप में समझा जा सकता है। उनको प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है।

पुनर्जन्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण कथन जन्मान्ध व्यक्ति के संबंध में है। जीसस से उनके शिष्य जन्मान्ध व्यक्ति को देखकर पूछते हैं कि 'हे रब्बी, किसने पाप किया था कि यह अंधा जन्मा, इस मनुष्य ने, या उसके माता पिता ने।'[312] आगे उत्तर में जीसस ने कहा कि 'न इसने और न इसके माता-पिता ने, अपितु यह इसलिये हुआ कि परमेश्वर के काम उसमें प्रकट हो।' शिष्यों द्वारा यह 'पूछना कि किसने' पाप किया-'इस व्यक्ति ने' या 'इसके माता-पिता ने'-यह पूर्व अस्तित्व में किये गये पाप का आगामी जीवन अथवा अस्तित्व में कर्मफलन का संकेत है।[313] मूसा के अनुयायी व यहूदी उसे पाप के कारण अंधा मानते थे।[314] इन विचारों से यह अनुमान लगया जा सकता है कि तत्कालीन मनुष्य में भी यह जिज्ञासा थी कि जिनका कारण इस जन्म में नहीं ढूंढा जा सकता है, ऐसी कुछ घटनाओं की व्याख्या कैसे की जा सकती है?

इसके अतिरिक्त ईश्वर जो कि सबका सृष्टा, पवित्र, निष्पक्ष न्यायकर्त्ता है, कर्मों के आधार पर प्रतिफलन देता है[315] सभी मनुष्यों के आदि माता-पिता हव्वा और आदम है जिन्होंने आदि पाप किया था

---

311. John., 5/28, 29; Acts., 24/15; Rev. 2-13, 15

312. John., 9/2

313. Weathead, the Christian Agnostic, P. 238-239

314. John; 9/22, 24, 28

315. Matt., 12/29-36, 16/27

तो फिर उनकी संतानों में एक से गुण-दोष आने चाहिये थे। मनुष्यों में गुण-दोष, ज्ञान-अज्ञान, शुभ-अशुभ कर्म आदि मनोवृत्तियों की जो भिन्नता दिखायी देती है उनका कारण किसे स्वीकारना चाहिये? यदि ईश्वर इसका कारण है तो फिर यह भी मानना होगा कि ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य की पृथक-पृथक सृष्टि की है। जबकि बाइबिल की मान्यता के अनुसार ईश्वर ने मनुष्य रूप में केवल आदम की और आदम से स्त्री हव्वा की रचना की, उनमें प्राण फूंके। अतः स्पष्ट है कि ईश्वर ने पृथक-पृथक गुण-दोष अथवा मनोवृत्तियों वाले मनुष्यों की रचना नहीं की।'

अब सहज ही प्रश्न उठता है कि यदि 'इस मनुष्य' को जन्म से ही अंधत्व दिया है तो क्या यह बिना कारण संभव है? ईश्वर बिना कारण अथवा बिना किसी आधार के किसी को अंधा, अपाहिज, रोगी आदि बनाता है, यह मान लिया जाए या कहा जाए तो यह निष्पक्ष न्यायकर्त्ता के प्रति वदतोव्याघात होगा। दूसरा यह कि जीसस का शिष्यों को यह उत्तर देना कि 'न मनुष्य ने, न इसके माता-पिता ने पाप किया है अपितु यह इसलिये हुआ कि परमेश्वर का काम उसमें प्रकट हो।' यह उत्तर भी महत्वपूर्ण है क्योंकि ईश्वर का कार्य निष्पक्ष न्याय है। वह व्यक्ति को कर्मानुसार न्याय देता है। अतः जन्मान्धत्व के रूप में यह ईश्वर का न्याय-कार्य इस व्यक्ति में प्रकट हुआ है। इसलिये यह अनुमान करना अकारण नहीं माना जाएगा कि जन्मांधत्व के लिये पूर्व अस्तित्व रूप में कोई ऐसा कर्म-कारण रहा हो जिसके परिणामस्वरूप इस व्यक्ति को यह प्राप्त हुआ हो। तीसरी बात यह है कि 'इसने नहीं किया' और न इसके माता-पिता ने किया का अर्थ जन्मांधत्व के फलस्वरूप में फलीभूत होने के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः व्यक्ति कार्य के फल को (जन्मांधत्व) नहीं करता अथवा देता है वरन् कर्म ही करता है। फल तो ईश्वर देता है अथवा प्रकट करता है। यह फल वह है जो किसी कार्य को करने के उपरांत ही प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि न तो माता-पिता ने और न ही स्वयं व्यक्ति ने स्वयं को अंधा बनाया, वरन् ईश्वर का कार्य (निष्पक्ष न्याय) ही उसमें प्रकट हुआ है।

यह कथन विवेचन इस धारणा को प्रस्तावित करता है कि घटनाओं की स्पष्ट व्याख्या हेतु पूर्व कारणों को भी स्वीकार किया किया जा सकता है और जन्मांधत्व की घटना के लिये या अन्य इस प्रकार की (जन्म से अपाहिज, रोगग्रस्त आदि) घटनाओं के कारण रूप को जन्म से पूर्व मानना असंगत नहीं है। अतः पूर्व कर्म के फलन के रूप में प्रस्तुत किये गये कथन को स्वीकार करना अनुपयुक्त नहीं होगा।

स्वयं जीसस के संबध में कहे गये कुछ कथनों को भी पुनर्जन्म के संकेत के रूप में माना जा सकता है। जीसस अपने शिष्यों से पूछते हैं कि लोग मनुष्य के पुत्र को क्या कहते हैं? तो शिष्य उत्तर देते हैं कि कुछ तो आपको जॉन बपतिस्मा देने वाला, कुछ एलिय्याह (एलिजाह) कहते हैं और कुछ जर्मियाह या भविष्यवक्ताओं/पैग़ंबरों में से कोई एक कहते हैं[316], परंतु हम परमेश्वर का पुत्र मसीह कहते

---

316. Matt., 16/14; Mark, 6/15

हैं-यह उत्तर देने पर जीसस ने शमौन पतरस को धन्य कहा और उसे स्वर्ग का अधिकारी माना।[317] जॉन बेपटिस्ट जो उस समय बपतिस्मा देने वाले सबसे बड़े माने जाते थे[318]-के द्वारा अपने शिष्यों से पुछवाने पर कि जो आनेवाला (सुधारकर्त्ता/उद्धारकर्त्ता) था वह तू ही है या हम दूसरे की बाट देखे? तो जीसस (यीशु/ईसा) ने उत्तर दिया कि यूहन्ना तक सारे भविष्यवक्ता और व्यवस्था वाले भविष्यवाणी करते रहे, चाहो तो मानो, एलिय्याह, जो आनेवाला था, वह यही है। जिसके कान हों वह सुन लें (समझ लें), जो कुछ सुनते हो, देखते हो वह सब जाकर युहन्ना से कह दो।[319] इससे स्पष्ट है कि जीसस को लोगों ने भविष्यवाणी के आधार पर पुनः एलिय्याह और जर्मियाह, नबी आदि के रूप में स्वीकार किया है। स्वयं जीसस ने भी इसका खंडन न करते हुए स्वयं को मसीहा के रूप में कहा[320] तथा शिष्यों को चेतावनी दी कि जब तक यह मानव-पुत्र (जीसस) मृत्यु के तीन दिन बाद पुनः न जी उठे तब तक किसी को यह बात न कहना। आगे शिष्यों द्वारा पहले अनिवार्यतः एलिय्याह के आने की बात कहने पर जीसस कहते हैं कि एलिय्याह सचमुच पहले आकर सब सुधारेगा परंतु मैं तुमसे कहता हूँ कि 'एलिय्याह आ चुका, और उन्होंने (शास्त्रियों ने) उसे नहीं पहचाना, जैसा चाहा वैसा ही उसके साथ किया।'[321] इस कथन को उनके शिष्य जॉन बेपटिस्ट के आगमन के रूप में समझते हैं। न्यूटेस्टामेंट में उपलब्ध ऐसे कथनों को पुनर्जन्म के अर्थ में माना जा सकता है।

ईसाई धर्म के अनुसार परमेश्वर ने मानव को बनाया, अच्छे-बुरे का ज्ञान दिया तथा इच्छा स्वतंत्रता प्रदान की : और उसने बुराई अथवा पाप की ओर जाना स्वीकार किया।[322] मानव आदम द्वारा किये गये मूल पाप को बाइबिल में कई स्थलों पर स्वीकार किया गया है।[323] इससे ही उसकी वंशवृद्धि अर्थात् संतान के जन्म ग्रहण करने को माना गया है। इस दृष्टि से जिन व्यक्तियों ने जन्म लिया और जो लेंगे वे सब बंधनग्रस्त हैं क्योंकि वे व्यवस्था की प्रभुता (ईश्वर आज्ञा रूप व्यवस्था, आदिपाप करने पर) से बंधे हैं।[324] व्यवस्था के दिये जाने तक पाप जगत में तो था, परंतु व्यवस्था न होने से पाप नहीं माना

---

317. Ibid, 16/15-19

318. Ibid, 11/10-12

319. Ibid, 11/2-10, 13-15

320. Ibid, 16/20; 17/3-8

321. Matt., 17/9, 10-12; Mark., 9/11-13

322. Gen., 3/1, 6; Is, 48/8; I John 3/4; Rom., 1/18, 32

323. I Kings, 8/46; Eccle, 7/20; Rom., 3/19, 20, 23, 5/12; I John, 1/8

324. Rom., 7/1-6

जाता था।[325] एक आदम-मनुष्य द्वारा पाप जगत में आया तथा पाप द्वारा मृत्यु और मृत्यु द्वारा सब मनुष्यों का नाश हुआ क्योंकि यह पाप सब मनुष्यों में फैल गया, आदम से मूसा तक ऐसा माना गया है।[326] उसी के चलते व्यवस्था है और व्यवस्था के चलते लालच[327], अभिलाषाएं[328], लालसा/इच्छा[329] आदि हैं। व्यवस्था के कारण ईश्वर द्वारा जो आज्ञा दी गयी थी वह देह के जीवन के लिये मानी गयी है और आत्मा की मृत्यु (अज्ञान) का कारण मानी गयी है।[330] इस प्रकार देह जीवन में अंगों द्वारा कर्म करने को बंधन व मृत्यु का फल उत्पन्न करने वाला माना गया है।[331] उसके कारण ही दासत्व, बंधन और क्लेश (पीड़ा) को माना गया है।[332] अतः स्पष्टतः कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म में बंधन का कारण मानव द्वारा ईश्वराज्ञा का उल्लंघन, पाप कर्म, लालसा, व अभिलाषाओं (इच्छाएँ व तृष्णाएँ) को मानते हुए देह अथवा संतान रूप में जन्म ग्रहण करना माना गया है। अन्य शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य पाप के कारण आसक्तिवश ही बंधनग्रस्त हुआ। मृत्यु का विषय बना।

ईसाई धर्म में जहाँ एक ओर पाप और अधर्म से युक्त होकर शरीर अथवा देह कर्म करने को बंधन अथवा दासत्व माना गया है तो दूसरी ओर इन बंधनों से मुक्त होने की धारणा को भी स्वीकार किया गया है। जगत में व्यवस्था आज्ञा से मुक्त होकर आत्मा के अनुसार रहना मुक्ति माना गया है।[333] आत्मा पर मन लगाने को आध्यात्मिक मानते हुए[334] जीवन (आत्मिक) व शांति की प्राप्ति करना माना गया है।[335] इस धर्म के अनुसार 'शरीर पर मन लगाना तो परमेश्वर से बैर रखना है क्योंकि परमेश्वर व्यवस्था के अधीन नहीं है और न ही हो सकता है। जो शारीरिक दशा में है वे परमेश्वर को प्रसन्न नहीं कर सकते हैं।[336] शारीरिक दशा को व्यवस्था का परिणाम मानते हुए मनुष्य का मूल स्वरूप आत्मिक माना गया है

325. Ibid, 5/12-13
326. Ibid, 5/12-14
327. Ibid, 7/7
328. Ibid, 7/5
329. Ibid, 7/8, 18
330. Rom., 7/10
331. Ibid, 7/5, 8/13; 7/23
332. Ibid 7/2, 5; Acts, 20/22-23
333. Rom., 7/6
334. Ibid, 8/5-6
335. Ibid, 8/5-6
336. Ibid, 8/7-8

क्योंकि उसमें परमेश्वर का आत्मा है।[337] आगे कहा गया है कि देह पाप के कारण मरी हुई है, परंतु आत्मा धर्म के कारण जीवित है।[338] मानव को दासत्व की आत्मा नही मिली, कि भयभीत हो, परंतु मुक्ति (ईश्वर द्वारा स्वीकृत होने वाली) की (लेपालक) आत्मा मिली है, हम परमेश्वर की संतान और वारिस हैं।[339] अतः सृष्टि में मृत्यु विनाश के दासत्व से (बंधन से) मुक्त होकर स्वतंत्रता प्राप्ति (मुक्ति) को स्वीकार किया गया है।[340]

सारतः स्पष्ट होता है कि ईसाई धर्म में शरीरेत्तर चेतना के रूप में आत्मा/प्राण शक्ति को माना गया है। उसकी अविनाशी-अमरता को मानते हुए उसके पुनरुत्थान/पुनर्जीवन को भी मान्यता दी गई है। इसी क्रम में यह भी स्पष्ट किया गया है, कि यद्यपि सिद्धांततः यह धर्म पुनर्जन्म को मान्यता नहीं देता है, तथापि कुछ कथनों के विश्लेषण-विवेचन के आधार पर इसके संकेतों को स्वीकार करना अनुचित नहीं होगा। इन कथनों की तार्किक संगतता की दृष्टि से पुनर्जन्म को पुनर्जीवन की एक पूरक मान्यता के रूप में मान लेने पर भी किसी असंगति के उत्पन्न होने की संभावना प्रतीत नहीं होती है। इसमें पृथ्वी पर जन्म लेने का कारण पूर्ण अस्तित्व के रूप मे पाप कर्म को (आदम-हव्वा) माना गया है। यह जन्म पृथ्वी पर कष्ट भोगने के लिये मानते हुए धर्ममय जीवन व्यतीत करने पर मूल आत्मिक दशा की प्राप्ति से बंधन से मुक्ति होना भी मानता है।

ग. कर्मवाद :

ईसाई धर्म में भी मनुष्य द्वारा किये गये कर्म के प्रभाव को स्वीकार किया गया है। कर्म व्यवहार के अनुरूप ही वह फल भी प्राप्त करता है। जीसस द्वारा कहा गया है कि 'मैं तुम से सच कहता हूँ, जो कुछ तुम पृथ्वी पर बांधोगे, यह स्वर्ग मे बंधेगा और जो कुछ तुम पृथ्वी पर खोलोगे, वह स्वर्ग में खुलेगा।[341] छोटों के साथ जैसा व्यवहार करोगे वैसा ही परिणाम मिलेगा। अधर्मी को अनंत दंड या धर्मी को अनंत जीवन।[342] इन कथनों से स्पष्ट है कि व्यक्ति जो कुछ करता है उसके अनुरूप फल पाता है।

---

337. Ibid, 8/9
338. Ibid, 8/10
339. Rom., 8/15-17
340. Ibid, 8/21
341. Matt., 18/18
342. Ibid, 25/45-46; Gal., 6/7, 8

उसके समस्त कार्य उस पर प्रभाव छोड़ते हैं। इसलिये कहा गया है कि 'अच्छा अच्छे हृदय से अच्छे कर्म करता है और बुरा व्यक्ति गुप्त दुष्टता से बुरे कर्म करता है। जो कुछ हृदय में होता है वही वाणी में प्रस्फुटित होता है।[343] इससे यह स्पष्ट है कि अच्छा कर्म अच्छा व्यक्ति करता है औ बुरे कर्म बुरा व्यक्ति करता है। अन्य शब्दों में, बुरे कर्म से वह बुरा बनता है और अच्छे कर्म से अच्छा। इस संदर्भ में बाइबिल में एक स्थान पर वृक्ष और मनुष्य की तुलना की गयी है। कहा गया है कि 'हर एक वृक्ष अपने फल से पहचाना जाता है, क्योंकि लोग झाड़ियों से अंजीर नहीं तोड़ते और न बबूल से अंगूर। इसी तरह अच्छा एवं बुरा व्यक्ति उसके कर्मों से जाना जाता है।'[344] इन उद्धरणों को प्रस्तुत करने से हमारा तात्पर्य यह है कि ईसाई धर्म भी कर्म की धारणा को स्वीकार करते हुए कर्म से उत्पन्न प्रभाव को कर्त्ता पर आधारित मानता है जिसके कारण उस व्यक्ति को अच्छा या बुरा कहा जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कोई व्यक्ति अच्छा या बुरा क्यों है? शुभ-अशुभ का कारण क्या है? इन जिज्ञासाओं के उत्तर में ईसाई धर्म बाइबिल में वर्णित आदम के पतन या मूल पाप की धारणा को स्वीकृति प्रदान करता है। इसे कर्मबंधन की धारणा भी कहा जा सकता है।[345] यहूदी धर्म के अंतर्गत इस अवधारणा को स्पष्ट किया जा चुका है। मूल पाप के प्रारंभ की पुनरावृत्ति से बचते हुए यह कह देना पर्याप्त होगा कि ईसाई धर्म मूलपाप के आधार पर ही सार्वभौमिक पाप की मान्यता को मानता है। इस संदर्भ में कहा गया है कि 'जैसे एक मनुष्य के द्वारा पाप जगत में आया, और पाप के द्वारा मृत्यु आई और इस रीति से वह सब मनुष्यों में फैल गयी इसलिये कि सबने पाप किया।'[346] यह पाप ईश्वर आज्ञा अथवा व्यवस्था के दिये जाने के बाद ही गिना जाने लगा।[347]

ईसाई धर्म मानता है कि सबने पाप किया है एवं ईश्वर के सामने कोई धर्मी नहीं है। पाप की सार्वभौमिकता कई स्थलों पर स्वीकार की गयी है।[348] इस दृष्टि से जो व्यक्ति जन्म लने चुके हैं और जो लेंगे वे सभी पाप के कारण हैं। 'यदि हम कहें कि हममें कुछ भी पाप नहीं, तो अपने आपको धोखा देते हैं और हम सत्य नहीं।'[349] पाप के कारण ही व्यवस्था और व्यवस्था के कारण ही मृत्यु, शोक, भय,

---

343. Luke, 6/45

344. Ibid, 6/44; व्यास, एस. आर., पुनर्जन्म का सिद्धांत, पृ. 78

345. Gen., 3/6, 14-24

346. Rom., 5/12, 14

347. Rom., 5/13

348. Ps. 143/2; Rom., 3/11, 12, 19, 20

349. I John., 1/8, 10

लालच, अभिलाषाएँ, लालसाएँ आदि मानी गयी है। इनके आधार पर व्यक्ति द्वारा देहकर्म करना ही बंधन, क्लेश व मृत्यु के फलों को उत्पन्न करता है।[350] व्यवस्था का अर्थ आदम और हव्वा द्वारा वर्जित फल खाकर प्रारंभ में की गयी ईश्वर आज्ञा का उल्लंघन हैं जिसके परिणामस्वरूप ईश्वर ने उन्हें शापित कर पृथ्वी का जीवन व्यतीत करने हेतु अपने उद्यान से नीचे भेजा। ईश्वर के द्वारा इस शापित जीवन के लिये जो विधि-विधान दिये थे उनके अनुसार देहकर्म का जीवन व्यतीत करना ही व्यवस्था है। अतः कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म में बंधन का कारण मूल पाप से उत्पन्न तृष्णाओं व अभिलाषाओं को माना गया है। इनके वशीभूत होकर जन्म के पश्चात् मृत्युपर्यंत तक वह जो कर्म करता है वे सब बंधन योग्य माने गये हैं।

ईसाई धर्म में पाप (sin) और अशुभ अथवा बुरे कार्य में अंतर किया गया है। पाप को वह मूलपाप के रूप में मानता है। यह सार्वभौमिक रूप से समस्त मानव संतति पर लागू होता है। जबकि बुराई अथवा अशुभ कर्म एवं अच्छाई अथवा शुभ कर्म व्यक्ति के द्वारा स्वतंत्रापूर्वक अर्जित है। इसके लिये व्यक्ति को उत्तरदायी माना गया है।[351] आत्मा के विरोध में शरीर की लालसा के अनुसार कार्य करना दासत्व अथवा अधीनत्व है।[352] शरीर के व्यभिचार, बैर, झगड़ा, ईर्ष्या, क्रोध, विरोध, फूट आदि हैं जो व्यवस्था के अधीन हैं।[353] शारीरिक पापमय अभिलाषाएँ हमारे कर्मों के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं-यह मानते हुए लालच, आसक्ति व तृष्णाओं को ही कर्मबंधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

जन्म के पश्चात् यदि व्यक्ति जीसस के उपदेशों के आधार पर धर्मी जीवन (नैतिक जीवन) व्यतीत नहीं करता है और देहासक्त रहता है तो वह बंधनग्रस्त माना गया है। ऋण की पाई-पाई चुकाना, झूठी गवाही न देना, मानसिक रूप से भी व्यभिचार के लिये न सोचना, शत्रु को प्रेम करना, दोष न देना, क्रोध न करना, दान में गर्व न करना, लालच न करना आदि प्रमुख व्यवस्था व उपदेश हैं।[354] यदि व्यक्ति इन आदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत नहीं करता है तो वह कर्मबंधन में बंधता है। ये सभी बातें मूलरूप में संकेत देती हैं कि काम, क्रोध, लोभ अहंकार, असत्य आदि कर्मबंधन के कारण है। इनके आधार पर कर्म करने पर व्यक्ति को अंतिम दिन निर्णय दिन का सामना करना पड़ेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईसाई धर्म भी कर्मबंधन का कारण पाप आसक्ति व लालसाओं को मानता है।

---

350. Rom., 7/2, 5, 7/23, 8/13; II Cor., 7/11: Eph., 4/22, 19

351. Gal., 5/1, 13, 21: 6/5; Rom., 2/3

352. Ibid, 5/16, 17, 18

353. Ibid, 5/19, 20

354. Matt., 5; 7; 19/16-19; व्यास, एस. आर., पुनर्जन्म का सिद्धांत, पृ. 83

अब तक यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कर्म व बंधन की धारणा कर्मफलन की धारणा से संबंधित है। व्यक्ति जैसे कर्म करता है उसके अनुरूप ही फल प्राप्त करता हैं। कर्मफलन को यह धर्म 'न्यायदिन की धारणा'[355] के रूप में अभिव्यक्त करता है।

न्याय की धारणा में जहाँ शुभ, उचित एवं अनुकूल कर्म करने वाले को पुरस्कृत करने का उद्देश्य अंतर्निहित है वहीं आदेश भंग करने वाले, नियम विरुद्ध अशुभ कर्म कर जीवन व्यतीत करने वालों को दंडित करने का उद्देश्य भी निहित है। इसे कर्म का प्रतिफल भी कहा जा सकता है। यह निष्पक्ष प्रतिफल ईश्वर द्वारा अथवा जीसस द्वारा दिया जाना माना गया है। इस संदर्भ में कहा गया है कि-'वह पृथ्वी को न्याय देगा संसार को औचित्य से जाँचेगा और लोगों को उसके सत्य से।'[356] व्यक्ति के कर्मसंचयन में यह किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता है। उसका न्याय उसके कर्मानुसार ही होगा अर्थात् ईश्वर ज्ञान का ईश्वर है और कर्म उसके द्वारा तोले जाते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए जीसस द्वारा कहा गया है कि 'मैं अपने आप में कुछ नहीं कर सकता, जैसा सुनता हूँ वैसा न्याय करता हूँ, मेरा न्याय सच्चा है क्योंकि मैं अपनी इच्छा से नहीं, परंतु अपने भेजने वाले की इच्छा चाहता हूँ।'[357] निष्पक्ष न्याय के संदर्भ में कहा गया है कि मुंह देखकर नहीं, परंतु ठीक-ठीक न्याय चुकाना चाहिये।[385] उसने (परमेश्वर ने) एक दिन ठहराया है जिसमें वह धर्म से जगत का न्याय करेगा।[359] 'जो निकम्मी बातें मनुष्य कहेंगे, न्याय के दिन हर एक बात का लेखा देंगे, क्योंकि तू अपनी सारी बातों के कारण निर्दोष व दोषी ठहराया जाएगा।[360] उसका सच्चा न्याय प्रकट होगा तथा प्रत्येक को उसके कामों के अनुसार बदला देगा।[361] इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि ईसाई धर्म में ईश्वर को निष्पक्ष न्याय कर्त्ता के रूप में मानते हुए न्याय दिवस पर व्यक्ति के शुभ, अशुभ कर्मों के अनुसार फल देने व न्याय करने की धारणा को स्वीकार किया गया है।

ईसाई धर्म मानता है कि ईश्वर विभिन्न रूपों में अर्थात् दंड या पुरस्कार के रूप में कर्मफल देता है। यह मानता है कि सुकर्मी जो स्थिर रहकर व्यवस्था के अनुसार महिमा, आदर और अमरता की खोज

---

355. Matt., 11/22

356. Ps 96/13; Heb., 12/22, 23/29

357. John, 5/30

358. Ibid, 7/24

359. Acts., 17/31

360. Matt., 12/36-37

361. Rom., 2/5, 6; Matt., 16/27, 18/25; Luke, 6/37, 38

17—259 Min. of H.R.D./2005

में है उनका कल्याण होगा।[362] शुभ अथवा अच्छे कर्म करने वालों को स्वर्ग[363], अनंत जीवन[364], परमेश्वर का सानिध्य[365], अनंत आनंदमय जीवन के लिये पुनरुत्थान[366] आदि की प्राप्ति होना माना गया है। कुकर्म अथवा बुरे कर्म करने वालों को बंधन[367], विविध कष्ट जैसे : आग के कुंड में डाला जाना[368], अनंत दंड[369], रोग-विपत्ति[370], दंड के पुनरुत्थान के लिये जीवन[371] आदि प्राप्त होना माना गया है। इस प्रकार व्यवस्था के विरुद्ध, मिथ्याचारी, अधर्मी व्यक्ति पर क्रोध, कोप, क्लेश व संकट के आने की बात कही गयी है।[372] यही नहीं अपितु दैहिक अथवा भौतिक मृत्यु भी दंड का परिणाम मानी गयी हैं। इसमें आत्मा शरीर से अलग हो जाती है। इस संबंध में भी कई कथन उपलब्ध होते हैं।[373] इस प्रकार अवसादपूर्ण जीवन, कष्ट, उदासी, क्लेश, पीड़ा आदि सब ईश्वर द्वारा स्थापित नियमों से ही प्राप्त होते हैं। ईश्वर न्यायदिन पर ही नहीं वरन् प्रत्येक परिवर्तन और क्षण में अपने न्याय को लागू रखता है। चाहे व्यक्ति को इसका प्रत्यक्ष अनुभव न भी होता हो। इस प्रकार न्याय, दंड अथवा पुरस्कार रूप में दिये जाने वाले कर्मफल अंतिम न होकर सामयिक होते हैं। न्याय की धारणा में सद्गुणी व्यक्ति भी संसार में दंड और दुःख पाते हैं।[374] इस संबंध में ईसाई धर्म की मान्यता है कि मनुष्य को अंतिम निर्णय को ही ध्यान में रखना चाहिये। उस दिन सारा हिसाब कर दिया जाएगा। उसमें सभी प्रकार के प्रश्नों पर शंकाओं के उत्तर दिये जाएंगे।[375] इसके पश्चात् किसी भी प्रकार के न्याय के लिये कुछ भी शेष नहीं रहेगा।

---

362. Rom., 2/7, 10, 12, 13
363. Matt., 18/18, 5/10
364. Ibid, 19/18-19
365. Acts., 10/35; Matt., 5/9; II Cor., 13/11-14
366. John., 5/29, 11/25
367. Acts, 8/23
368. Matt., 13/49-50
369. Ibid, 25/45-46
370. John, 5/14
371. Ibid, 5/29
372. Rom., 2/8, 9, 12
373. Rom., 5/12-12 I Cor., 15/12, 23
374. Acts., 20/22-23
375. Matt., 25/31, 46; Heb., 9/27, 10/27; II Pet., 3/7; Rom., 2/5-11

जीसस को ईश्वर का प्रतिनिधित्व करने वाला मानते हुए यह भी कहा गया है कि 'यह निर्णय (न्याय) ईश्वर के यहां होगा जिसमें जीसस द्वारा मध्यस्थता की जाएगी।[376] यह न्याय सार्वजनिक होगा गुप्त नहीं होगा। इसमें ईश्वर के नियमानुसार यह देखा जाएगा कि कितने औचित्यपूर्ण ढंग से लोगों ने जीवन व्यतीत किया है तथा जीसस में विश्वास किया है। बाद में उसकी मात्रा का निर्णय किया जाएगा।[377] यह सब ईश्वर के विधान से ही होता है।

ईसाई धर्म में नैतिक व्यवहार के आदान-प्रदान के नियमों को विशेष महत्व दिया गया है। इनके पालन के आधार पर धर्मी और अधर्मी का अंतर माना गया है। इनका पालन व उल्लंघन करने पर दया, क्षमा, करुणा, दंड एवं शुभ-अशुभ आदि परिणामों का विधान माना गया है। कहा गया है कि 'धन्य हैं वे, जो मन के दीन हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है। धन्य हैं वे जो शोक करते हैं, क्योंकि वे शांति पाएंगे। धन्य हैं वे, जो नम्र हैं, क्योंकि वे पृथ्वी के अधिकारी होंगे। धन्य हैं वे, जो धर्म के भूखे और प्यासे हैं, क्योंकि वे तृप्त किये जाएंगे। धन्य हैं वे, जो दयावंत हैं, क्योंकि उन पर दया की जाएगी। धन्य हैं वे जिनके मन शुद्ध हैं, क्योंकि वे परमेश्वर को देखेंगे। धन्य हैं वे, जो मेल कराने वाले हैं, क्योंकि वे परमेश्वर के पुत्र कहलायेंगे। धन्य हैं वे जो, धर्म के कारण सताये जाते हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का हैं'[378] परमेश्वर को मानने वालों को सबको धन्य माना गया है और कहा गया है कि चाहे कोई अन्य व्यक्ति तुम्हें सताये या बुरा-भला कहे, विरोध करे तब भी तुम 'आनंदित और मगन होना क्योंकि तुम्हारे लिये स्वर्ग में बड़ा फल है।'[379] ऐसे भले लोगों को उनके अच्छे व्यवहार के कारण जगत की ज्योति अथवा दीपक माना गया है जो सबको प्रकाशित करता है।[380] सहनशीलता-बुरे का सामना न करना, बदला न लेना, एक गाल पर यदि कोई थप्पड़ मारे तो दूसरा भी सामने कर देना; अपने बैरियों व सताने वालों से प्रेम रखना, उनके लिये प्रार्थना करना; गुप्त रूप से दान करना आदि को श्रेष्ठ माना गया है एवं इनका उचित प्रतिफल-स्वर्ग आदि मिलेगा।[381] इनके विपरीत दिखावटी व्यवहार करने वालों को उसके अनुरूप प्रतिफल मिल चुका है (दुख, कष्ट के रूप में) अथवा मिलेगा।[382] इसी प्रकार शील, अपरिग्रह-धन बटोर

---

376. Matt., 25/32; II Tim., 4/1, 16/27
377. Luke, 12/47; I Cor., 9/6; Matt., 11/22, 24
378. Matt., 5/3-10
379. Ibid, 5/11-12
380. Ibid, 5/14-16; 43-44; 6/2, 3-4
381. Ibid, 5/38-42, 43
382. Ibid, 6/2, 5

कर न रखने वाले, धर्म-जिज्ञासा करने वाले, मन के पवित्र, विश्वासी, सेवाभावी, माता-पिता का आदर करने वाले, पड़ौसियों से अपने समान ही प्रेम रखने वाले व्यक्तियों को परमेश्वर का राज्य मिलेगा, वे स्वर्ग के अधिकारी होंगे और इनके विपरीत व्यवहार करने वाले दंड, कष्ट व क्रोध अथवा नरक के अधिकारी होंगे।[383] अन्यत्र भी इन्हें एवं चोरी, हत्या, झूठी गवाही, अहंकार, मिथ्याभाषण आदि न करना; तथा अन्य जातियों के प्रति प्रेम तथा सहिष्णुता का व्यवहार करने को शुभ परिणाम वाले अच्छे कर्म एवं विपरीत कर्मों का अशुभ अथवा दंडनीय परिणाम वाले बुरे कर्म माना गया है।[384]

न्याय दिन की घोषणा के पश्चात् 'भेड़ व बकरी' को (अर्थात् धर्मी और अधर्मी को) अलग-अलग कर दिया जाएगा।[385] घोषित निर्णय के अनुसार उन्हें स्वर्ग या नरक में भेज दिया जाएगा। वहाँ वे शाश्वत् काल तक आनंद अथवा दुःख की अवस्था में रहेंगे।[386] अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप नरक मिलेगा। उस अवस्था में ईश्वर सानिध्य का अभाव, अवसादपूर्ण जीवन, आत्मा व शरीर के कष्टदायक दुःख होंगे। रोना, दांत पीसना, उदासी, प्रकाशहीनता आदि बातें होंगी।[385] बाद में नरक को कई प्रतीकों के द्वारा भी स्पष्ट किया गया है जैसे : जलती हुई आग[388], कारावास[389], टारटरस[390], अशमनीय आग[391], अचल और कभी भी पार न की जा सकने वाली धारा[392] आदि, जो नरक की धारणा से ही जुड़े हुए हैं। अन्य स्थलों पर भी नरक एवं अधोलोक संबंधी उल्लेख मिलते हैं।[393]

नैतिक चेतना के विकास को ध्यान में रखते हुए यह भी माना गया है कि सभी नरकवासी एक ही समान दंड नहीं भोगेंगे कुछ कम पापी कम दंड पाएंगे।[394] जबकि क्रूरकर्मी घोर दंड पायेंगे। दुष्टों के

---

383. Matt., 5/27-30, 10/9-11, 19/18-23; Rom., 2/8-9; II Thess., 1/6-8
384. Luke, 18/18-25; Rom., 2/1-22; Gal., 5/19-23; Rom., 3/29; Acts., 10/35; 11/17-18
385. Matt., 25/32
386. Luke, 16/19
387. Matt., 8/12; 13/50; Mark., 9/43; Luke, 16/23
388. Matt., 18/9; 13/42
389. I Pet., 3/19
390. II Pet., 2/4
391. Mark., 9/43
392. Luke, 16/26
393. Acts., 2/27
394. II Thess., 1/9-11

विषय में कहा गया है कि उनके जीवाणु कभी भी नहीं मरते।[395] यह कथन इस बात की ओर संकेत करता है कि नरक में आत्माएं अनंतकाल तक कष्ट भोगेंगी।

दूसरी ओर स्वर्ग की अवधारणा परमेश्वर के राज्य से संबद्ध है।[396] 'जब तक मनुष्य को स्वर्ग से न दिया जाए तब तक वह कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता है'[397] अर्थात् जो कुछ भी मनुष्य को मिलता है वह परमेश्वर से ही मिलता है। शुभ कर्म करने वालों को स्वर्ग एवं अनंत आनंदमय जीवन मिलता है, यह माना गया है। जीवन की पूर्णता वहां अपने चरम पर होगी जहां किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं होगा।[398] वहां संत लोग अनंतकाल तक आनदपूर्ण अवस्थाओं में रहेंगे।[399] स्वर्ग का राज्य उनके लिये है जिसने अच्छा बीज बोया हो।[400] जो सद्गुणी हो एवं प्रभु के मार्ग पर चलता हो।[401] बच्चों के समान सरल व निष्कपट व्यक्ति ही स्वर्ग में प्रवेश का अधिकारी माना गया है।[402] अशुभ कर्म करने वाले या पाप कर्म करने वाले के लिये कहा गया है कि कुकर्म करने वालों मेरे पास से चले जाओ, उन्हें स्वर्ग के राज्य में प्रवेश न मिलेगा।[403]

इस प्रकार स्पष्ट है कि ईसाई धर्म व्यक्ति के अच्छे और बुरे अथवा पाप कर्म और पुण्य कर्म के आधार पर नरक व स्वर्ग की प्राप्ति होना मानता है। इसे मनुष्य के कर्मों का आत्यन्तिक फलन भी कहा जा सकता है।

ईसाई धर्म सुकर्म करने एवं आज्ञाओं का पालन करते हुए आत्मा के अनुसार रहना मुक्ति मानता है।[404] मनुष्य के देह अथवा सांसारिक जीवन में आत्मिक दशा[405] को स्वीकार किया गया है क्योंकि उसमें परमेश्वर रहता है। अतः देह जीवन में जो मनुष्य आत्मा के अनुसार चलते हैं वे परमेश्वर के पुत्र हैं।[406]

---

395. Mark., 9/48
396. Matt., 11/25
397. John., 3/27
398. Rom., 2/7; Matt., 25/46
399. Matt., 25/46
400. Matt., 13/24
401. Ibid, 7/21
402. Ibid, 18/1-4
403. Ibid, 7/21
404. Rom., 7/6
405. Ibid, 8/8
406. Ibid, 8/14

ऐसे व्यक्ति आत्मिक उत्थान के लिये धर्म से एवं भलाईपूर्वक पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले माने गये हैं।[407] इसे आध्यात्मिक अथवा आत्मिक नवजीवन के क्रम में माना जा सकता है। इसके अंतर्गत कहा गया है कि 'सच सच रूप में मैं तुमसे कहता हूं कि जब तक कोई नये सिरे से जन्म न ले तो वह परमेश्वर का राज्य नहीं देख सकता।'[408] यहां पर इस कथन में नये सिरे से जन्म लेने का अर्थ पुनर्जन्म से नहीं हैं, वरन् उस आध्यात्मिक, आत्मिक अनुभूति से है जिससे व्यक्ति के जीवन में आमूल परिवर्तन हो जाता है। इसमें व्यक्ति अपना पुराना आचरण व दैहिक स्वभाव को छोड़कर एक नवीन धर्मी-पवित्र स्वभाव ग्रहण कर लेता है और उसके व्यवहार में सच्ची पवित्रता अभिव्यक्त होती है।[409] वह स्वभाव अपने सृष्टिकर्त्ता का प्रतिरूप बनकर नवीन हो जाता है।[410]

इसके उपरांत वह सभी की मुक्ति का पथ प्रदर्शक बन जाता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति (आदम) के पाप से संपूर्ण मानव जाति को पाप और मृत्यु भोगनी पड़ी उसी प्रकार एक मानव (जीसस) के कारण सबको जीवन एवं मुक्ति का मिलना भी माना गया है।[411] जीसस सब मनुष्य के मध्य ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। उन्हें मनुष्य के पापों के प्रायश्चित के लिये परमेश्वर ने भेजा।[412] वह बुराई से व दासत्व से मानव को मुक्त करा सकता है। इस सत्य को जानने को विशेष महत्व देते हुए इसे बंधन से स्वतंत्र अथवा मुक्त करने वाला माना गया है।[413]

अपने उद्धार व मुक्ति के लिये व्यक्ति अपनी इच्छाओं को परमेश्वर के अधीन कर दे, उसकी आज्ञाओं का पूर्ण पालन करे क्योंकि उसकी सेवा ही सच्ची स्वतंत्रता है।[414] यह ईश्वर मिलन का मार्ग है जो समस्त मानव जाति के लिये स्थिर किया गया है।[415] पाप मुक्ति परमेश्वर की क्षमा व अनुग्रह है।[416] इसे प्राप्त कर व्यक्ति जीवन (देह) मुक्त होता है। देह रहने पर भलाई की इच्छा करने पर भी बुराई आती

---

407. Ibid, 8/33
408. John., 3/3, 5
409. Eph., 4/22, 24
410. Col., 3/9-10
411. Rom., 5/17-19
412. John., 4/10
413. Ibid, 8/32, 38
414. Gal., 3/21-27, 5/16-26
415. Rom., 3/25; I Pet., 2/24
416. Ibid, 3/25; I Pet., 2/24

है क्योंकि पाप उस देह में बसा रहता है।[417] अतः पूर्णमुक्त अथवा जीवन मुक्त होने के लिये देह मुक्त होना भी आवश्यक माना गया है। यह धर्म देह बंधन से मुक्त आत्मिक अवस्था को एवं प्रभु अथवा मसीह, जीसस आदि के सानिध्य को उद्धार तथा अनंत जीवन मानता है।[418]

इसके लिये परमेश्वर की क्षमाशीलता, दया, प्रेम अनुग्रह आदि पर विश्वास करके व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। वे हताश, निराश एवं पराजित नहीं होते हैं।[419] विश्वासपूर्वक शुभ कर्मों में लग जाना चाहिये। विश्वास बिना कर्म मुर्दा है।[420] सच्चाई से चलने पर ही उस परमेश्वर-ज्योति के निकट हुआ जा सकता है।[421] इस प्रकार परमेश्वर को आत्मा के रूप में मानते हुए भक्तिपूर्वक सच्चाई से प्रार्थना-भजन करने वालों को परमेश्वर चाहता है।[422] उस पर विश्वास करने वाला मर कर भी जीएगा।[423] अर्थात् देह विनाश के बाद भी मुक्त आत्मिक दशा में परमेश्वर के निकट रहेगा। अतः स्पष्ट है कि बंधन से उद्धार एवं पूर्ण मुक्ति के लिये देह बंधन से छूटना आवश्यक माना गया है। इसलिये कहा गया है कि जो आत्मा के फल से मुक्त हैं वे ईश्वर द्वारा स्वीकृत किये जाने के लिये अपनी देह से मुक्त होने की प्रतीक्षा करते हैं।[424] जब विश्वास सिद्ध हो जाता है तो प्रभु का आत्मा उसे उठा लेता है और अपने दर्शन के आनंद से उसे भर देता है।[425] उसकी परमेश्वर संगति में 'वह मनुष्य आत्मा उसके साथ एक आत्मा हो जाता है।'[426] जहां, कहीं प्रभु का आत्मा है वहां स्वतंत्रता है[427], यही अन्य शब्दों में मुक्ति है।

कर्म संबंधी इस विवेचन से सारतः स्पष्ट है कि ईसाई धर्म में कर्म सिद्धांत के अंतर्गत कर्म कर्त्ता अथवा व्यक्ति से संबंधित है। व्यक्ति के कर्मानुसार उसका चरित्र निर्माण होता है। कर्मानुसार ही वह फलवंत होता है। मूलपाप से वह पापपूर्ण, लालसामय देह जीवन व्यतीत करता है। इनके कारण ही वह

---

417. Rom., 7/18, 21
418. Ibid, 8/13-14; 6/22, Luke, 30/38
419. II Cor., 4/8-9
420. James, 2/17, 26
421. John, 3/20-21
422. Ibid, 4/24
423. Ibid, 11/25
424. Rom., 8/23., 7/24
425. Acts, 2/24, 8/39
426. I Cor., 6/17
427. I Cor., 6/17

बंधनग्रस्त होता है। इस बंधनग्रस्त अवस्था में वह जो कोई भी कार्य करता है उसका कर्मफलन पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ अथवा सुकर्म-कुकर्म के रूप में अवश्य होता है। इनके कारण ही वह स्वर्ग और नरक में आनंदमय और दुःखमय आत्मिक जीवन व्यतीत करता है। यह धर्म आदिपाप अथवा मूलपाप से उत्पन्न संतान प्रवाह के पाप कर्म को मान्यता देते हुए बंधन एवं मुक्ति की धारणा को भी प्रस्तुत करता है।

देह जीवन को पापमय मानते हुए इसके पाप पूर्ण दासत्व से मुक्त होने के लिये प्रभु के वचन आज्ञा मान्कर शुभ कर्म करना तथा निष्पाप उद्धार[428] करने की ओर प्रवृत्त होने को दैहिक अवस्था में व्यक्ति की मुक्तावस्था कहा जा सकता है। इस अवस्था में अटल विश्वासपूर्वक जीसस को त्राणकर्त्ता मुक्तिदाता मानना; शुभ एवं नैतिक कर्म करना; ईश्वराज्ञा का पालन करना; और बिना किसी भेदभाव के सब से ही प्रेम करना-ये चार ईसाई धर्म जीवन की सीढ़ियाँ मानी गयी है।[429] इनके आधार पर जीवन व्यतीत करने तथा जीसस की क्रॉस द्वारा मृत्यु को उद्दार के रूप में विश्वासपूर्वक स्वीकार करने से मानव को पापमोचन तथा पूर्ण मुक्ति मिल सकती है।[430] अतः कहा जा सकता है कि यह धर्म मृत्योपरांत मुक्ति (विदेह मुक्ति) और जीवन मुक्ति दोनों को स्वीकार करता है।

घ. जगत :

ईसाई धर्म में जगत की धार्मिक आध्यात्मिक मौलिक धारणा एवं कर्ममय व्यावहारिक धारणा उपलब्ध होती है। आध्यात्मिक धारणा के अनुसार परमेश्वर ने सृष्टि शून्य से अथवा आदि शब्द से की है।[431] सृष्टि रचनाक्रम उसने आकाश की एवं उसके पश्चात् क्रमशः जल, थल, वनस्पति, सूर्य, चाँद, तारागण, विभिन्न प्रकार के जीव जंतुओं की रचना करने के उपरांत मानव (आदम) की अपने ही अनुरूप रचना की और सातवें दिन विश्राम किया।[432]

अपने स्वरूप में आदम-मनुष्य की रचना कर उसमें जीवन का श्वांस फूंककर उसे ज्ञानवृक्ष का फल न खाने का निर्देश देकर एडन वाटिका में रख दिया तथा उसके अकेलेपन को दूर करने के लिये

---

428. John, 8/46, 10/18; Rom., 5/6
429. II Pet., 1/1-7
430. Rom., 3/22-26, 10/6-13; Gal., 2/16-20
431. Gen., 7/28; John, 1/1, 1/3, 1/14; Rom., 1/20
432. Gen., 1/1-31, 2/1-3

उसकी पसली से स्त्री की रचना।[433] पुरूष आदम और स्त्री हव्वा (जो कि पति-पत्नी के रूप में थे) ने ईश्वर-आज्ञा का उल्लघंन कर ज्ञानवृक्ष का वर्जित फल खा लिया इसे अनुचित मानकर उसने हव्वा और आदम को दुःख पूर्ण जीवन के श्राप दिये।[434] इस श्राप का आधार ईश्वर के प्रति अविश्वास एवं प्रलोभन अथवा लालसा के वशीभूत होकर आज्ञा का उल्लंघन करना माना जा सकता है। इसी आदिपाप के कारण मनुष्य दंड के रूप में जगत में स्वयं के कर्म के द्वारा जीवन यापन करने एवं मृत्यु प्राप्त करने को बाध्य हुआ।[435] और इस आदि पाप का प्रभाव समस्त मानव संतति पर माना गया है। अतः जो कुछ भी मानव में है वे सब पाप के अधीन है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने विश्व की सृष्टि स्वेच्छापूर्वक प्रेम से की है। इस बात की पुष्टि-जो कुछ परमेश्वर ने सृष्ट किया (रचा) वह उसको 'अच्छा लगा'-यह 'अच्छा है;[436] से होती है। कहा गया है कि जब ईश्वर ने अपनी सृष्टि को एक साथ पूरा देखा और देखकर खुश हुआ।[437] अतः स्पष्ट है कि ईसाई धर्म जगत की सृष्टि को शुभ मानता है। उल्लास और विश्वास की भावना से देखता है। इसलिये कहा है कि 'जो कुछ परमेश्वर ने शुद्ध ठहराया है उसे तू अशुद्ध मत कह।'[438]

ईसाई धर्म में मौलिक जगत की धारणा के अतिरिक्त कर्ममय व्यावहारिक जगत की धारणा भी स्पष्टतः दिखायी देती है। यह व्यावहारिक जगत् मूलपाप के परिणामस्वरूप दी गयी व्यवस्था से माना गया है। व्यवस्था के कारण ही पापों की अभिलाषाएं हमारे अंगों में कार्य करती हैं, और यही पाप की व्यवस्था के बंधन में डालती हैं।[439] शरीर की संतान परमेश्वर की नहीं अपितु प्रतिज्ञा के संतान वंश है।[440] इससे स्पष्ट होता है कि पाप/बंधन ईश्वर शाप/प्रतिज्ञा के अंतर्गत हुआ है। मानव प्रलोभन के कारण अंगों से कर्म करता है। उसक भीतरी मनुष्यत्व[441] जो आत्मिक रूप में है परमेश्वर की व्यवस्था से प्रसन्न है और

---

433. Ibid, 2/4-23
434. Ibid, 3/6, 14-24
435. Ibid, 4/7-8, 3/19
436. Ibid, 1/1-10, 12. 18
437. Ibid, 1/31
438. Acts, 10/15; 10/28
439. Rom., 7/22-23
440. Ibid, 9/8
441. Ibid, 7/22

आत्मिक रूप में पाप कर्म नहीं करना चाहता है, परंतु शारीरिक व अंगों की व्यवस्था के अधीन होने से जगत में अच्छे बुरे कर्म करता है।

ईसाई धर्म में मनुष्य के द्वारा परमात्मा ने जो कुछ किया (श्राप/व्यवस्था) वह अच्छा किया माना गया है। कारण कि यदि उसने प्रतिज्ञा द्वारा श्राप रूपी कर्म व्यवस्था, बंधन आदि दिये हैं, तो अनुग्रह (कृपा) भी बहुत दिये हैं। जिनके द्वारा वह अपने कर्म जगत/व्यावहारिक जगत् से मुक्त हो सकता है। इस संबंध में निम्न उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

'जब हम विश्वास से धर्मी ठहरे, तो अपने प्रभु यीशु मसीह के द्वारा परमेश्वर के साथ मेल रखें। जिसके द्वारा विश्वास के कारण उस अनुग्रह तक जिसमें हम बने हैं, हमारी पहुंच भी हुई और परमेश्वर की महिमा की आशा पर घमंड करें।[442] केवल यही नहीं, वरन् हम क्लेशों में भी घमंड करें, यही जानकर कि क्लेश से धीरज, धीरज से खरा निकलना और खरे निकलने से आशा उत्पन्न होती हैं और आशा से लज्जा नहीं होती, क्योंकि पवित्र आत्मा जो हमें दिया गया है उसके द्वारा परमेश्वर का प्रेम हमारे मन में डाला गया है।'[443] 'जब एक मनुष्य के अपराध के कारण मृत्यु ने उस एक ही के द्वारा राज्य किया, तो जो लोग अनुग्रह और धर्मरूपी वरदान बहुतायत से पाते हैं वे एक मनुष्य के, अर्थात् यीशु मसीह के द्वारा अवश्य ही अनंत जीवन में राज्य करेंगे। इसलिये जैसा एक अपराध सब मनुष्यों के लिये दंड की आज्ञा का कारण हुआ, वैसा ही एक धर्म का काम भी सब मनुष्यों के लिये जीवन के निमित्त धर्मी ठहराये जाने का कारण हुआ, क्योंकि जैसा एक मनुष्य के आज्ञा न मानने से बहुत लोग पापी ठहरे, वैसे ही एक मनुष्य (जीसस) की आज्ञा मानने से बहुत से लोग धर्मी ठहरेंगे।'[444] 'व्यवस्था बीच में आ गयी कि अपराध बहुत हुआ, वहां अनुग्रह उससे भी कहीं अधिक हुआ।'[445] जीसस को सब मनुष्यों कि मुक्ति के लिये मध्यस्थ माना है। दिव्य अनुग्रह से मुक्ति संभव है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि ईसाई धर्म सार्वभौमिक पाप (एक से सबका पाप) की भांति ही सार्वभौमिक मुक्ति (एक जीसस पर परमेश्वर का अनुग्रह सब विश्वासियों पर व पापियों पर अनुग्रह, स्वतंत्रता) को एवं नये जीवन की ओर अग्रसर होने की आशा को स्वीकार करता है।[446] मनुष्य जब तक

---

442. Rom., 5/1-2
443. Ibid, 5/3-5
444. Ibid, 5/17-19
445. Ibid, 5/20
446. Ibid, 6/3

शारीरिक रूप से जीवित रहता है तब तक उस पर व्यवस्था की प्रभुता रहती है।[447] इसे स्वाभाविक मानते हुए इसका तिरस्कार नहीं वरन् इसमें रहते हुए जीवनदायक आत्मिक स्वर्गिक रूप प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।[448] परिवर्तन लाना चाहिये। मनुष्य की रीति पर चलना उचित मानते हुए देह को पवित्र कहा गया है, ईश्वर प्रदत्त आत्मा का मंदिर कहा गया है।[449] मनुष्य के सामाजिक संबंधों के आधार पर निर्मित होने वाले रूपों को ईसाई धर्म में अच्छाई अथवा बुराई का आधार नहीं माना गया है। व्यक्ति विवाहित या अविवाहित होकर भी अच्छा या बुरा हो सकता है अतः संबंध के आधार पर उसका मूल्यांकन नहीं किया जाता है।[450] जो जिस दशा में (दास या स्वतंत्र) परमेश्वर द्वारा रखा गया हो या बुलाया गया हो वह उसी में परमेश्वर के साथ रहे।[451] सब उस परमेश्वर का व आत्मा का ध्यान रखें जिसके द्वारा हम हैं।[452]

यह व्यावहारिक जगत को केवल आलोचनात्मक सृष्टि से नहीं देखता है। इसमें मानवकृत देह पाप कर्म को स्वाभाविक एवं व्यवस्था जनित मानते हुए उनसे प्रत्येक के मुक्त होने की संभावना को मान्यता देता है। इसलिये कहा गया है कि 'मैं बलिदान नहीं परंतु दया चाहता हूं, क्योंकि मैं धर्मियों को नहीं परंतु पापियों को बुलाने आया हूँ।'[453] दीन, दुःखी, गरीब, अनाथ, दास, भोले, अशुद्ध माने जाने वाले एवं भटके हुए लोगों के लिये भी मुक्ति का मार्ग खुला माना गया है, यदि वे मन फिरा (परिवर्तन) लें तथा प्रभु के मार्ग का विश्वासपूर्वक अनुसरण करें।[454] शुभ कर्म करें तथा अशुभ कर्मों का त्याग करें। इस प्रकार ज्ञान, भाव व कर्म से शुद्धता का पालन करने से परमेश्वर का सानिध्य मिलता है।[455] व्यावहारिक जगत में प्रेम के व्यवहार को बहुत महत्व दिया गया है।[456] प्रेम से शुभ कर्म करना, पुरुषार्थ करना, विश्वास करना, स्वतंत्रता एवं शुभ कर्मफल देने वाला कहा गया है।[457]

---

447. Ibid, 7/1
448. I Cor., 15/44, 45, 46, 47
449. I Cor., 6/19
450. Ibid, 7/8-10, 28, 36-40
451. Ibid., 7/20, 27
452. Ibid, 8/6
453. Matt., 9/13
454. Matt., 5/1-11, 12/31, 19/24, 21/22, 25/34-35 40; Mark, 1/27; Luke, 9/48, 1/45
455. II Cor., 7/1-2, 8/7; Luke, 7/35
456. I John, 4/7 & 2, 8/7, Luke, 7/35
457. I Cor., 16/13; Gal 5/13, II Cor, 13/11-14

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईसाई धर्म भी मौलिक जगत एवं व्यावहारिक जगत में विश्वास करता है। मौलिक जगत ईश्वर से उत्पन्न माना गया है। जबकि व्यावहारिक जगत में ईश्वर व्यवस्था के कारण लालसा के उत्पन्न मानव के देह कर्म अथवा जीवन को बंधनग्रस्त एवं कर्मफलमय मानता है। पवित्र विश्वास से सभी की मुक्ति संभव मानी गयी है। आत्मा का फल प्रेम, आनंद, शांति, सहनशीलता, मिलनसारिता, दयालुता, ईमानदारी, सौम्यता और संयम है।[458] ईश्वर मानव से प्रेम करता है। उसने हमारे पापों के प्रायश्चित के लिये अपना प्रिय पुत्र भेजा।[459] स्पष्ट है कि यह कथन मुक्ति के मूल कारण के रूप में ईश प्रेम को महत्व देता है।

4. ईसाई धर्म में धर्म समभाव की अवधारणा :

i. चेतनात्मक आधार पर धर्म समभाव :

ईसाई धर्म में संपूर्ण विश्व के सृष्टा के रूप में परमेश्वर को मानते हुए समस्त मानव जाति की उत्पति ईश्वर आत्मा से रचित आदम और हव्वा से मानी गयी है। कहा गया है कि उसने एक ही मूल से मनुष्यों की सब जातियाँ पृथ्वी पर रहने के लिये बनायी है और उनके ठहराये हुए समय और निवास के सिवानों[460] को इसलिये बाँधा है कि वे परमेश्वर को ढूंढे, कदाचित उसे टटोलकर पा जाएं तो भी वह हममें से किसी से दूर नहीं क्योंकि हम उसी से जीवित रहते, चलते, फिरते और स्थिर रहते हैं, जैसे तुम्हारे कितने कवियों ने भी कहा है कि हम तो उसी के वंश भी हैं। सो परमेश्वर का वंश होकर हमें यह समझना उचित नहीं कि, ईश्वरत्व, सोने या रूपे या पत्थर के समान है जो, मनुष्य की कारीगरी से गढ़े गये हों इसलिये परमेश्वर अज्ञानता के समयों से आनाकानी करके, अब प्रत्येक जगह सब मनुष्यों का मन फिराने की आज्ञा देता है।[461]

जो लोग ईश्वर की आत्मा से संचालित हैं वे सब ईश्वर के पुत्र है।[462] इसी प्रकार चेतना के आधार पर भ्रातृत्व भाव के संबंध में अन्यत्र कहा गया है कि हे भाइयों मैं नहीं चाहता कि तुम इस बात से अज्ञात रहो कि हमारे सब पूर्वज (बाप दादा) बादल के नीचे थे, और सबके सब समुद्र के बीच से पार हो गये

---

458. Gal. 5/2; Heb, 2/17

459. I John, 4/10

460. Acts, 17/26

461. Acts, 17/26-30, I Cor., 11/12

462. Rom, 8/15

और सबने एक ही आत्मिक भोजन, जल आदि ग्रहण किया।[463] 'पृथ्वी पर किसी को अपना पिता न कहना, क्योंकि तुम्हारा एक ही पिता है, जो स्वर्ग में है और स्वामी भी न कहलाना क्योंकि तुम्हारा एक ही स्वामी है, अर्थात् मसीह।'[464] ये सभी कथन एक ही मूल चेतना से सभी को उत्पन्न मानते हैं। अतः सभी में चेतनागत आधार पर समानता को स्वीकार करते हैं।

इसलिये जीसस स्वयं को चेतनात्मक स्तर पर परमेश्वर से संबद्ध करते हुए सबमें एकत्व की प्रतीति के लिये कहते हैं कि हे, पिता, जैसा तू मुझमें है, और मैं तुझमें हूं, वैसे ही वे भी हममें हों, इसलिये कि जगत प्रतीति करे, कि तूने ही मुझे भेजा। और वह महिमा जो तू ने मुझे दी, मैंने उन्हें दी है कि वे वैसे ही एक हों जैसे कि हम एक हैं। मैं उनमें और तू मुझमें कि वे सिद्ध होकर एक जो जाएं, और जगत जाने कि तूने ही मुझे भेजा, जैसे तूने मुझसे प्रेम रखा, वैसा ही उनसे प्रेम रखा।[465]

इन कथनों के अतिरिक्त मानव पुत्र जीसस को ईश स्वरूप मसीह[466] माना है। ईश पिता (परमेश्वर) ईश पुत्र मानव जीसस (आत्मिक रूप में-ईश्वर का इकलौता पुत्र और देहरूप में मानव पुत्र) की चेतनात्मक एकता के आधार पर[467] बिना किसी भेदभाव को मानते हुए समस्त मानव जाति में समानता का भाव माना गया है। इस संदर्भ में कहा है कि 'जो प्रभु की संगति में रहता है वह उसके साथ एक आत्मा हो जाता है।'[468] इसका अर्थ है कि ईश्वर पवित्र आत्मा जीसस के साथ और जीसस मानव आत्मा के साथ है। अतः तीनों मे मूल चेतनात्मक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। ये परस्पर संबद्ध है। इसलिये अच्छे-बुरे सभी के प्रति आत्मिक चेतना की समानता को मानते हुए उनके कल्याण की भावना प्रकट की गयी है।[469]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि ईसाई धर्म सभी मानवों मे चेतनागत एकता को मानते हुए परमेश्वर पिता, जीसस-पुत्र, जीसस-पिता रूप में और साधारण मनुष्य को उसके पुत्र के रूप में मानता है। इन सभी का मूल स्रोत एक ही मानते हुए सभी के कल्याण/उद्धार को महत्व देता है। अतः कहा जा सकता

---

463. I Cor, 10/1-4

464. Matt., 23/9-10

465. John, 17/21-23; Thess, 3/12

466. Matt., 9/2, 6; 11/27; 16/16; 20, 21; 26/64; Acts, 2/36; Heb, 1/1-2; John, 6/1-15

467. John, 20/31; Acts, 7/5 5-56

468. I Cor., 6/17

469. Acts, 2/17-19, 10/38

है कि यह धर्म चेतनात्मक समभाव के आधार पर समान आत्मिक अनुभूति की धारणा को स्वीकार करता है।

ii अनासक्त (राग.द्वेष से परे, निष्पक्ष) भाव के आधार पर धर्म समभाव :

यहूदी धर्म की भांति ईसाई धर्म में भी प्रत्यक्षतः राग-द्वेष से परे-अनासक्त भाव का स्वतंत्र प्रत्यय/विचार नहीं पाया जाता है। परंतु इस भाव को अभिव्यक्त करने वाले विचार कुछ कथनों में अप्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध होते हैं।

राग-द्वेष से परे रहकर निष्पक्ष न्याय की धारणा उपलब्ध होती है। कहा कि 'मुंह देखकर नहीं, परंतु ठीक-ठीक न्याय चुकाना चाहिये।'[470] स्पष्ट है कि इसमें स्व और पर का भेद नहीं माना गया है। धर्मोचित न्याय करने[471] एवं कर्मों के आधार पर सबके प्रति समान भाव से सत्य से जाँच कर न्याय करना माना है।[472] परमेश्वर राग-द्वेष से परे होने के कारण स्वेच्छापूर्वक किसी के भी साथ अन्याय नहीं करता है और न ही दुःख देता है।[473] पाप-पुण्य, सुख-दुःखादि से मनुष्य प्रभावित होते हैं-ये सब उनके लिये है,[474] ईश्वर के लिये नहीं है।

ये कथन/उल्लेख स्वत्व के प्रति राग एवं परत्व के प्रति द्वेष की भावना का निषेध करते हैं। साथ ही निष्पक्षता का प्रतिपादन भी। ईश्वर सबके प्रति-मूलतः शुभ-अशुभ कर्म प्रभावों से अप्रभावित रहता है। शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, व्यवस्था-अव्यवस्था आदि सभी मनुष्य के व्यवहार के लिये है।

अन्यत्र भी राग-द्वेष से परे रहकर समभाव को दर्शाने वाले कथन उपलब्ध होते हैं। जैसे-एक स्थान पर पॉल और बरनबास के द्वारा परमेश्वर के वचन सुनकर कई यहूदी मत के भक्त व नगर के लोग उनके पीछे हो लिये किंतु यह देखकर ईर्ष्या के कारण पॉल की बातों (वचन) का विरोध करने लगे तब पॉल और बरनवास ने निर्भीकतापूर्वक कहा कि 'अवश्य था कि परमेश्वर का वचन पहले तुम्हे सुनाया जाता, परंतु जबकि तुम उसे (परमेश्वर) दूर करते हो और अपने को अनंत जीवन के योग्य नहीं ठहराते,

---

470. John, 7/24

471. Acts, 17/31

472. Ps., 96/13; Heb, 12/22, 23/29

473. The Lamen, 3/31-36

474. Job, 35/6, 7, 8

तो देखो, हम अन्य जातियों की ओर फिरते हैं ताकि उनका उद्धार हो'[475] ईसाई धर्म में मूसा की रीति से खतना हुए और खतनारहित सब मनुष्यों को विश्वास की व्यवस्था से उद्धार प्राप्त करने का अधिकारी माना गया है।[476] यह कथन उल्लेख स्पष्ट करता है कि धर्म का संबंध जाति विशेष से नहीं है अपितु उन मनुष्यों से है जो उस पर विश्वास करते हैं। अतः अपनी जाति के प्रति मोहासक्त नहीं होना चाहिये और न ही अन्य जातियों से द्वेष या ईर्ष्या करनी चाहिए। वरन् धार्मिक व्यक्ति को चाहिये कि वह सभी मानव जातियों के उद्धार के लिये प्रयास करे, अपने उपदेश दें। अन्य स्थल पर कहा कि इसलिये कि सबने पाप किया है (सार्वभौमिक पाप)[477] अतः सबको पाप मुक्ति का अधिकार है। वह किसी का पक्ष नहीं लेता है।'[478]

सारतः स्पष्ट है कि ईसाई धर्म में सभी जातियों को परमेश्वर की कृपा या अधिकारी माना है। परमेश्वर की महिमा केवल एक ही जाति विशेष के लिये नहीं है क्योंकि ईश्वर सभी के प्रति समान भाव रखता है। न किसी से राग करता है और न ही द्वेष। बिना किसी राग-द्वेष के ईश्वर व धार्मिक व्यक्ति सभी के प्रति समभाव अपनाता है। वह स्व और पर का अंतर नहीं करता है। राग के कारण न तो मोहासक्त होता है और न ही द्वेष के कारण किसी से ईर्ष्या करता है अपितु समस्त मानव जाति के कल्याण अथवा उद्धार की बात करता है।

iii अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव :

ईसाई धर्म में ईश-राज्य की घोषणा करते हुए कहा कि ईश्वर का राज्य तुम्हारे ही बीच में है।[479] संत मैथ्यू उसे स्वर्ग का राज्य कहते हैं-जो राई के दाने के सदृश सब बीजों से छोटा है परंतु बढ़कर सब पौधों से बड़ा हो जाता है।[480] ईसाई धर्म के अनुसार यह ईश राज्य/स्वर्ग का राज्य सृष्टि के प्रारंभ में ईश्वर सत्ता के होने तक ही सीमित है। परंतु कालांतर में सृष्टि के विकास के कारण कई शुभकर्मी व्यक्ति/आत्माओं का मृत्योपरांत-न्यायदिवस पर इसमें प्रवेश हो जाने पर यह विस्तृत व सार्वभौमिक होगा। इसमें बिना किसी भेदभाव के पवित्र व शुभ आचरण के आधार पर जगत् के सभी धर्मियों/सब जातियों के लोगों का प्रवेश होना माना गया है।

---

475. Acts, 13/43-49

476. Rom, 3/27-31

477. Ibid, 3/23

478. Acts, 10/35

479. Luke, 17/21

480. Matt., 13/31-32

जीसस का भेदभाव रहित प्रेम का संदेश अस्वीकार करने के परिणामस्वरूप पूर्वार्द्ध में चयनित प्रजा स्वयं ही बहिष्कृत हो जाएगी क्योंकि वे मनुष्यों में भेद करती हैं तथा ईश्वर के नियमों को नहीं मानती हैं। अतः स्पष्टतः कहा है कि 'मैं तुमसे कहता हूं..... बहुत से लोग पूर्व और पश्चिम से आकर स्वर्ग राज्य में सम्मिलित होंगे, परंतु राज्य की प्रजा को बाहर अंधकार में फेंक दिया जाएगा।'[481] अन्यत्र पवित्र सार्वभौमिकता को प्रतीक रूप में स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'यदि तुम फिर छोटे बालकों जैसे नहीं बन जाओगे तो स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकोगे।'[482] पर्वत प्रवचन मे अष्टशील के अंतर्गत नम्र, दीन-हीन, निरभिमानी को धन्य मानते हुए स्वर्ग/ईश-राज्य में प्रवेश का अधिकारी माना है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्वर्ग/ईश्वर का सानिध्य जन्म या जाति के आधार पर नहीं वरन् सद्गुणी निच्छल व्यवहार, विश्वास और समर्पित होने से मिलता है। इसके लिये मनुष्यों में किसी विशेष जाति, वंश, धर्म, मत आदि को मानने के आधार पर अंतर नहीं किया गया है। सभी सरल व नैतिक व्यक्तियों के लिये स्वर्ग का राज्य माना गया है।

सभी प्रकार के भेदभाव से रहित होकर परस्पर सद्भाव रखने वाले कई उल्लेख उपलब्ध होते हैं। जैसे 'अब मुझे निश्चय हुआ कि परमेश्वर किसी का पक्ष नहीं लेता, वरन् हर जाति में जो उससे डरता है और धर्म के काम करता है वह उसे भाता है।'[483] जीसस स्वयं अपने शिष्यों से कहते हैं कि 'यह न समझो, कि मैं व्यवस्था या नबियों की पुस्तकों का लोप करने आया हूँ, लोप करने नहीं परंतु पूरा करने आया हूँ।[484] यहां स्पष्ट है कि जीसस स्वयं अपने पूर्व के नबियों या पैग़ंबरों का आदर करते थे। वे अहंकारहित होकर देश-काल के अनुरूप उस विकास क्रम में स्वयं को उसकी एक शृंखला कड़ी मानते थे। अतः वे पूर्व उपदेशों/लेखों को नष्ट करने की नही वरन् उन्हे पूरा करने की बात कहते हैं।

अन्य जातियों (जो धर्म के भिन्न-भिन्न रूप व व्यवस्थाएं मानती थी) में तत्वतः समभाव के आधार पर सार्वभौमिक उद्धार एवं कल्याण की भावना को स्वीकार किया गया है। जैसे-

कहा गया है कि 'क्या परमेश्वर केवल यहूदियों ही का है? क्या अन्य जातियों का नहीं? हां अन्य जातियों का भी है क्योंकि एक ही परमेश्वर है, जो ख़तनावालों को विश्वास से और ख़तनारहितों को भी विश्वास के द्वारा धर्मी ठहरायेगा। '[485]' यहूदियों और यूनानियों में कुछ भेद नहीं, इसलिये कि वह सबका

---

481. Ibid, 8/11-12

482. Matt., 18/3-4

483. Acts, 10/35

484. Matt., 5/17-18

485. Rom, 10/12

प्रभु है, और अपने सब नाम लेने वालों के लिये उदार है क्योंकि जो कोई प्रभु का नाम लेगा वह उद्धार पायेगा।'[486] 'यहूदी वह नहीं है जो प्रकट में यहूदी है, और न वह ख़तना है जो प्रकट में और देह में है। पर यहूदी वही है जो मन में है और ख़तना वही है, जो हृदय और आत्मा में है, न कि भाग्य का। ऐसे की प्रशंसा मनुष्य की ओर से नहीं वरन् परमेश्वर की ओर से होती है।'[487] 'परमेश्वर का क्रोध तो उन लोगों की सब अभक्ति और अधर्म पर स्वर्ग से प्रकट होता है जो सत्य को अधर्म से दबाये रखते हैं।'[488]

इन सभी कथनों से स्पष्ट होता है कि ईसाई धर्म किसी जाति विशेष को ही ईशकृपा/उदधार/अनुग्रह का अधिकारी नहीं मानता है। वरन् उन सब मनुष्यों व अन्य धर्मजातियों को भी ईशकृपा एवं ईश्वर ज्ञान का अधिकारी मानता है जो सत्य तथा धर्म को मानते हैं, इनका पालन करते हैं।

इस संदर्भ में तथा अन्य जातियां जो दूसरे धर्म मार्ग पर चलती हैं उनके लिये अन्यत्र कहा कि 'परमेश्वर ने मुझे बताया है कि किसी मनुष्य को अपवित्र या अशुद्ध न कहूं।'[489] कारण कि परमेश्वर ने मनुष्य को अपने ही अनुरूप रचा है, वह उसका विरोधी नहीं है। जिस परमेश्वर ने सब कुछ बनाया है 'उसने बीते समयों में सब जातियों को अपने-अपने मार्गों पर चलने दिया। तो भी उसने अपने आपको बे-गवाह न छोड़ा, किंतु वह भलाई करता रहा, और आकाश से वर्षा एवं फलवंत ऋतु देकर, तुम्हारे मन को भोजन और आनंद से भरता रहा।'[490]

यह कथन स्पष्ट करता है कि अतीत में विभिन्न मानव जातियों ने जिन धर्मों व मार्गों का अनुसरण किया उन्हें उस मार्ग पर बढ़ने दिया और उनका साक्षी रहा, तथा सबका हित करता रहा है। किसी भी मत को अनुचित नहीं माना। इसकी पुष्टि उन्हें फलवंत/समृद्धि, व आनंद देने से होती है। यदि वह उनका विरोधी होता तो अतीत में उन्हें फलवंत करने के स्थान पर यातनाएं देता।

ईश्वर ने अन्य ज़ातियों पर कैसे कृपा दृष्टि की यह शमौन ने स्पष्ट किया है।[491] दाऊद के ईश्वर भवन के खंडहरों को पुनः निर्मित करने और उन्हें खड़ा करने की बात कही गयी है ताकि अन्य जातियां

---

486. Ibid, 10/13
487. Ibid, 2/28-29
488. Ibid, 1/18
489. Acts, 10/28
490. Ibid, 14/16-17
491. Acts, 15/24

18—259 Min. of H.R.D./2005

(अन्य धर्मावलंबी) भी ईश्वर की ओर या प्रभु की ओर उन्मुख हो।[492] अन्य धर्मजातियों के मनुष्यों को अपने समान ही मानते हुए उनके प्रति सहिष्णुतापूर्ण समभाव अपनाने को महत्व दिया गया है। शमौन द्वारा आगे कहा गया है कि 'मेरा विचार यह है कि अन्य-अन्य जातियों में से जो लोग परमेश्वर की ओर उन्मुख होते हैं, हम उन्हें दुःख न दें। परंतु उन्हें लिख भेजें कि वे मूर्त्तियों की अशुद्धताओं, व्यभिचार, गला घोटे हुओं के मांस से और लहू से परे रहे।'[493] सहिष्णुता व सद्भाव के साथ अन्य जातियों में से उस समय अंताकिया, सूरिया, किलिकिया आदि स्थानों पर रहने वाले लोगों को भाइयों कहकर नमस्कार (प्रेरितों और प्राचीन का) भेजा। आगे लिखा कि 'हमने सुना है कि हममें से कितनों ने वहां जाकर, तुम्हें अपनी बातों से घबरा दिया, और तुम्हारे मन उलट दिये हैं परंतु हमने उनको आज्ञा नहीं दी थी।'[494] 'पवित्र आत्मा और हमको ठीक जान पड़ा कि इन आवश्यक बातों को छोड़कर तुम पर ओर बोझ न डालें, तुम मूर्तियों के लिये बलि किये हुओं से, लहू से, गला घोटे हुओं के मांस से तथा व्यभिचार से परे रहो। इन सबसे परे रहो, तुम्हारा भला होगा। आगे शुभ।'[495]

ईसाई धर्म में कहा गया है कि 'पवित्र आत्मा नें उन्हें एशिया में वचन सुनाने से मना किया।'[496] प्रेरितों ने फ्रूगिया और गलतिया देशों में होते हुए मेसिडोनिया के निकट पहुंचकर बिटूनिया जाना चाहा किंतु जीसस की आत्मा ने जाने से मना कर दिया। अतः मेसाडोनिया होकर वे त्रोआस में आये। रात्रि दर्शन के आधार पर मकिदूनिया, सुमात्रा, निआपोलिस व फिलिप्पी आये।[497] इन विचारों से स्पष्ट होता है कि वे एशिया के देशों की धर्म व्यवस्था के विरोधी नहीं थे। उसे अनुचित नहीं मानते थे। इसलिये प्रेरित अपने देश की सीमा क्षेत्र के आस-पास ही जीसस धर्म का प्रचार-प्रसार करते रहे। एशिया के अन्य देशों में सशक्त धर्म व्यवस्था एवं नैतिकता थी इसका प्रत्यक्ष नहीं तब भी अप्रत्यक्ष ज्ञान अथवा अनुमान उन्हें हुआ होगा। अतः उनका विरोध ईसाई धर्म में तत्कालीन अनुयायियों द्वारा भी नहीं किया गया।

अन्य धर्मों के प्रति-जो धर्म अन्य जातियों में प्रचलित थे-समभाव अपनाने का संकेत विविधता में एकता के भाव को स्पष्ट करने वाले इन कथनों मे उपलब्ध होता है। जैसेः 'वरदान तो कई प्रकार के हैं; परंतु आत्मा एक ही हैं। सेवा भी कई प्रकार हैं, परंतु प्रभु एक ही है। प्रभावशाली कार्य कई प्रकार के हैं, परंतु परमेश्वर एक ही है, जो सबमें हर प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करता है। किंतु सबको लाभ पहुंचाने के

492. Ibid, 15/17
493. Ibid, 15/19-20
494. Ibid, 15/23, 24
495. Ibid, 15/28-29
496. Ibid, 16/6
497. Acts., 16/7-12

लिये हर एक को आत्मा का प्रकाश दिया जाता है क्योंकि एक को आत्मा के द्वारा बुद्धि की बातें दी जाती हैं और दूसरे को उसी आत्मा के अनुसार ज्ञान की बातें। किसी को उसी आत्मा से विश्वास; किसी को उसी एक आत्मा से चंगा करने का वरदान दिया जाता है; किसी को सामर्थ्य के काम करने की शक्ति, और किसी को भविष्यवाणी की; किसी को आत्माओं की परख, किसी को अनेक प्रकार की भाषा; और किसी को भाषाओं का अर्थ बताना। परंतु ये सब प्रभावशाली कार्य वही एक आत्मा करवाता है, और जिसे चाहता है वह बांट देता है।[498] सभी अंगों के पृथक-पृथक कार्य हैं। वे हैं तो देह है। प्रेरित, भविष्यवक्ता, शिक्षक, सामर्थी-काम करने वाले, चंगा करने वाले, उपकार करने वाले, प्रधान और विभिन्न भाषा-भाषी आदि सभी परमेश्वर/मसीह के अंग है।[499]

सभी मनुष्यों को परमेश्वर रूपी देह का अंग मानते हुए कहा है कि 'परमेश्वर ने हर एक को परिमाण के अनुसार बांट दिया है, वैसा ही सुबुद्धि के साथ अपने को समझे। जैसे हमारी देह में बहुत से अंग है; और सब अंगों का एक सा ही काम नही। वैसे ही हम जो बहुत हैं (अनेक मनुष्य), मसीह में एक देह होकर आपस में एक-दूसरे के अंग हैं।'[500] अतः उस प्रदत्त अनुग्रह के अनुसार हमें भिन्न-भिन्न वरदान मिले रहे तो, जिसको जिस प्रकार का कार्य करने का दान अथवा वरदान मिला हो वैसी सेवा वह हर्ष से करते हैं।[501] निष्कपट प्रेम, भाईचारा, अतिथि सत्कार, आदरभाव आदि से कार्य करत रहो।[502] 'अपने सताने वालों को आशीष दो, श्राप न दो।'[503] आपस मे एक सा मन रखो, अभिमानी न हो,[504] जहां तक हो सके अपनी कोशिश से सब मनुष्यों के साथ मेल-मिलाप रखो।[505] 'बुराई से न हारो, परंतु भलाई से बुराई को जीत लो।'[506] यह धर्म सभी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को मनुष्य मात्र रूप में मानता है, उन्हें सहकर्मी एवं परमेश्वर की रचना अथवा खेती कहता है तथा वह वैसा ही सेवक है जैसा प्रभु ने उसे विश्वास दिया है।[507] अतः ईर्ष्या एवं झगड़ा करना व्यर्थ है। इस प्रकार के समन्वयकारी समभाव वाले कथन अन्य स्थल

498. I Cor., 12/4-11
499. Ibid., 12/12-31
500. Rom., 12/3-5
501. Rom., 12/6-8
502. Ibid, 12/9, 10, 13
503. Ibid, 12/14
504. Ibid, 12/16
505. Ibid, 12/17
506. Ibid, 12/21
507. I Cor., 3/3-9

पर भी उपलब्ध होते हैं।[508] सब प्रकार का ज्ञान और भेदों को समझने की शक्ति होने पर भी यदि प्रेम का भाव नहीं है तो वह सब प्रकार का ज्ञान, भविष्यवाणी या नबी होना व्यर्थ है, अधूरा है।[509] सर्वसिद्धि में यह अधूरापन नहीं रहता है। विश्वास आशा और प्रेम ये तीनों स्थायी हैं और प्रेम इनमें सर्वोपरि है। आत्मिक वरदान एवं प्रेम का अनुसरण करने से उन्नति, उपदेश व शांति होती है-यह माना गया है।[510] इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईसाई धर्म सभी के कार्यों के प्रति अंगागी भाव का दृष्टिकोण रखता है। यह सबके शांतिपूर्ण सहअस्तित्व को मान्यता देते हुए परस्पर मेल-मिलाप, प्रेम, समानता के आधार पर उन्नतिमय जीवन को स्वीकृति देता है। इनके अभाव में जीवन अपूर्ण माना है।

देहरूप अन्य जातियाँ जो जगत में आशाहीन एवं ईश्वररहित थे।[511], प्रभु से दूर थे-उनसे भी समन्वय की आशा व्यक्त करते हुए कहा गया है कि 'तुम जो पहले दूर थे जीसस के लहू के द्वारा निकट हो गये हों क्योंकि वही हमारा मेल है, जिसने दोनों को एक कर लिया और अलग करने वाली दीवार को-जो बीच में थी ढ़हा दिया।'[512] इस संबंध में अन्यत्र कथन भी उपलब्ध होते हैं।[513] इसलिये तुम अब विदेशी और मुसाफिर न रहे परंतु पवित्र लोगों के संगी स्वदेशी हो गये।[514]

उपर्युक्त कथनों के अलावा और भी कई कथन अन्य जातियों के प्रति व ख़तनारहित के प्रति परमेश्वर का समान अनुग्रह, दान और विश्वास का द्वार खुलने की बात कही गयी है।[515] यह माना गया है कि परमेश्वर द्वारा 'अन्य जातियों पर भी पवित्र आत्मा का दान उंडेला गया है। क्योंकि उन्होंने उन्हें भाँति-भाँति की भाषा बोलते और परमेश्वर की बड़ाई करते सुना।'[516]

एथेंस में पॉल से इपीक्यूरस, स्टोइक विद्वान तर्क-वितर्क करने लगे क्योंकि उन्हें वह अन्य देवताओं का प्रचारक मालूम होता था। उसमें जिज्ञासा प्रकट करते हुए सभी एथेंसवासी और परदेसी जो

---

508. I Cor., 4/4-5, 6-8
509. Ibid, 13/1-9
510. Ibid, 13/13, 14/1-3
511. Eph., 2/12
512. Ibid, 2/13-15
513. Ibid, 2/15-18
514. Ibid, 2/19
515. Acts, 13/43-49, 14/27, 26/23; John, 12/44-47
516. Acts, 10/45-46

वहां रहते थे, पूछते हैं कि 'क्या हम जान सकते है कि यह नया मत जो तू सुनाता है, क्या है? क्योंकि तू अनोखी बातें हमें सुनाता है, इसलिये हम जानना चाहते हैं कि इनका अर्थ क्या है?'[517] तब पॉल ईश्वर के सबंध में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस परमेश्वर ने पृथ्वी और उसकी सब वस्तुओं को बनाया, वह स्वर्ग और पृथ्वी का स्वामी होकर हाथ के बनाये हुए मंदिरों में नहीं रहता। न किसी वस्तु का प्रयोजन रखकर मनुष्यों के हाथों की सेवा लेता है, क्योंकि वह जो आप ही सबको जीवन और श्वांस सब कुछ देता है।[518] 'उसने एक ही मूल से मनुष्यों की सब जाति पृथ्वी पर रहने के लिये बनायी है और ठहराये हुए समय और निवास के क्षेत्रों को इसलिये बाँधा है कि, वे परमेश्वर को ढूंढे, क्योंकि वह हममे से किसी से दूर नहीं।.... इसलिये परमेश्वर अज्ञानता के समयों से आनाकानी करके, अब प्रत्येक जगह सब मनुष्यों को मन फिराने की आज्ञा देता है।'[519] यह वर्णन ईसाई धर्म के प्रेरितों से सहृदयता, धैर्य एवं अन्य धर्मावलंबियों के प्रति सहिष्णुता के भाव का संकेत देता है। शांतिपूर्वक समन्वय के आधार पर तात्विक एकता (परमेश्वर एवं उसका अंशरूप मनुष्य की आत्मा) के माध्यम से ईश्वर का सत्यज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा देना और अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करना भी स्पष्ट होता है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि ईसाई धर्म में अन्य जातियों, अन्य भाषियों का अर्थ वे जातियां माना जा सकता है जो कि ईसाई धर्म को नहीं मानती है। अन्य धर्मों को मानती हैं। वे ईश्वर का स्वरूप जीसस के रूप में नहीं मानती हैं तथा जो जातियां इस्रायल एवं यरूशलम/यहूदी देशों की सीमा क्षेत्रों से पृथक क्षेत्रों में रहती हैं। इन सबके प्रति मूल परमतत्व के आधार पर समभाव को माना गया है। परमेश्वर सबका है और सबका उद्धार अथवा कल्याण करता है। वह जाति, धर्म, क्षेत्र, देशी, विदेशी आदि का अंतर नहीं करता है। नैतिक व सद्गुणी व्यक्ति ही उसके प्रेम का अधिकारी है। सभी भिन्नताएं एवं अनेकत्व देह में अंगों की स्थिति सदृश्य हैं एवं उन सबका महत्व है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न नबी भी उस एक ईश्वर को भिन्न-भिन्न रूप में अभिव्यक्त करते हैं। वह सब ईश्वर के ही शब्द अथवा भाव है। इस संदर्भ में कहा भी गया है कि प्राचीन काल में ईश्वर, बारंबार और विविध रूपों में हमारे पुरखों से नबियों द्वारा बोला था। अब अंत में (इन दिनों) वह हमसे पुत्र जीसस द्वारा बोला है।[520] इस उल्लेख से स्पष्ट है कि मनुष्य जाति के अन्य नबियों अथवा पैग़ंबरी अथवा महापुरूषों की बातों का खंडन करना ईसाई धर्म को स्वीकृत नहीं है। द्वितीय यह है कि काल के अनुसार

---

517. Acts, 17/16-21; 17/22-23

518. Ibid, 17/24-25

519. Ibid, 17/26-30

520. Heb., 1/1-2

परिवर्तन को यह स्वीकार करता है और उसके अनुकूल व्यवस्था को मान्यता देता है। जाति प्रभेद द्वारा भ्रातृत्व प्रेम को (मनुष्य प्रेम) सीमित करना उसे स्वीकार्य नहीं है।[521] भ्रातृ-प्रेम में शत्रु-प्रेम भी सम्मिलित माना गया है। 'अपने शत्रुओं से प्रेम करो.....। इससे तुम अपने पिता की स्वर्गिक संतान बन जाओगे; क्योंकि वह भले और बुरे, दोनों पर अपना सूर्य उगाता तथा धर्मी और अधर्मी दोनों पर पानी बरसाता है।'[522] इस प्रकार सार्वभौमिक भ्रातृत्व के द्वारा वृहद् सामाजिक स्तर पर विश्व समन्वय को स्वीकार किया गया है। सब मानव, पिता-परमेश्वर के पुत्र हैं, ईश्वर आत्मा से संचालित हैं।[523] अतः सभी का उद्धार होना माना गया है। संपूर्ण सृष्टि की मुक्ति की बात कही गयी है।[524]

ईसाई धर्म में धर्म में समभाव से संबंधित विचारों को मान्यता दी गई है। इनमें विश्वास को प्रमुखता दी गयी है। तथापि विश्वास के साथ साथ यह बुद्धि, ज्ञान विवेक (conscience) आदि को भी स्वीकार करता है। परमेश्वर का मार्ग सच्चाई का मार्ग है और उसे पक्षपात रहित सच्चाई से बताना सद्गुरू का लक्षण माना गया है।[525] कहा गया है कि 'मैं तुम्हें ऐसा बोल और बुद्धि दूंगा, कि तुम्हारे सब विरोधी सामना या खंडन न कर सकेंगे।'[526] इस कथन से स्पष्ट होता है कि विश्वास के साथ ही तर्कपूर्ण बुद्धि जिसको खंडित न किया जा सके अथवा जिसके आधार पर आलोचना न की जा सके-को आवश्यक माना गया है। अनुग्रह और सच्चाई के प्रेरक के रूप में मसीह (जीसस) को माना गया।[527] परमेश्वर सत्य मार्ग का अनुसरण करने वाले के निकट स्वीकार किया गया है। कहा गया है कि 'जो सत्य या सच्चाई पर चलता है वह ज्योति के निकट आता है, ताकि उसके काम प्रकट हों कि वे परमेश्वर की ओर से किये गये हैं।'[528] सत्य को स्वतंत्र करने वाला कहा गया है। 'सत्य को जानोगे, सत्य तुम्हें स्वतंत्र करेगा।'[529] ईसाई धर्म में सच्चे विवेक[530] में सत्य ज्ञान एवं विश्वास को अंतर्भूत माना जा सकता है।

---

521. Luke, 10/29-37
522. Matt., 5/44-45
523. Rom, 8/15
524. Ibid, 8/18-21, 22
525. Luke, 20/21
526. Ibid, 21/15
527. John, 1/17; 17/17; 18/37
528. Ibid, 3/21
529. Ibid, 8/32
530. Acts, 23/1

यह संकेत पॉल के इस कथन से मिलता है कि 'मैंने आज तक परमेश्वर के लिये बिल्कुल सच्चे विवेक से जीवन बिताया है'[531] परमेश्वर का धन, बुद्धि और ज्ञान गंभीर है। उसके विचार अथाह और मार्ग अगम है।[532] परमेश्वर को जानने व उसकी दया प्राप्त करने के लिये बुद्धि का नवीन हो जाना अर्थात् उसमें सत्य के आधार पर परिवर्तन को स्वीकार किया गया है। कहा गया है कि सब कुछ उसकी ओर से, उसी के द्वारा, उसी के लिये है।[533] परमेश्वर को अच्छा लगने वाला बलिदान करके चढ़ाओं यही तुम्हारी आत्मिक सेवा है। बुद्धि के नये हो जाने से तुम्हारा चाल चलन, व्यवस्था आदि में भी परिवर्तन होना माना गया है।[534] निर्णय करना बुद्धि का कार्य है, इससे ही न्याय होता है।[535] अतः प्रत्येक बात जैसे विश्वास, वचन, ज्ञान सब प्रकार के यत्नों का विकास करना चाहिये।[536] सच्चाई से परखना चाहिये।[537]

पूर्ण सच्चाई अथवा सत्य में युक्तियां भी परमेश्वर के हथियार के रूप में अंतनिर्हित मानी गयी है। इस संबंध में कहा गया है कि 'परमेश्वर के सारे हथियार बांध लो; कि तुम शैतान-इब्लीश की युक्तियों के सामने खड़े रह सको, क्योंकि हमारा यह मल्लयुद्ध लोह और मांस से नहीं परंतु प्रधानों से और अधिकारियों से, इस संसार के अंधकार के हाकिमों से, और उस दुष्टता की आत्मिक सेनाओं से है जो आकाश में है। इसलिये परमेश्वर के सारे हथियार बाँध लो, कि तुम बुरे दिन में सामना कर सको, और सब कुछ पूरा कर स्थिर रह सको। सो सत्य से अपनी कमर कसकर, धार्मिकता का कवच पहनकर, और पांवों में मेल के सुसमाचार की तैयारी के जूते पहनकर उन सबके साथ विश्वास की ढाल लेकर स्थिर रहो जिससे तुम उस दुष्ट के जलते हुए सब तीरों को बुझा सको।'[538] इन कथनों में सत्य, युक्तियां आदि के प्रयोग को उचित मानते हुए विश्वास के आधार पर परस्पर मेल करने का संदेश दिया गया है।

परंपरागत विधि-विधान, शास्त्रियों का धोखा, दिखावटी व्यवहार कि 'यह नहीं छूना, उसे नहीं छूना, उसे हाथ न लगाना आदि से कोई लाभ नहीं होता है'[539] इनसे चौकस रहने को उचित माना गया

---

531. Acts, 23/1
532. Rom., 11/33
533. Ibid, 11/36
534. Ibid, 12/1-2
535. I Cor., 6/5, 2
536. II Cor., 8/7
537. Ibid., 8/8
538. Eph., 6/11-16
539. Col., 2/21-23

है[540] दुष्कामनाओं, बुरी लालसाओं, लोभ, क्रोध, रोष, बैर, निंदा आदि को नष्ट कर[541] उत्तम आशा[542] व सद्‌गुणी व्यवहार[543] करने पर बल दिया गया है। 'बाहर वालों के साथ सभ्यता का बर्ताव करना'[544] व सहृदयतापूर्ण मेल-मिलाप के द्‌वारा 'ईश्वरीय स्वभाव के समभागी' बनने को महत्व दिया गया है।[545] इसे नयी आज्ञा भी कहा गया है।[546] नयी आज्ञा कहने का अर्थ है कि पुरानी मूसा की आज्ञा के स्थान पर है और सब समयानुसार इसे माना जाना चाहिये।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि ईसाई धर्म में धर्म समभाव के वे सभी मान्य आधार प्राप्त हैं जो धर्म समभाव के लिए आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है।

4.3 इस्लाम धर्म :

इस्लाम धर्म के विषय में चर्चा करने से पूर्व 'इस्लाम' को समझना आवश्यक है। यद्‌यपि अनेक विद्‌वानों ने इस्लाम धर्म के विषय में लिखा है, किंतु उन्होंने अपनी पुस्तकों में आरंभ से अंत तक कहीं भी 'इस्लाम' को परिभाषित नहीं किया है।[547] इसका अर्थ यह नहीं माना जाना चाहिये कि 'इस्लाम' अपरिभाषेय है या उसको परिभाषित करने की चेष्टा नहीं की गयी है।

इस्लाम की सर्वाधिक प्रचलित परिभाषा के अनुसार उसका मौलिक अर्थ ईश्वर के प्रति आज्ञाकारिता और उसके आदेशों के प्रति समर्पण/स्वेच्छापूर्वक[548] अधीनता स्वीकार करना तथा पूर्ण कर्त्तव्य परायणता[549] है। क़ुरआन मज़ीद में भी इस्लाम का अर्थ ईश्वर के आगे आत्मसमर्पण[550] किया गया

---

540. Luke, 20/46; Col., 2/8
541. Col., 3/5, 8
542. II Thess, 2/16-17
543. Phil, 4/8; Pet., 1/3
544. I Thess., 4/12
545. II Pet., 1/4
546. I John. 2/7
547. Engineer, Asgar Ali, The Islamic State; Khuda Baksh, Politics in Islam 2009; इब्ने ख़लदून, अब्दुर्रहमान, अनु.-रिज़वी सैय्यद अतहर, इब्ने ख़लदून का मुक़द्‌दमा
548. क़ुरआन मज़ीद, पारिभाषिक शब्दावली, पृ. 1224
549. Moudoodi, Syed Abul Ala, Fundamentals of Islam, P. 21.
550. क़ुर. मज़ीद, सूरा 3/19

है। अन्य शब्दों में इसे ईश्वर की इच्छा के समक्ष मानव इच्छा का पूर्ण समर्पण भी कहा जा सकता है। इस प्रकार इस्लाम का अर्थ ईश्वर की इच्छा एवं आदेशों का बिना किसी विवाद या संदेह के पालन करना है।

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जिन आदेशों के प्रति आज्ञाकारिता/कर्त्तव्यपरायणता को इस्लाम कहा गया है, वे क्या है? इस्लाम में ये आदेश ईश्वरीय (अल्लाह के) माने गये हैं। इन्हें 'कुन'/हो जा (शब्द कहने)[551] के रूप में माना है और वह फ़यकूनु[552] अर्थात् हो जाता है। इसी संदर्भ में कहा है कि जब वह किसी काम को करने का फैसला करता है तो बस उसे फ़र्मा देता है। अर्थात् उस कार्य का आदेश/आज्ञा दे देता है। इन आदेशों पर स्वेच्छापूर्वक या विवश्तापूर्वक (खुशी या लाचारी से) सभी जमीन व आसमान वालों के द्वारा ईमान लाना, आज्ञापालन करना-अल्लाह का दीन (दीनिल्लाहि)[553] (ईश्वरीय धर्म) कहा गया है। इसे ईश्वर द्वारा पसंद किया गया धर्म माना गया है। कहा भी है कि 'मैंने तुम्हारे लिये दीन इस्लाम को पसंद किया।'[554] यह दीन इस्लाम-ईश्वराज्ञा का, विश्वासपूर्वक पालन करना ही है।

1. ऐतिहासिक स्वरूप :

यहूदी धर्म एवं ईसाई धर्म के पश्चात् अरब में पैग़ंबरी अथवा सेमेटिक धर्म के रूप में इस्लाम धर्म का विकास हुआ। इस धर्म के प्रवर्त्तक हज़रत मुहम्मद हैं। इनका जन्म क़ुरेशी वंश के दंपति-अब्दुला-आमना के यहां 20 अप्रैल 571 A.D. में मक्का में हुआ।[555] इनकी गर्भावस्था में ही पिता का देहांत हो जाने से धनहीन माता ने साद वंशीय महिला 'हलीमा' को इनके पालन-पोषण के लिये सौंपा। 6 वर्ष की आयु में पुनः माता के सानिध्य में तथा माता के देहांत के पश्चात् क्रमशः अपने पितामह अब्दुलमतलीम एवं चाचा अबूतालिब के स्नेहपूर्ण संरक्षण में अपना बाल्यकाल बकरियाँ, ऊँट आदि चराते हुए एवं खेलते

---

551. क़ुर. शरीफ़ सूरा 3/47

552. क़ुरआन शरीफ़, सूरा 3/47

553. वही, सूरा 3/83, 59

554. 'रज़ीतु लकुमुल-इस्लाम दीनन्' - वही, 5/3

555. Glimpses of World Religions, P. 195

हुए व्यतीत किया। 12 वर्ष की आयु में चाचा अबूतालिब के साथ अनुनय व जिद्दपूर्ण आग्रह कर व्यापार हेतु निकल पड़े। इस यात्रा में मुहम्मद की भेंट ईसाई तपस्वी बहेरा (Buhera)[556] से हुई।

25 वर्ष की आयु में कुरैशी वंश की समृद्धिशाली 40 वर्षीय विधवा महिला ख़दीजा ने इनके सद्गुणों व व्यवहार चतुरता से प्रभावित होकर अपना गुमास्ता बनाकर व्यापार करने हेतु सीरिया भेजा। यात्रा से लौटने पर ख़दीजा ने विवाह प्रस्ताव रखा। हज़रत मुहम्मद ने उसे स्वीकार करते हुए ख़दीजा से विवाह कर लिया।[557]

40 वर्ष की आयु में मक्का के पास हीरा (Hira) नामक गुफा में ध्यान करते हुए अनपढ़ मुहम्मद को देवदूत जिब्रील के द्वारा प्रथम प्रकाशना आदेश रूप में सुनाई दी।[558] उस समय मक्का में कई कुरीतियां प्रचलित थीं। जैसे बहुदेव उपासना (शिर्क़), मूर्तिपूजा (बुतपरस्ती-मक्का में 360 देवताओं की उपासना मानी गयी हैं)।[559] आदि। इनके विरुद्ध बग़ावत कर मुहम्मद ने क़ाबा में एक ही ईश्वर या अल्लाह को मानते हुए एकेश्वरवाद, (तौहीद) की पुनः स्थापना की।[560] यहीं से उन पर क़ुरआन उतरना[561] और उनके पैग़ंबरी कार्यों का प्रारंभ माना गया है।

53 वर्ष की आयु में चाचा अबु तालिब एवं ख़दीजा के देहांत के पश्चात् कुरैशियों के द्वारा उनकी (मुहम्मद) हत्या के प्रयोजन की सूचना मिलते ही उन्होंने मक्का से मदीना प्रस्थान किया। इस देशत्याग को हिज़रत कहा गया है।[562] अरब को एक राष्ट्र, एक धर्म के रूप में संगठित करने एवं पारस्परिक कलह शांत करने के लिये कई राजनैतिक, सामाजिक स्तर पर इस्लामिक व्यवस्था की स्थापना के लिये इन्होंने युद्ध किये तथा अन्य जातियों (ईसाई, इस्रायली, यहूदी) को पराजित किया।[563] दिव्योपदेश के आधार पर इस्लाम धर्म की स्थापना के बाद 63 वर्ष की आयु में हज़रत मुहम्मद का देहांत

---

556. Ibid, P. 196

557. Ibid., 196

558. कुरआन शरीफ़, नन्द कुमार अवस्थी (अनु.), सूरा 96, फुटनोट, पृ. 1013; Pickthall, Mohammad Marmaduke (trans.), The Meaning of the Glorious Koran, P. X-xi; Glimpses of World Religions, P. 197-198.

559-560. कुर शरीफ़, सूरा, 2/164-165, फुटनोट, पृ. 59; सूरा 103, फुटनोट पृ. 553, 555

561. वही, सूरा 20/1

562. वही, फुटनोट, पृ. 553, 555

563. वही, सूरा 29/46, 57; 30/1-4, फुटनोट, पृ. 671, 673; 33/9-30

हुआ। कालांतर में इसके दो मुख्य संप्रदाय विकसित हुए जिन्हें शिया और सून्नी कहा जाता है।

2. साहित्य :

इस्लाम में क़ुरआन को ईश्वरप्रदत्त (अल्लाह प्रदत्त) एक अरबी धर्मग्रंथ माना गया है।[564] कहा गया है कि 'यह खुली किताब की आयतें हैं। हमने इस क़ुरआन को अरबी भाषा में उतारा, ताकि तुम (अपनी मादरी ज़बान में) उसे बख़ुबी समझ सको।'[565] अन्य स्थलों पर भी इस प्रकार के कथन उपलब्ध होते हैं।[566] यह हज़रत मुहम्मद के मुख से अरबवासियों को सन्मार्ग पर लाने के लिये, परोपकार एवं मंगलमय पुण्य कार्यों के संदेश द्वारा सदाचारहीनता, अज्ञान, क्रूरकर्म, हत्या आदि से विमुख कर सत्पथ पर आरूढ़ करने के लिये प्रस्फुटित हुआ या उतारा गया। इस संबंध में कई कथन कहे गये हैं।[567] इस्लाम में यह विश्वासियों के लिये मार्गदर्शक और स्वास्थ्यप्रद माना गया है।[568]

क़ुरआन अपने संपूर्ण रूप में हज़रत मुहम्मद पर एक साथ नहीं उतरा वरन् उनकी चालीस वर्ष की आयु से 63 वर्ष की आयु तक 23 वर्षों में थोड़ा-थोड़ा करके उतरा। अतः प्रारंभ में ही इसका संपूर्ण पुस्तक रूपेण संग्रथित होना संभव नहीं है। इसके वाक्य मक्का और मदीना में उतरने के कारण 'मक्की' और 'मदनी' में विभक्त हैं। यद्यपि क़ुरआन संग्रह में इस भेद पर ध्यान नहीं दिया गया है। क़ुरआन से ज्ञात होता है कि इसका कोई क्रमबद्ध लेखन नहीं है। प्रथम सूरा मक्की है तो द्वितीय सूरा बकर से पांचवीं सूरा माईद मदनी है। पुनः अनआमि और अऽराफि मक्की है।[569]

हज़रत मुहम्मद उनकी मृत्यु से सत्रह दिनों पूर्व तक आयतों के उतरने तक जो दिव्योपदेश दिये, उन्हें उनके अनुयायियों (शिष्यों) ने भिन्न-भिन्न तालपत्रों, चमड़े के टुकड़ों, लकड़ियों, शिलाओं पर लेखबद्ध कर उनकी आज्ञा से पृथक-पृथक सूराओं (अध्यायों) में विभक्त कर दिये थे। जो आयत अनुपयुक्त प्रतीत होती है उसे अल्लाह रद्द कर देता है।[570] यह क़ुरआन में स्पष्टतः कहा गया है। अतः

---

564. क़ुर. शरीफ़, सूरा 20/1, 3; 26/192; 56/77-80

565. वही, सूरा 12/1-2

566. वही, सूरा 41/1; 15/1; 26/192, 194

567. वही, सूरा 41/3-5, 6-8, 26-27, 33-46

568. वही, सूरा 41/41-44,

569. क़ुर. शरीफ़ पठन क्रमांक, पृ. 1019

570. वही, सूरा 2/106

देश-काल, परिस्थितियों के अनुसार क़ुरआन के कई वाक्य जो पहले सम्मानीय ठहराये गये थे उन्हें बाद की आज्ञाओं से परिवर्तित कर दिये जाने को अनुचित नहीं माना गया है। मुख़्तार पासा ने इस संदर्भ में उल्लेख किया है कि 60 आयतें तो मुहम्मद साहब के जीवनकाल में ही रद्द कर दी गयी थी।[571]

ख़लीफा अबुबकर ने सर्वप्रथम 114 सूराओं का कुरआन तैयार करवाया। जिन लोगों को आयतें कंठस्थ थी उन्होंने अपनी-अपनी स्मरण शक्ति के आधार पर लिखा। इससे कई भिन्न-भिन्न क़ुरआन मक्का, मदीना व ईराक में चल पड़े। तब तृतीय ख़लीफा उस्मान ने प्रथम ख़लीफा की सुरक्षित प्रति को प्रामाणिक घोषित कर अन्य क़ुरआनों की प्रतियों को मंगवाकर जलवा दिया ताकि एक ही क़ुरआन प्रामाणिक रहे।[572]

क़ुरआन में कुल 114 सूराएं तथा 6666 वाक्य या आयतें हैं। 30 सिपारे/पार है। इसकी आयतों का मूल स्वरूप आदेशात्मक है। इन आदेशों का पालन व्यक्ति के व्यवहार में आवश्यक माना गया है। यह व्यावहारिक स्थापना ही उसका मुख्य प्रयोजन कहा जा सकता है। यह केवल धर्मग्रंथ ही नहीं है जो पांच वक्त नमाज़ पढ़ने या रोज़े आदि का विधान करती हो।.वस्तुतः इसके माध्यम से संपूर्ण समाज व्यवस्था एवं जीवन संहिता को स्पष्ट किया गया है।

कुरआन के अतिरिक्त हज़रत मुहम्मद की अन्य नसीहतें, कहावतें, रियायतें 'हदीस' कहलाती है। 'हदीस' को इलाही (ईश्वरीय) नहीं माना जाता है। 'हदीस' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है बात बयान करना। इस रूप में हदीस का अर्थ इतिहास, परंपरा विशेषकर मुहम्मद की वाणी एवं कर्मों के संबंध में है।[573] मोहदसीन के दृष्टिकोण में 'हदीस' हज़रत रसूल सल्लम के कौल ही राह हाल और मक़री को कहते हैं, अर्थात् हुज़ुर का क़ौल भी हदीस है, कार्य का वर्णन भी हदीस है और हुज़ुर की तक़रीर भी हदीस है। तक़रीर का अर्थ है कि हुज़ुर सल्लम के सामने (हज़रत मुहम्मद)-उदाहरणतया किसी व्यक्ति ने कोई-कोई कार्य किया। आपने उस कार्य को देखा, सुना और उसे आपने मना (अस्वीकार) नहीं किया। आपका यह सक़ूत (चुप रहना) तक़रीर कहलाता है।[574] इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि हज़रत मुहम्मद का

---

571. Mukhtar Pasa, Mohammad, Wisdom of the Quran, P. 45, उद्धृत-सांवलिया, बिहारीलाल, विश्व धर्मदर्शन, पृ. 252

572. सांवलिया, बिहारीलाल, विश्व धर्म दर्शन, पृ. 253

573. Dictionary-English, Persion and Arabic, Vol. 1, 470

574. मिश़कावाह शरीफ़ कामिल, अनु. - हज़रत रफ़ीक साहब, पृ. 12, हिन्दी अनु. - पीर सा. जनाब नज़रुल, ख़ांजीपीर, उदयपुर

संपूर्ण चरित्र, वाणी और किसी भी प्रतिक्रिया मे कोई टिप्पणी नहीं करना या उसे उचित अथवा अनुचित नहीं बताया जाना आदि सभी हदीस के अंतर्गत ही आता है। हज़रत मुहम्मद के आचार एवं उनकी वाणी का संकलन धीरे-धीरे हुआ है।[575]

हदीस मुख्य रूप से बुख़ारी, मुस्लिम तिरनदी, अबू दाऊद, निस्साई, इब्ने माज्ज़ा नामक संकलनों में उपलब्ध है। प्रारंभ में आम मुसलमानों को लाभ पहुंचाने के लिये जो आहादीस का संग्रह किया गया उसका नाम 'मिस्वाह' रखा। इस पुस्तक से इस्लाम धर्मावलंबियों को लाभ हुआ किंतु 'मिस्वाह' के क्रम में कुछ त्रुटियों को देखते हुए नरेर के प्रसिद्ध ज्ञानी शेख बल्लीउद्दीन मोहम्मद बिन अब्दुल्लाह ख़तीब उमरा ने अपने अथक परिश्रम से उन त्रुटियों को दूर कर आहादीस का एक श्रेष्ठ संग्रह कर उसका नाम -'मिश़कावह अल मसाबीह' रखा।[576] अन्य कई मुस्लिम विद्वानों ने हज़रत मुहम्मद के कथनों का संग्रह हदीस लिखने का कार्य किया है। इसके परिणामस्वरूप वर्तमान में हमें संपूर्ण हदीस संग्रह के रूपमें 'मिश़कावह' उपलब्ध होता है। हदीस क़ुरआन की प्रथम व्याख्या कही जा सकती है। इसके द्वारा क़ुरआन का अर्थ कुछ सीमा तक स्पष्ट हो सका है।

3. धार्मिक प्रत्यय :

क. परमसत्ता/परमतत्व :

इस्लाम ईश्वरवादी धर्म है। इस धर्म के अनुसार अल्लाह सारे संसार को पैदा करने वाला (सृष्टा) है, जो कुछ रात और दिन में क़ायम हैं, उसी के हैं।[577] वह पालनहारा[578], निहायत दयावान[579], इंसाफ़ करने वाला व शांतिप्रिय[580], शक्तिवान एवं सामर्थ्यवान है।[581] अतः कहा गया है कि 'बेशक अल्लाह ही ने आसमान और जमीन को थाम रख है कि वे टल न जाएं (स्थानच्युत) और अगर टल जाएं तो फिर

---

575. इब्ने ख़लदून का मुक़द्दमा, अनु.-सैय्ययद अतहर अब्बास रिज़वी, अनुवाद प्रस्तावना, पृ. 10

576. मिश़कावह शरीफ़ कामिल, पृ. 1, अनु.-पीर सा.ए जनाब नज़रुल खांजीपीर, उदयपुर।

577. क़ुर. शरीफ़, सूरा 6/13-14; 11/7; 40/61-67

578. वही, सूरा 1/1; 2/21

579. वही, सूरा 1/2, 2/21, 16/7

580. वही, सूरा 11/84, 85; 4/58

581. वही, सूरा 22/6

उसके (अल्लाह) सिवाय कोई और नहीं जो उनको थाम सकें। वह बेशक बड़ा सहनशील और बख़्शने वाला (माफ़ करने वाला) है।'[582] जो कुछ तुम्हारे दिल में है जो कुछ ज़मीन तथा आसमानों में है, अल्लाह सब जानता है।[583] वह हर चीज़ पर क़ादिर (समर्थ) है।[584] वह अन्याय नहीं करता, वह न्याय का मालिक बदला एवं दंड देने वाला माना गया है।[585] वह अल्लाह एक (अद्वितीय) है।[586] 'अल्लाह ही सत्य है और उसके सिवाय जिनको तुम पुकारते हो सब असत्य है। अल्लाह ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि है।'[587] वही सबका आधार है, उसका कोई आधार नहीं (सब उसके मुहताज़ हैं, लेकिन वह बेनियाज़ (निःस्पृह) है, किसी का मुहताज़ नहीं है)'[588] अर्थात् सब कुछ उस पर निर्भर करता रहता है वह किसी पर निर्भर नहीं रहता है।

अल्लाह को ही एकमात्र उपासना योग्य माना गया है। कहा गया है कि 'अल्लाह के सिवाय कोई इलाह (पूज्य) नहीं है, वह ज़िंदः (चैतन्य और अविनाशी) व जगत को संभालने वाला है।'[589] 'वही एक पूज्य है।'[590] उसके अतिरिक्त कोई तत्वदर्शी और माबूद (पूजित या वंदनीय) नहीं है।[591]

'शिर्क़ (मूर्तिपूजा) से अल्लाह पाक़ है और ऊपर है।[592] अल्लाह के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की या मूर्ति की पूजा करना अल्लाह के नसीहत के विरुद्ध माना गया है।[593] कहा गया है कि 'अल्लाह ने फ़रमाया अलबत्ता जो लोग बछड़े को (पूजने के लिये) बना बैठे उन पर उनक परवरदिग़ार का ग़ज़ब (प्रकोप) पहुंचेगा और दुनियां की ज़िंदगी में ज़िल्लत (कठिनाइयां) पड़ेगी और झूठ बांधने वालों को हम किसी प्रकार सज़ा दिया करते है।'[594]

---

582. वही, सूरा 35/41; 5/101; 7/153
583.-584 वही, सूरा 3/29; 2/32, 33; 115-116; 4/42; 5/97, 99, 5/7
585. वही, सूरा 22/10; 1/3; 3/30, 106-109; 5/8-9; 16/90, 111
586. वही, सूरा 112/1
587. क़ुर. मज़ीद, सूरा 31/30; 18/44
588. वही, सूरा 112/2
589. वही, सूरा 2/255; 3/1-2
590. वही सूरा, 16/51; 20/108
591. वही, सूरा 3/64; 5/73; 9/129; 20/8; 40/3, 64-65; 70/2
592. वही, सूरा 70/1
593. वही, सूरा 10/18; 12/108; 17/56-57
594. वही, सूरा 7/152

जो अल्लाह की आयतों को झुठलाये और उनसे कतराये वह सबसे बड़ा ज़ालिम है।[595] उन पर गज़ब पड़ेगा, ज़िल्लत पड़ेगी।[596] वह बदलां लेने में बड़ा समर्थ है।[597] अल्लाह ईमानदारी को हिदायत (पथ प्रदर्शन) व नसीहत देने वाला माना गया है। वह ईमानवालों का मददगार है।[598] वह हर चीज़ का जानकार है, तुम जहां कहीं हो वह तुम्हारे साथ अभिन्न है।[599] 'अल्लाह के इल्म (ज्ञान) में हर चीज़ समायी है।[600]

अल्लाह के सगुण साकार रूप में अभिव्यक्त करने वाले कथन उपलब्ध होते हैं। इस संबंध में कहा गया है कि बेशक़ वह सब कुछ सुनता-देखता है।'[601] उसके सब नाम अच्छे हैं (99वें नाम वर्णित हैं)।[602] उसी का नाम है रहमान जो अर्श (आज़म या सिंहासन, तख़्त) पर विराज रहा है।'[603] वही है जिसने छः दिनों में आसमान और ज़मीन को बनाया, फिर अर्श (तख़्त) पर कायम हुआ।[604] वह सारे संसार का प्रबंधकर्त्ता है।[605] अन्यत्र कई स्थलों पर उसे (अल्लाह) सृष्टा, नष्ट करने वाला एवं पालनकर्त्ता माना गया है।[606] क़ुरआन की यह आयत 'जो फ़िरिश्ते (देवदूत) तख़्त को उठाये हुए हैं और जो तख़्त के आस-पास घेरा बांधे हुए हैं, अपने परवरदिग़ार की तारीफ़ के साथ तस्बीह (जप, स्तुति) करते हैं।[607] ये कथन स्पष्टतः ईश्वर अथवा अल्लाह के साकार स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं।

इस्लाम धर्म में जहां एक ओर अल्लाह के सगुण व साकार के संबंध में आयतें उपलब्ध होती हैं

---

595. क़ुर. शरीफ़, सूरा 6/157, 6/21
596. वही, सूरा 7/152
597. वही, सूरा 5/95, 7/41
598. वही, सूरा 5/101; 8/20, 29, 45; 11/46
599. वही, सूरा 57/3-4
600. वही, सूरा 65/12
601. वही, सूरा 40/56; 31/28
602. वही, सूरा 20/8; 7/180
603. वही, सूरा 20/5
604. वही, सूरा 10/3; 32/4, 57/4
605. वही, सूरा 13/2
606. वही, सूरा 18/45-49; 16/70
607. वही, सूरा 40/7

वहीं दूसरी ओर उसके अदृश्य अथवा अदृष्ट होने का निर्गुणी धर्म भी अभिव्यक्त होता है। जैसेः 'आंखे उसको नहीं पा सकती और वह आंखों को पा लेता है। वह बड़ा सूक्ष्मदर्शी और बेहद ख़बरदार है।'[608] वह एक (अद्‌वितीय) है, आधारहीन है, अजन्मा, अनुपम है।[609] अर्थात् अल्लाह के रूप, गुण व नाम की कोई तस्वीर अंदाज़ नहीं की जा सकती है, यह माना गया है।[610]

इनसे यह स्पष्ट होता है कि इस्लाम धर्म अल्लाह के अतिरिक्त किसी को भी ईश्वर नहीं मानता है। अल्लाह ही एकमात्र जीवन, सत् और सर्वाधार है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सृष्टा, परमन्यायी, क्षमाशील, ईमानप्रिय, दंडदाता, बदला लेने वाला, निस्पृह, अदृष्ट सत्ता के रूप में माना गया है। एकेश्वरवाद इसका मूल सिद्‌धांत है। इस सिद्‌धांत के फलस्वरूप मूर्तिपूजा और अनेकेश्वरवाद का खंडन किया गया है।

इस्लाम धर्म में फ़िरिश्तों[611] अथवा देवदूतों को अल्लाह का अमानतदार (विश्वसनीय) व आज्ञापालक स्वीकार किया गया है। ये अदृश्य अथवा सूक्ष्म शरीर माने गये हैं।[612] ये मनुष्य के कार्यों का लेखा रखते हैं। इस संबंध में कहा गया है कि वे तुम्हारी सब चाल लिखते जाते हैं।[613] इस्लाम धर्म में ये अल्लाह (ईश्वर) के अधीन उसके आदेश का पालन करते हुए भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। जैसे- ज़िब्राइल[614], यमदूत मीक़ाईल (मौत का फ़रिश्ता) जो जान निकालता है आदि।[615] (पवित्र आत्मा) जिसने अल्लाह के हुक्म से क़ुरआन उतारी है। अल्लाह का ज्ञान सब फ़रिश्तों से अधिक है।[616] इस प्रकार अल्लाह को सर्वश्रेष्ठ माना गया है तथ देवदूतों अथवा फ़रिश्तों को उससे कम श्रेष्ठ माना गया है।

---

608. वही, सूरा 6/103

609. वही, 112/1-4

610. क़ुरआन शरीफ़, फुटनोट, सूरा 112/4, पृ. 1007; 'Nothing can be compared either with his essence or with his attributes,' -Wahed Hosain, 'The conception of the Divine Being in Islamic Philosophy.' The Vishva Bharti quartery, Jan. 1930, P. 379

611. क़ुर, शरीफ़, सूरा 26/193; 69/40, 81; 20/116-123

612. वही, सूरा 33/9; 34/40

613. वही, सूरा 10/21; 40/23

614. वही, सूरा 2/87, 97-98

615. वही, सूरा 6/61; 32/11

616. वही, सूरा 2/30-33; 3/18

इस्लाम धर्म में अवतार को स्वीकृति प्रदान नहीं की गयी है तथापि अल्लाह द्वारा 'नबियों' (पैग़ंबर या रसूल)[617] को भेजा जाना स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। कहा गया है कि लोगों ने जब विभेद (मतभेद) किया तो अल्लाह ने 'नबियो' को भेजा जो शुभ सूचना देते और सचेत करते थे ताकि जिन बातों में लोग विभेद कर रहे हैं (नबियों के साथ उतारी गयी क़िताब के आधार पर) वे उसका लोगों के बीच फैसला कर दें। इसमें (क़िताब में) विभेद उन्हीं लोगों ने किया जिन्हें वह दी गयी थी, इसके बाद खुली निशानियां उनके पास आ चुकी थीं, परस्पर ज्यादती करने के लिये ऐसा किया। अल्लाह ने उन्हें अपनी अनुज्ञा से वह सच्चाई का मार्ग दिखा दिया, जिसमें लोगों ने भतभेद किया था।[618] अल्लाह 'नबियों' से इक़रार (वचन) लेता है[619] और जो कोई उसके 'रसूल' (अल्लाह द्वारा भेजे गये नबी) का कहना मानते उसके गुनाहों को वह (अल्लाह) क्षमा कर देगा।[620] नबी और ईमान लाने वाले लोगों को अल्लाह के सबसे अधिक निकटवर्ती मानते हुए, अल्लाह को उनका संरक्षक-मित्र कहा गया है।[621] ऐसे कई पैग़ंबरों के भेजे जा चुकने और कुछ का बयान करना तथा कुछ का बयान नहीं किया है – को माना गया है तथा इन पैग़ंबरों से अल्लाह इस प्रकार बातचीत करता है जैसे की जाती है।[622] नबियों पर ईमान लाना सच्चाई और अल्लाह के प्रति वफ़ादारी है।[623]

वफ़ादारी को मानते हुए कहा गया है कि 'हे हमारे रब' (अल्लाह) उन लोगों में उन्हीं में से एक 'रसूल' उठा जो उन्हें तेरी 'आयतें' सुनाएं, उन्हें 'क़िताब और हिक़मत (तत्वदर्शिता) की शिक्षा दे और उन्हें शुद्धता एवं विकास प्रदान करें। निःसंदेह तू प्रभुत्वशाली और तत्वदर्शी है।'[624] हज़रत इब्राहिम की इस प्रार्थना के परिणाम के रूप में हज़रत की पैग़ंबरी को माना गया है।[625]

---

617. कुर. मज़ीद, सूरा 21/107; 7/158; 34/28

618. वही, सूरा 2/213

619. वही, सूरा 33/7

620. वही, सूरा 33/71

621. वही, सूरा 3/68

622. वही, सूरा 4/163-165

623. वही, सूरा 2/177

624. वही, सूरा 2/129

625. वही, सूरा 2/129, फुटनोट 36, पृ. 146 एवं कुरआन शरीफ़, पृ. 51

19—259 Min. of H.R.D./2005

हज़रत मुहम्मद को अल्लाह द्वारा भेजे गये रसूल या पैग़ंबर के रूप में माना गया है, जो अल्लाह का संदेश लोगों तक पहुंचाते हैं और सचेत करते हैं।[626] उन्हें लौकिक मनुष्यों की भांति ही जीवन व्यतीत करने वाला माना गया है।[627], अमर नहीं माना गया है।[628] तथापि उनके संदेश ईश्वर (अल्लाह) के संदेश हैं अतः अल्लाह पर, रसूल पर और उस प्रकाश पर ईमान लाने वालों को ही सफल और ईमानवाला माना गया है।[629] हज़रत मुहम्मद का अनुसरण अल्लाह से प्रेम करना है।[630] अल्लाह और रसूल की अवज्ञा करना ज़हन्नुम और इनकी आज्ञापालन करने वाले के लिये ज़न्नत है।[631] रसूल की आज्ञा का पालन करना अल्लाह की आज्ञा का पालन करना माना गया है। कहा गया है कि 'जिसने रसूल का आदेश माना वास्तव में उसने आदेश माना।'[632] 'अल्लाह का हाथ उनके हाथों के ऊपर है जिसने रसूल का हुक्म माना उसने अल्लाह का हुक्म माना।[633] अन्यत्र भी अल्लाह व रसूल (पैग़ंबर, ईशदूत, नबी)-दोनों के फैसले तथा आज्ञापालन को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।[634] इससे यह स्पष्ट होता है कि नबी या पैग़ंबर जो मनुष्य के रूप में ही होता है लेकिन उस पर अल्लाह की विशेष कृपा होती है। इस विशेष कृपा के कारण ही वह अन्य लोगों को अल्लाह के संदेश सुनाता है तथा उनका पथ प्रदर्शन करता है। इसके अतिरिक्त अल्लाह व नबी दोनों की आज्ञा पालन के परिणाम उत्तम माने गये हैं। उनमें कोई अंतर नहीं किया गया है।

हज़रत मुहम्मद पर अल्लाह की विशेष कृपा होने के संबंध में कई आयतें उपलब्ध होती हैं। कहा गया है कि 'अल्लाह का तुम पर बहुत बड़ा अनुग्रह है इसलिये तुम्हें वे (लोग या गिरोह) कोई हानि नहीं पहुंचा रहें हैं वे अपने को ही पथभ्रष्ट कर रहें हैं।[635] अल्ला ने उनकी विशेष रक्षा की[636], अदृश्य सेना से

---

626. वही, सूरा 13/60; 33/40; 35/22, 23; 4/79

627-628. वही, सूरा 17/93; 19/110; 21/7, 8; 25/20

629. वही, सूरा 7/157; 64/8

630. वही, सूरा 3/31

631. वही, सूरा 4/13, 14

632. वही, सूरा 4/80

633. वही, सूरा 48/10, फुटनोट 11 पृ. 940

634. वही, सूरा 4/59, 64, 69, 70; 5/92; 24/47-54; 33/71

635. वही, सूरा 4/113

636. वही, सूरा 5/67; 8/30

सहायता की।[637] अन्य लोगों की अपेक्षा उन्हें विशेष प्रशंसापूर्ण स्थान (स्तुति स्थान) और अधिकार प्रदान किये जाने का वर्णन भी मिलता है।[638]

इस विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस्लाम धर्म में अल्लाह एवं नबी (रसूल या पैग़ंबर) को परस्पर संबद्ध माना गया है। ये पैग़ंबर या नबी वही कहते हैं जो अल्लाह ने उन्हें प्रदान किया है।[639] वे कोई अपनी इच्छा से काल्पनिक बात नहीं कहते हैं। अल्लाह (ईश्वर) ने उनके हाथ में दीन को (धर्म को) पूर्ण कर दिया और अपनी नेमतें (कृपाएं) पूरी कर दी।[640] अतः नबी या पैग़ंबर अल्लाह की कृपा का प्रतिनिधि रूप है। इस प्रकार की धारणा को अथवा अल्लाह, रसूल और उस प्रकाश (ज्योति) पर ईमान ले आओ जो अल्लाह ने उतारा है[641] तथा पूरी दुनियां के लिये रहमत (कृपा) करना[642] अवतारवाद की अवधारणा के अंतर्गत मानना अनुचित प्रतीत नहीं होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में ईश्वर को अल्लाह के रूप में मानते हुए सृष्टा, अदृष्ट, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, निर्णायक, क्षमाशील, प्रेममय माना गया है। एकेश्वरवाद को स्वीकार करते हुए नबी, पैग़ंबर एवं हज़रत मुहम्मद को 'स्तुत्य' एवं नेमतों (कृपाओं) से मालामाल करने[643] का विचार भी माना गया है जो अवतार सिद्धांत के अनुकूल है।

ख. शरीरेतर चेतना :

इस्लाम धर्मग्रंथ में चेतन तत्व के लिये रूह[644] एवं कई स्थलों पर जान डालना अथवा जीवित करना[645] शब्दों का प्रयोग मिलता है। कहा गया है कि जब तुम बेज़ान थे तो उसने (अल्लाह ने) तुममें जान डाली।[646] अर्थात् तुम निर्जीव थे उसने तुम्हें जीवित किया। मिट्टी से आदमी को पैदा किया तथा उसमें अल्लाह ने अपनी रूह फूंक दी (अपनी आत्मा डाल दी)।[647] सब फ़िरिश्तों (अल्लाह के बंदे, देवदूतों)

---

637. वही, सूरा 9/26

638. वही, सूरा 17/79; 21/107; 34/28; 49/1-5; 53/6-18

639. वही, सूरा 11/63; 28/14; 21/74, 79; 2/120; 12/108

640. वही, सूरा 5/3

641. कुर. मज़ीद, सूरा 64/8

642. वही, सूरा 21/107

643. वही, सूरा 17/79; 93/3-8

644. वही, सूरा 2/87; 17/85

645-647. वही, सूरा 2/28; क़ुरआन शरोफ़, सूरा 2/28

ने उसे सज़्दा (झुके, दंडवत) किया किंतु इब्लीस (शैतान) ने अपने घमंड के कारण उसे (अल्लाह की रचना-आदम को) सज़्दा नहीं किया।[648] मरियम व मसीह के संदर्भ में भी अल्लाह के 'कलमा' (फ़रमान, हुक़्म या आज्ञा) के रूप में एक आत्मा (पवित्र आत्मा) भेजे जाने का एवं आकाश तथा धरती पर जो कुछ है, सब उसी का (अल्लाह का)[649] है उल्लेख मिलता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि इस्लाम धर्म में मानव के दो तत्वों को स्वीकार किया गया है। एक तो मिट्टी से बना नश्वर शरीर और दूसरा ईश्वर तत्व-अल्लाह द्वारा प्रदत्त रूह है जिसे आत्मा की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार जीवधारी[650] के जीव या आत्मा (जीवात्मा) को अल्लाह के आत्मा (रूह) से संबद्ध माना गया है। इससे स्पष्ट होता है कि रूह (आत्मा) स्वयं अविनाशी, अजर-अमर ईश्वर तत्व (अल्लाह) के रहने के कारण अविनाशी अथवा अजर-अमर है। चूंकि ईश्वर का/अल्लाह द्वारा उसी की (अल्लाह) आत्मा मानव में है और वह अल्लाह मानव की धड़कती रग (शाहरग या जीवन शिरा) से भी अधिक निकट[651] है अतः ईश्वर मानव से सर्वथा परे या अतीत भी नहीं है।

यह भी कहा गया है कि 'जितने जीव आसमानों में और ज़मीन में (पर) हैं सब अल्लाह ही के आगे सिर झुकाते हैं और फ़िरिश्ते भी (सज़्दा किये हुए हैं) घमंड नहीं करते। वे अपने परवरदिगार से जो उनके ऊपर है, डरते रहते हैं और जो हुक्म उनको दिया जाता है उसकी तामिल करते हैं।'[652] अल्लाह सबकी रूह (आत्मा) को खींच लेता है।[653] उसके सामने रूह और फ़िरिश्ते पंक्तिबद्ध खड़े होंगे।[654]

उक्त कथनों से यह स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म के अनुसार अल्लाह या ईश्वर द्वारा उत्पन्न समस्त सृष्टि ईश्वर की आज्ञा का पालन करती रहती है। इसका अर्थ यह भी है कि जीवात्मा, ईश्वर द्वारा सृष्ट नश्वर शरीर में स्वयं ईश्वर के द्वारा संबद्ध किया जाने के कारण अनादि नहीं वरन् सादि है और उसकी अमरता ईश्वर द्वारा प्रदत्त है। अतः अन्य प्राणियों या जीवों की आत्मा की अमरता मूल नहीं है।

आत्मा की अमरता के संबंध में वे कथन भी महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं जो फ़िरिश्तों व जिन्नों के संबंध में कहे गये हैं। जैसेः 'इस दरख़्त (वृक्ष) के फल खाने से तुमको मना किया है तो इसका कारण

648-649. वही, सूरा 15/29-31; 38/71-74

650. वही, सूरा 4/171

651. वही, सूरा 50/16

652. वही, सूरा 16/49-50

653. वही, सूरा 10/104

654. वही, सूरा 79/37-38

यही है कि ऐसा न हो कि तुम दोनों (आदम और उसकी पत्नी) फ़िरिश्ते (देवदूत या अल्लाह के संदेशवाहक) बन जाओं या सदैव जीने वालों (अमर) में से हो जाओ।'[655] 'हमने जिन्नों को उससे (आदम से) पहले लू की आग से पैदा किया।'[656] आदम को सशरीर मिट्टी से पैदा करने से पूर्व फ़िरिश्तों को (जो अशरीरी अथवा अदृश्य किंतु होशपूर्ण होते हैं व अल्लाह के साथी बंदे एवं ईश्वर के संदेशवाहक हैं) सूचित करने एवं सज़्दा करने के संबंध में कथन मिलते हैं।[657] 'हमने अपनी (अल्लाह ने) रूह को उसकी तरफ भेजा और वह पूरा मनुष्य बनकर सामने आया। मरियम कहने लगी अगर तुम परहेज़गार (संयम करने वाले) हो तो मैं तुमसे अल्लाह की पनाह (शरण) मांगती हूं। उसने (फ़िरिश्त) कहा मैं तो तेरे परवरदिग़ार का भेजा हुआ फ़िरिश्त हूं इसलिये आया हूं कि तुझको एक पाक़ लड़का (पवित्रात्मा) दूं।'[658] प्रत्येक क़द्र की रात (पवित्र रात्रि-रमज़ान माह की एक रात विशेष मानी गयी है) में फ़िरिश्ते और रूह अपने परवरदिग़ार की आज्ञा से काम के लिये ज़मीन पर उतरते हैं।[559] ये सभी कथन सदैव जीवन अर्थात् अमरता के भाव को स्पष्ट करते हैं। फ़िरिश्ते अथवा देवदूत ईश्वर के विश्वसनीय संगी हैं जो नित्य ही उनकी आज्ञा-पालन के लिये तत्पर रहते हैं।

इस्लाम धर्म में अमरता के साथ ही पुनर्जीवन अर्थात् मृत्यु के बाद फिर ज़िंदा करने की अवधारणा मिलती है। फिर ज़िंदा करने के दिन को पुनरुत्थान अथवा क़ियामत (प्रलय) का दिन कहा गया है।[660] इस दिन सभी मृत लोगों को पुनः जीवित करके उठाया जाएगा और अल्लाह उनके सभी कर्मों का पूरा-पूरा बदला देगा।[661] यह क़ियामत अचानक आयेगी ओर किसी को भी खबर नहीं होगी।[662] जिस प्रकार ज़मीन पर हरियाली आ जाती है। इसी तरह क़ियामत के दिन सब लोग निकल पड़ेंगे।[663] मुर्दा ज़मीन से वह सब कुछ उगाता है, इसी प्रकार वह (अल्लाह) मुरदों को मौत की हालात (स्थिति) से निकालता है।[664]

---

655. क़ुर. शरीफ़, सूरा 7/20

656. वही, सूरा 15/27

657. वही, सूरा 15/28-30, फुटनोट पृ. 441; 66/4, 6

658. वही, सूरा 19/17-19

659. वही, सूरा 98/3-4

660. क़ुर. मज़ीद पारिभाषिक शब्दावली, पृ. 1226

661. वही, सूरा 3/185, 106, 107; 19/68-72, 85, 86

662. वही, सूरा 43/66, 67

663. वही, सूरा 50/9-11; 71/17-18

664. वही, सूरा 7/57

अन्य स्थलों पर भी पुनः जीवित करने और दुबारा पैदा करने के संबंध में कथन उपलब्ध होते हैं। कहा गया है कि वही (अल्लाह) जन्म का आरंभ करता है, वही दुबारा पैदा करेगा,[665] यह सांसारिक जीवन कर्मों के बदले में काफी (पर्याप्त) नहीं है। ईमान लाने वालों को और क़ुफ्र (अकृतज्ञता या अधर्म) करने वालों को न्यायपूर्ण बदला देने के लिये दुबारा जीवन को व आख़िरत (परलोक या पारलौकिक जीवन) को आवश्यक माना गया है।[666] अल्लाह यदि धरती और आकाश को पैदा करने में असमर्थ नहीं है तो वह इसका सामर्थ्य रखता है कि मुरदों को जीवित कर दे।[667]

इस्लाम धर्म मृत व्यक्ति के पुनरुत्थान के दिन तक क़ब्र मे ही रहने को स्वीकार करता है। ईश्वर अंत में प्रलय (क़यामत) के द्वारा इस संसार को नष्ट कर देता है और सृष्टि के आरंभ से पुनरुत्थान के दिन तक सभी मृत लोगों को जीवित करना माना गया है। इस पुनरुत्थान परिवर्तन में सभी मृत लोगों को जीवित कर उनके शुभ-अशुभ कर्म का बदला देना स्वीकार किया गया है। यह पुनरुत्थान (परिवर्तन) वैसा ही होगा जैसा बेजान, हरियाली विहीन धरती में हरियाली आने पर होता है। इस प्रकार पुनरुत्थान के दिन दुबारा जीवन अर्थात् मृत्यु के पश्चात् पुनः जी उठने को माना गया है।[668]

आत्मा की अमरता, पुनरुत्थान की चर्चा के बाद पुनर्जन्म पर चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है। सैद्धांतिक दृष्टि से इस्लाम धर्म में पुनर्जन्म को नहीं माना गया है। फिर भी कुछ कथन ऐसे उपलब्ध होते हैं जो पुनर्जन्म के भाव को अप्रत्यक्षतः अभिव्यक्त करते हैं। जैसेः 'क्या इन लोगों (क़ाफिरों) ने देखा नहीं कि अल्लाह कैसे पहली बार पैदा करता है, फिर उसकी पुनरावृत्ति करता है? निश्चय ही यह पुनरावृत्ति अल्लाह के लिये सरल है।'[669] अर्थात् जिस प्रकार उसने तुम्हें पहली बार पैदा किया वैसे ही तुम्हें दूसरी बार अथवा बार-बार पैदा करेगा[670], यह असंभव नहीं है और पुनरावृत्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। स्पष्ट है कि ये उद्धरण समस्त सृष्टि और मनुष्य जीवन में घटित होने वाली जन्म, कर्म, मृत्यु आदि घटनाओं को पुनः ऐसे मनुष्य के जीवन में घटित होने को असंभव नहीं मानता है। शरीर की मृत्यु के पश्चात् क़ियामत और आख़िरत (पुनरुत्थान और न्याय दिवस) के दिन कर्मों का बदला दिया जाने को स्वीकार किया गया है लेकिन साथ ही क़ियामत के बाद पुनः सृष्टि को उत्पन्न (पैदा) करने की बात कही गयी है। पुनः जी उठने की संभावना के साथ उस मनुष्य को क्रमशः मिट्टी, वीर्य, रक्त के लोथड़े, मांस-

---

665. वही, सूरा 7/29-30
666. वही, सूरा 10/4, 34; 11/7; 19/66, 67; 29/19, 20; 21/104; 30/19; 75/36-40
667. वही, सूरा 106/33; 86/8
668. वही, सूरा 22/5-7; 31/27-28
669. वही, सूरा 29/19; 30/11, 27
670. वही, सूरा 7/29; 10/34; 27/64

बोटी से, पैदा कर नियत समय तक गर्भ में ठहराये रखने के पश्चात् बच्चे के रूप में पालन पोषण कर युवावस्था तक पहुंचने को माना गया है। उनमें से किसी के प्राण को पहले ही ग्रस्त लिया जाता है और किसी को वृद्धावस्था की निकृष्टतम आयु की ओर फेर दिया जाता है। सूखी भूमि पर जलवृष्टि कर उसे ताजा कर उस पर प्रत्येक प्रकार की शोभायमान वस्तुएं अल्लाह ने उगायीं क्योंकि वही सत्य और सामर्थ्यवान है जो क़यामत की घड़ी में मुर्दों को जीवित कर क़ब्रों से उठाता है[671], उसके (अल्लाह) लिये वीर्य से उत्पन्न मनुष्य को मरने के पश्चात् पुनः जीवन प्रदान करना कठिन नहीं है।[672] इसका अर्थ है कि अल्लाह उस व्यक्ति को आख़िरत के पश्चात् पुनः वीर्य से जन्म दे सकता है यह उन्हें स्वीकृत है और वीर्य से जन्म देने का अर्थ है माता-पिता के द्वारा नये रूप में देह जन्म का होना।

पुनर्जन्म के संबंध में अन्य कथन भी महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं। जैसे-जिन लोगों ने हमारी आयतों को झुठलाया वे बहरे और गूंगे है, अंधेरे में पड़े हुए हैं। अल्लाह जिसे-जिसे चाहता है पथभ्रष्ट करता है और जिसे चाहता है उसे सीधे रास्ते पर लगा देता है।[673] यदि अल्लाह चाहता तो उन सबको सीधी राह पर इकठ्ठा कर देता।[674] अल्लाह काम के अनुसार बदला देता है किसी पर कोई अत्याचार नहीं करता है।[675] बुद्धि, चेतना और अधिकार देने के बाद मनुष्य को यों ही नहीं छोड़ दिया जाएगा, इसके लिये आख़िरत जरूरी है।[676] सृष्टि की रचना निरुद्देश्य नहीं है। अच्छे व बुरे मनुष्य बराबर नहीं हो सकते।[677] अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ईश्वर उद्देश्यपूर्वक मनुष्यों को जन्म, जीवन प्रदान करता है।

इन कथनों का अध्ययन करने पर यहां सहज ही यह प्रश्न उठता है कि यदि अल्लाह ही ने सबको उत्पन्न किया है तो फिर सभी को एक जैसा क्यों नहीं बनाया? वह मनुष्यों को न्यूनाधिक बुद्धि और अधिकार प्रदान करने का, किसी को धनवान और किसी को निर्धन बनाने का अंतर क्यों करता है? किसी को ईमान की राह पर चलने वाला, संयमित, सहृदय, भला (अच्छा) और किसी को बेईमान, काफ़िर,

---

671. वही, सूरा 22/5-7

672. वही, सूरा 86/8, फुटनोट नं. 3; 75/36-40

673. वही, सूरा 6/39, 47/20-24

674. वही, सूरा 6/35

675. वही, सूरा 36/53-54

676. वही, सूरा 75/36-40

677. वही, सूरा 38/27, 28; 45/21, 22

असंयमित, उदंड, दुःखी और बुरा क्यों बनाता है? अन्य शब्दों में भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों वाले मनुष्यों को पैदा क्यों किया? किसी को इस संसार में ही अंधा, अपाहिज़, रोगी, गूंगा, बहरा और बुरा बनाया है तो किसी को कोई अंग दोष नहीं दिया, पूर्णांग और सुखी बनाया है। किसी पर भी अत्याचार न करने वाले तथा काम के अनुसार ही बदला देने वाले न्यायकर्त्ता अल्लाह के द्वारा क्या बिना किसी कारण अथवा आधार के स्वयं की इच्छा से अपाहिज़, रोगी, गूंगा, बहरा, बुरा आदि बनाना संभव है? यदि निस्पृह, न्यायकर्त्ता अल्लाह इस संसार में बिना किसी कारण के अपाहिज़, गूंगा, बहरा, बुरा, मंदबुद्धि आदि बनाता है तो निस्पृह न्यायकर्त्ता अल्लाह के प्रति यह वदतोव्याघात (विरोधाभास) होगा।

अतः यह अनुमान करना अकारण नहीं माना जाएगा कि इस प्रकार के अंगदोष, बुद्धिदोष के लिये अथवा अच्छा या बुरा होने के लिये पूर्व अस्तित्व रूप में कोई ऐसा कर्म-कारण रहा हो जिसके परिणामस्वरूप अल्लाह के निष्पक्ष न्याय के रूप में मनुष्य को वह स्थितियां प्राप्त हुई हों। यह कथन इस धारणा को प्रस्तावित करता है कि मनुष्य के सांसारिक जीवन में उत्पन्न विभिन्न शारीरिक और मानसिक दोषों अथवा दोष रहित होने के कारण को जन्म से पूर्व मानना असंगत नहीं है। कहा भी गया है कि-

'जब वह नसीहतें जो उनको (इस्रायल मे लोगों को) की गयी थी, वे भुला बैठे तो जो लोग बुरे काम से मना करते थे उनको हमने बचा लिया..... फिर जिस काम से उनको मना किया गया था जब उसमें हद से बढ़ गये तो हमने (अल्लाह ने) उनको हुक्म दिया कि 'फिटकारे (धिक्कारे) हुए बंदर हो जाओ।'[678] क़ुरआन का यह कथन मनुष्य के कर्मपालन के आधार पर शरीर परिवर्तन का होना स्वीकार करता है। निषेधित कर्म को करने पर मनुष्य के बंदर हो जाने की आज्ञा (हुक़्म) का क्रियान्वयन, कर्त्ता मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् पुनः नये शरीर – बंदर के शरीर रूप में जन्म लेना मानना असंगत नहीं होगा, चाहे वह श्राप के कारण ही क्यों न हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में उपलब्ध ऐसे कथनों को पुनर्जन्म के अर्थ में माना जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि इस्लाम धर्म में पुनर्जन्म की अवधारणा बीज रूप में पायी जाती है। चाहे उसे सिद्धांत रूप में अस्वीकार किया गया हो।

इस्लाम धर्म के अनुसार अल्लाह ने मनुष्य (आदम और उसकी पत्नी) को पैदा किया, सुविधापूर्ण ज़न्नत में रखा, शैतान से सचेत किया व एक वृक्ष के फल खाने से मना किया।[679] इच्छा-स्वतंत्रता प्रदान की और उसने (मनुष्य) अपने आप पर ज़ुल्म किया।[680] अर्थात् ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करने के

---

678. क़ुर. शरीफ़, सूरा 7/165-166

679. वही, सूरा 7/11, 19, 20, 21-22, 20/117-121

680. वही, सूरा, 7/23

परिणामस्वरूप एक निश्चित समय का पृथ्वी पर जन्म और मृत्यु का जीवन व्यतीत करते हुए कर्म करना माना गया है।[681] इस दृष्टि से आदम और उसकी पत्नी की संतान क्रम में जिस किसी ने जन्म लिया है और लेंगे वे सब सांसारिक-पृथ्वीगत अच्छा व बुरा जीवन व्यतीत करेंगे, क्योंकि वे अल्लाह की मूल आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण उसकी आज्ञारूप व्यवस्था से बंधे हुए हैं। अल्लाह ने जो सीमाएं अथवा कानून व्यवस्था निश्चित की है उनके बाहर जाना या उल्लंघन करना स्वयं पर अन्याय करना है, गुमराह होना है।[682] इस ग़ुमराही (मार्गच्यूत या विमुख) का कारण अहंकार[683] व अपनी इंद्रियों (नाक, कान, आंख व अन्य इंद्रियां) के द्वारा किये जाने वाले अशुभ कर्म माने गये हैं जो उनकी ग़वाही देते हैं।[684] इन्हें दुःख का कारण भी माना गया है। कहा गया है कि 'तुम पर जो दुःख पड़ता है सो तुम्हारे हाथों की कमाई का बदला है।'[685] अर्थात् मनुष्य के दुःखों का कारण नफ़सानी ख़्वाहिश (सांसारिक वासनाएं और तरह-तरह के मनोरथ) को सर्वोपरि मानना व सही रास्ते पर नहीं चलना है।[686] अल्लाह द्वारा सब कुछ देने पर भी मनुष्य द्वारा और कुछ देने की लालसा[687] करना अनुचित माना गया है। मनुष्य जीवन में अपने शरीर से कर्म करना 'बंधन' का कारण माना गया है।[688] इस प्रकार संसार में जो भी काम किया जाता है उससे प्रत्येक मनुष्य आख़िरत में बंधा हुआ है। उससे कोई नहीं बच सकता है। उसके परिणाम भोगने ही होंगे। इस प्रकार भांति-भांति की तलब (इच्छाओं) मनुष्य को भ्रमित करने वाली माना गया है यहां तक कि वह क़ब्र में जा पहुंचे अतः स्पष्टतः कहा जा सकता है कि इस्लाम धर्म में बंधन का कारण कर्म, लालसाएं अथवा इच्छाएं मानी गयी है।

एक ओर इस्लाम धर्म में अहंकार, लालसा के कारण ईश्वर (अल्लाह) की आज्ञा का उल्लंघन कर संतान क्रम में उत्पन्न होकर देह कर्म करना बंधन माना गया है दूसरी ओर इन बंधनों से मुक्त होने की धारणा को भी स्वीकार किया गया है। बंधनमुक्त होने को इस्लाम में नज़ात अथवा फ़लाह (मुक्ति

---

681. वही, सूरा 7/24-25

682. वही, सूरा 65/1; 4/60

683. वही, सूरा 40/60-62, 75, 76; 41/15-16

684. क़ुर, शरीफ़, सूरा 41/21-23

685. वही, सूरा 42/30

686. वही, सूरा 45/23-24; 46/17-20; 47/12, 14

687. वही, सूरा 74/15, 16

688. वही, सूरा 74/38

कल्याण)[689] के रूप में माना गया है। सुकर्म करने वालों और ईमान लाने वालों (श्रेष्ठजनों) के लिये कभी ख़त्म न होने वाला (अनंत) बदला (प्रतिफल) है।[690] यह आख़िरत (न्याय दिन) के दिन होगा और उनके आख़िरत की यह ज़िंदगी पहले वाली ज़िंदगी (सांसारिक कर्ममय जीवन) से अच्छी होगी।[691] ईमान व संयम वाले वहां (ज़न्नत में) सदा रहेंगे और जो चाहेंगे वह सब उन्हें वहां मिलेगा।[692] मृत्यु से सदा के लिये छुटकारा, शांति एवं रब (अल्लाह) का सब प्रकार का अनुग्रह होगा।[693] अल्लाह उनसे खुश और वे अल्लाह से खुश रहेंगे।[694] अर्थात् क़ियामत और आख़िरत के फैसले के पश्चात् उनका पुनः पृथ्वी पर देह रूप में गर्भ से जन्म नहीं होगा। अल्लाह की आज्ञा के अनुसार जीवन व्यतीत करने, निष्कपट भाव से पवित्र कार्य (अल्लाह की इबादत करना, नमाज़ क़ायम करना, ज़कात देना आदि) करने तथा नफ़सानी ख़्वाहिश (इंद्रिय वासनाओं) व लालसाओं के अधीन न रहने वाली-अल्लाह से ही संतोष रखने वाली रूह से वह (अल्लाह) प्रसन्न होता है। इससे बहिश्त (स्वर्ग) में प्रवेश होता है।[695] इस तरह अल्लाह की राह में (आज्ञा पालन में) मरने वालों को सदैव जिंदा रहने वाला स्वीकार किया है।[696] अतः कहा जा सकता है कि सृष्टि में जन्म के दौरान कर्म व मृत्यु विनाश के बंधन से मुक्त होकर अनंत काल तक ज़न्नत में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति (मुक्ति) को माना गया है।

अतः स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में शरीरेत्तर चेतना को रूह के रूप में माना गया है। अन्य शब्दों में इसे आत्मा भी कहा जा सकता है। इसकी अविनाशी-अमरता को मानते हुए उसके पुनरुत्थान/पुनर्जीवन को माना है। इसके अंतर्गत मृत्योपरांत जीव आख़िरत/अंतिम न्याय दिन में अल्लाह के द्वारा पुनः जिंदा होते हैं/उठाये जाते हैं। पुनर्जन्म की/पुनः जन्म ग्रहण कर कर्ममय जीवन की सैद्धांतिक स्वीकृति नहीं है तथापि प्रस्तुत कथन विश्लेषण के आधार पर बीज रूप में इसका होना माना जा सकता है।

---

689. वही, सूरा 22/77

690. वही, सूरा 41/8; 84/25; 98/7-8

691. वही, सूरा 41/30-32; 93/4-5

692. वही, सूरा 25/15, 16; 29/58; 50/34, 35

693. वही, सूरा 44/51-57

694. वही, सूरा 98/9

695. वही, सूरा 90/27-30

696. वही, सूरा 2/154; 3/169-171

यह धर्म लालसा के कारण अल्लाह की आज्ञा का उल्लंघन करने के फलस्वरूप देहजन्म एवं तत्पश्चात् देहकर्म को बंधन मानता है। अल्लाह की इबादत द्वारा इन बंधनों से नज़ात/फ़लाह/के रूप में मुक्ति व कल्याण प्राप्त कर ज़न्नत प्राप्त करने पर पूर्ण स्वतंत्रता का होना भी माना गया है।

ग. कर्मवाद :

एकेश्वरवादी इस्लाम धर्म में हमें नैतिक दृष्टि से एक व्यवस्था प्राप्त होती है। इस व्यवस्था के अनुसार मनुष्य का नैतिक जीवन चलना चाहिये, इसे मानते हुए इस्लाम धर्म में व्यवस्था का उल्लंघन करने वालों के लिये दंड का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। ये स्थितियां कर्मवाद के अनुसार एवं उसके निकट प्रतीत होती हैं। यहां हम संक्षेप में इस्लाम धर्म व नैतिक व्यवस्था जो कर्मवाद का ही एक रूप माना जा सकता है – की चर्चा करेंगे।

इस्लाम में कहा गया है कि जैसे काम तुम करते थे उनका बदला (फल) पाओगे।[697] अल्लाह अच्छे कर्मों का अज् (बदला/फल) बेकार नहीं करता है।[698] 'बेशक़ जो कुछ तुम करते हो वह उससे ख़बरदार है।'[699] अल्लाह तुमसे उसका हिसाब भी लेगा जो तुम्हारे दिल में है।[700] अन्य स्थलों पर भी कर्मफल के संबंध में कई उल्लेख उपलब्ध होते हैं।[701] इन कथनों से यह स्पष्ट होता है कि इस्लाम धर्म में व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक कार्य चाहे वह उसके मन में ही क्यों न हो उसकी ख़बर (ज्ञान) अल्लाह को रहती है और वह उसी के अनुसार व्यक्ति को तोलता है। यह स्थिति अन्य धर्म के समान ही है जिसमें ईश्वर न्यायाधीश के रूप में माना गया है।

इस्लाम में व्यक्ति के सभी प्रकार के कर्मों के लिये यह व्यवस्था दी गयी है कि उनका सब लेखा-जोखा रखा जाएगा और उन्हें अंतिम न्याय दिन/क़ियामत के दिन तक सुरक्षित रखा जाएगा।[702] अल्लाह

---

697. क़ुर. शरीफ़, सूरा 45/27-28

698. वही सूरा 11/115

699. वही, सूरा 11/111

700. वही, सूरा 2/284; 86/9

701. वही, सूरा 3/161; 34/33; 50/23; 53/39, 40-41; 84/7-14; 99/6

702. क़ुर शरीफ़, सूरा 45/27-29

परम न्यायी, निष्पक्ष और कठोर परीक्षक माना गया है।[703] किंतु यह वह सब कुछ व्यक्ति को गलत मार्ग में भटकने से बचाने के लिये करता है। व्यक्ति को यद्यपि कर्म करने की पूर्ण स्वतंत्रता है और वही अपनी सभी प्रकार की अच्छाई और बुराई के लिये उत्तरदायी माना गया है।[704] परंतु अल्लाह को यह ज्ञात है कि मनुष्य इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग अधिक करता है जैसा कि उसने अल्लाह द्वारा मना किये जाने पर भी शैतान के बहकावे में आकर सदा अमर हो जाने की इच्छा से उस दरख़्त (वृक्ष) का फल खा लिया जिसके लिये मनाही की गयी थी।[705] अपने परवरदिग़ार/अल्लाह के हुक़्म को टालने के कारण वह भटक गया और उसको ज़न्नत से निकाला गया (पृथ्वी पर उतारा गया) और उसका दुःखों से वास्ता पड़ा।[706] इस्लाम धर्म में भटकने का अर्थ ग़ुमराह होना, असंयमी मनमानी ख़्वाहिश पर चलना, अल्लाह की आज्ञा का उल्लंघन कर सीधे और नेकी (भलाई/अच्छाई) के मार्ग से हट जाना माना गया है।[707]

इस्लाम जहां पृथ्वी पर आने से पूर्व किये गये कर्म के लिये व्यक्ति को उत्तरदायी मानता है वहीं वह धरती/पृथ्वी पर जन्म लेकर एक निश्चित समय (अल्लाह के द्वारा निर्धारित मृत्यु) तक शरीर द्वारा किये जाने वाले अच्छे एवं बुरे कर्म के लिये भी उसे ही उत्तरदायी मानता है। यह शरीर कर्म करना बंधन का कारण भी माना गया है।[708] इस बंधनमय जीवन के लिये व्यक्ति को उत्तरदायी मानते हुए कहा है कि-

लालसाएं/भांति-भांति की तलब (इच्छा) की चढ़ाबढ़ी (अधिकता) भरमाये रखने वाली व क़ब्र में पहुंचाने वाली होती है।[709] जो व्यक्ति अल्लाह और पैग़ंबर के उपदेशों के आधार पर जीवन व्यतीत नहीं करता और शरीर की ख़्वाहिशों को पूरा करने के लिये असंयमी, मर्यादा भ्रष्ट जीवन व्यतीत करता है, तो वह सीमा से बाहर निकलने वाला है।[710] वचन भंग न करना, घमंड न करना, गंदे (बुरे) काम न करना, कभी भी अपराधियों का सहायक न होना, मनमानी न करना आदि नैतिक निर्देश दिये गये हैं।[711] न्यायपूर्वक रहना, नातेदार एवं लोगों के साथ अपना दायित्व पूरा करते हुए अच्छा व्यवहार करना[712] संयम

703. वही, सूरा 3/30, 106-109; 4/58, 135; 34/3-5; 83/6; 88/25, 26; 1/1-3; 18/49; 21/35
704. वही, सूरा 16/33; 30/9; 32/20; 42/30-34
705. वही, सूरा 20/121, 123
706. वही, सूरा 20/121, 123-124
707. वही, सूरा 27/4-5; 16/22; 23/7, 74; 38/26; 45/23
708. वही, सूरा 7/24-25, 74/38
709. वही, सूरा 12/53; 102/1-2
710. वही, सूरा 18/27-28; 23/7
711. वही, सूरा 2/27; 4/36, 37; 6/152; 16/90, 91; 28/17; 49/12
712. क़ुर. शरीफ़, सूरा 2/83; 16/90, 91; 17/23, 24; 29/8; 30/38; 37/26

और पाक़दामनी (पवित्रता) अपनाने[713], यतीमों, मुहताज़ों और पड़ौसियों के हक़ पूरा करने, अच्छे व्यवहार करने[714] एवं दंपत्ति के आदर्श रहन-सहन के संबंध में नियमों तथा व्यवस्थाओं के पालन का उपदेश दिया गया है।[715] यदि व्यक्ति इस्लाम/क़ुरआन के इन आदेशों के अनुसार ईमान नहीं लाता है, इनके आधार पर जीवन व्यतीत नहीं करता है, इनका उल्लंघन करता है तो फलस्वरूप मृत्योपरांत वह नरक में जाता है।[716] नरक/ज़हन्नुम[717] में ज़िल्लत और अज़ाब (अपमान और दंड/संकट/यातना) की मार[718], न बुझने वाली आग, ख़ौलता पानी, गरदनों में तौक़ (जंजीरे) पीप, कांटेदार झाड़ियों का खाना होगा[719] जो व्यक्ति क़ुरआन के नैतिक नियमों के आधार पर जीवन व्यतीत करता है उसे ज़न्नत/बिहिश्त (स्वर्ग)[720] की प्राप्ति होना माना गया है। ज़न्नत में सुख वैभव की चीजें, हूरें होंगी व मौत से सदा के लिये छुटकारा होगा।[721] सभी प्रकार के फल, मेवे, बाग़, नहरें, कपड़े, रत्न आभूषण, ज़न्नत की शराब आदि होंगे।[722] वहां जो चाहेंगे वह उन्हें मिलेगा तथा हमेशा के लिये वहां रहेंगे।[723]

इनसे स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म कर्मफलन की धारणा के अंतर्गत कर्मों के अनुसार मृत्योपरांत बदले के रूप में नरक व स्वर्ग की प्राप्ति को मान्यता देता है। यह बदला क़ियामत/पुनरुत्थान होने तथा आख़िरत (न्यायदिवस जो अंतिम फैसले के फलस्वरूप उपलब्ध होने वाला परलोक-नरक व स्वर्ग) के रूप में मिलता है, माना गया है।[724] अन्य कई स्थलों पर भी हमें ज़न्नत और ज़हन्नुम/दोज़ख का विस्तृत वर्णन

---

713. व़ही, सूरा 24/33

714. वही, सूरा 2/83, 220; 4/2, 36; 9/60; 30/38; 90/13-18

715. वही, सूरा 2/187, 128, 229, 231, 237; 4/3, 19, 35, 37, 128, 129; 30/12

716. वही, सूरा 2/24; 4/14, 115; 6/93; 19/105-106

717. वही, सूरा 2/24; 15/44; 78/21-25

718. वही, सूरा 31/6-7

719. वही, सूरा 22/19-22; 20/74; 35/36; 27/89, 90

720. वही, सूरा 4/13; 22/14; 25/75; 47/12

721. वही, सूरा 36/55-58; 44/51-57

722. क़ुर. शरीफ़, सूरा 78/31-35; 13/35; 18/31; 22/23-24; 37/42-49; 47/15

723. वही, सूरा 4/13; 25/15, 16

724. वही, सूरा 2/113; 3/30, 185; 7/4-9; 34/4-5

उपलब्ध होता है।[725]

इस्लाम धर्म में पृथ्वी पर व्यतीत किये गये जीवन की अंतिम स्थिति मृत्यु है। यह मानता है कि सभी मृतक क़ियामत के दिन अपनी क़ब्रों से जी उठेंगे और अल्लाह के सामने पेश होंगे।[726] इसके बाद उन्हें उनके कर्मों के आधार पर तोला जाएगा।[727] किसी भी व्यक्ति पर तनिक भी जुल्म न किया जाएगा। यदि राई के दाने के बराबर भी कुछ (किया धरा) होगा तो हम उसे ला हाज़िर (प्रकट) करेंगे।[728] हर व्यक्ति को अपना कर्म लेखा पढ़कर अपना हिसाब समझना होगा। यहां कोई किसी के काम न आएगा और न किसी की सिफ़ारिश चलेगी, न किसी से बदले मे कोई चीज ली जाएगी।[729] स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने किये का भोक्ता स्वयं होता है। कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का फल अपने ऊपर नहीं ले सकता है। यह फलन दंड व पुरस्कार के रूप में मानते हुए ही नरक व स्वर्ग की धारणा को माना गया है।

इस्लाम धर्म में कर्मों के अनुसार नरक व स्वर्ग की प्राप्ति की मान्यता के साथ ही नैतिक चेतना के स्तरभेद को मानते हुए इनके मध्य की स्थिति को भी माना गया है। इसके अंतर्गत माना है कि कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो मृत्योपरांत स्वर्ग और नरक दोनों में से एक भी पाने की योग्यता नहीं रखते हैं।[730] उन्हें ज़न्नत और दोज़ख/ज़हन्नुम दोनों के बीच एक आड़/अऽराफ़[731] में रखा जाना माना है। ये वे लोग माने गये है जिन्हें ज़न्नत प्राप्त नहीं हुआ है किंतु ज़न्नत प्राप्त करने की आशा कर रहें होंगे।[732] स्पष्ट है कि यह स्थिति उन लोगों की मानी जा सकती है जिनके सभी कर्म न तो अच्छे हैं और न ही पूर्णतः बुरे हैं। ये ज़न्नत की लालसा करने वाले और ज़हन्नुम में स्थित गुनहग़ारों का साथ न चाहने वाले लोग

---

725. वही, सूरा 55/42-87; 56/9-38, 42-74

726. वही, सूरा 11/103-108; 30/25; 36/49-52

727. वही, सूरा 7/7-9

728. कुर. मज़ीद, सूरा 21/47; 16/111; 36/54

729. वही, सूरा 2/48, 17/13, 14; 18/49; 45/27-29

730. बही, सूरा 7/40

731. वही, सूरा 7/46, 48

732. वही, सूरा 7/46

माने गये हैं।[733] ये अपनी अवस्था में परिवर्तन की आशा रखते हैं। इस्लाम धर्म में अऽराफ़ की स्वीकृति से स्पष्ट होता है कि यह नैतिक चेतना के स्तरों की भिन्नता को मानते हुए विकास क्रम का ध्यान रखता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि चेतना के स्तरीकरण के आधार पर कर्मफल की प्राप्ति मानी गयी है।

हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं कि इस्लाम धर्म में पृथ्वी पर जन्म लेकर ख्वाहिशों/लालसाओं के अनुसार कर्म करना कष्ट व बंधन माना है। जो व्यक्ति लालसायुक्त होकर परहेज़गार (संयमित व धर्मपरायण जीवन व्यतीत करते हैं) उन्हें अज़ाब (कष्ट) से नज़ात (मुक्ति) मिलना माना गया है। उन्हें न कोई तक़लीफ़ पहुंचेगी न वे कभी उदास होंगे।[734] सांसारिक जीवन में आत्मिक दशा को अल्लाह से संबद्ध माना है। कहा है कि रूह अल्लाह की ओर से आती है[735] और अंततः लौटकर अल्लाह की ओर सब जाते हैं।[736] मृत्यु के समय अल्लाह सबकी रूह खींच लेता है।[737] स्पष्ट है कि रूह/आत्मा अल्लाह से मिलती है अतः जो मनुष्य अल्लाह की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, धर्म व नमाज़ की पाबंदी का जीवन व्यतीत करते है उनका अच्छा परिणाम[738] स्वर्ग/मुक्ति होना माना है। फ़लाह/नज़ात/कल्याण (मुक्ति) के लिए भलाई, नम्रतापूर्वक झुकना, अपने परवरदिग़ार की सच्चे व निष्कपट भाव से इबादत करना[739] ज़कात देना, रोज़ा (उपवास) रखना आदि सही दीन (धर्म) है।[740] इन धर्म साधनों के द्वारा साधना कर आत्मशुद्ध होने पर ज़न्नत में अल्लाह की ओर लौटा जा सकता है।[741] स्वर्ग में उसकी निकटता[742] प्राप्त होने पर मनुष्य कर्म बंधनों से पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है और वहां अनंत काल तक रहता है।

कर्म संबंधी इस विवेचन से स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म व्यक्ति के कर्मानुसार ही कर्मफलन (बदला)

---

733. वही, सूरा 7/46-47; 48-53

734. क़ुर. मज़ीद, सूरा 39/61

735. वही, सूरा 17/85; 38/71

736. वही, सूरा 10/56

737. वही, सूरा 10/104; 39/42

738. वही, सूरा 20/32; 23/8-11

739. क़ुर. मज़ीद, सूरा 22/77; 23/1-5

740. वही, 98/5; 2/125, 183; 5/96, 97

741. वही, 89/27-29

742. वही, सूरा 9/20-22; 98/8

मानता है। लालसा के कारण ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन कर वह पृथ्वी का देहमय जीवन व्यतीत करता है। इस अवस्था में वह जो भी कर्म करता है वे अच्छे या बुरे होते हैं। अच्छे कर्म जैसे-अल्लाह की आज्ञा का पालन करना, संयम से रहना आदि से ज़न्नत/स्वर्ग की प्राप्ति होना और बुरे कर्म (अशुभ कर्म) जैसे-मनमाना, असंयमित, लालसामय, एंद्रियक जीवन व्यतीत करना, अल्लाह की आज्ञा का उल्लंघन करना आदि से ज़हन्नुम/नरक की प्राप्ति होना माना है। इंद्रिय ख़्वाहिशों/वासनाओं का त्याग कर आत्मशुद्धिपरक जीवन व्यतीत करने से स्वर्ग प्राप्ति तथा नज़ात/मुक्ति का होना माना गया है। यह अनंत काल के लिये मानी गयी है। पुनः मनुष्य का जन्म नहीं होता है, स्वतंत्र हो जाता है। यही स्वतंत्रता बंधन-मुक्ति है।

घ. जगत :

इस्लाम धर्म में जगत दो प्रकार से वर्णित है। प्रथम प्रकार के वर्णन के अनुसार यह जगत अथवा सृष्टि अल्लाह का एक कार्य माना गया है।[743] कहा गया है कि 'वही है जिसने आकाशों और धरती को छः दिनों में पैदा किया-और उसका सिंहासन (क्रिब्रियाई-तख़्त पानी पर था)।'[744] आकाश और धरती के बीच जो कुछ है उसे पैदा कर फिर वह सिंहासन (तख़्त) पर विराजमान हुआ।[745] उसने (अल्लाह ने) जीवन-मृत्यु, सात आसमान बनाये, सूरज चाँद, तारा, नक्षत्र आदि को रोशन किया, उनकी मंज़िल ठहराई, यह सब अल्लाह ने उद्देश्य से बनाया है।[746] अन्य स्थलों पर भी सब कुछ उसी का मानते हुए उसे अनोख़ी और नई चीज़ बनाने वाला कहा गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि जब वह किसी बात का निर्णय करता है, तो बस उसके लिये कह देता है; हो जा! तो वह हो जाती है।[747] इस प्रकार अल्लाह के कहने मात्र से सृष्टि का होना माना गया है। अल्लाह यह सब सृष्टि अपने आप करता है। अर्थात् जो चाहे वह पैदा करता है पर निरुद्देश्य पैदा नहीं करता है।[748] हर जीवधारी को उसने पानी से बनाया[749]

---

743. Hameed, Hakeem Abdul, Islam at a Glance, P. 18

744. क़ुर. मज़ीद, सूरा 11/7

745. वही, सूरा 7/54; 32/4; 25/59

746. वही, सूरा 10/5; 39/5; 65/12; 67/2-5; 16/3-8

747. वही, सूरा 2/116-117; 3/47; 40/61-64, 68

748. वही, सूरा 3/47; 10/5-6; 7/54; 13/2; 23/79-90; 85/16

749. वही, सूरा 24/45

और सबको बहुत अच्छी तरह से बनाया।[750] पानी, फल, अन्न और जरूरत का हर सामान जुटाया।[751] वह सृष्टि से ग़ाफिल (बेख़बर, उदासीन) नहीं है।[752] उसे हर चीज़ का निग़हबान अर्थात् संरक्षक माना गया है।[753]

मूल सृष्टि की रचना के साथ ही अल्लाह ने मनुष्य-आदम की रचना गारे (सड़ी सूखी मिट्टी) से कर उसमें नख-शिख दुरस्त कर उसमें अपनी रूह (आत्मा) फूंकी सभी फ़िरिश्तों ने उसकी आज्ञा के अनुसार उस मनुष्य को सज़्दा (दंडवत झुकना) किया।[754] इब्लीस (शैतान) ने अल्लाह की आज्ञा का उल्लंघन किया तथा घमंड के कारण उसने आदम को सज़्दा नहीं किया तो अल्लाह ने उसे ज़न्नत से उतार दिया।[755] अल्लाह ने मनुष्य को अच्छी से अच्छी हालत में पैदा किया।[756] उसको (आदम को) और उसकी स्त्री (हव्वा) को ज़न्नत में रखा, ज़न्नत के बाग के एक दरख़्त को छोड़ कर अन्य दरख़्तों के फल खाने की आज्ञा दी।[757]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म मौलिक जगत को अल्लाह अर्थात् ईश्वर द्वारा सृष्ट मानता है। उसके कहे अनुसार सृष्टि पैदा हो जाती है। अल्लाह द्वारा सृष्ट जगत बहुत ही अच्छी तरह सृष्ट माना गया है। प्रत्येक जड़ और चेतन वस्तु को स्वेच्छापूर्वक उत्पन्न कर ईश्वर ने उन्हें अपनी कृपा एवं सरंक्षण प्रदान किया है। अतः इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर सृष्टि का ध्यान रखता हैं इसका अर्थ यह भी है कि मौलिक जगत की उत्पत्ति को अच्छा या शुभ माना गया है। आदम की रचना कर उसमें अपनी रूह फूंकना अर्थात् उसे अपनी आत्मा प्रदान करना और सभी फ़िरिश्तों को उसके सामने झुकने का निर्देश देना तथा फ़िरिश्तों द्वारा उसका पालन करना भी सृष्टि व आदम की रचना को श्रेष्ठ माना जाना दर्शाता है। अतः स्पष्ट है कि ईश्वर द्वारा सृष्ट अर्थात् रचित जगत को अशुभ नहीं माना गया है।

सृष्टि के मूल पुरुष आदम और उसकी स्त्री हव्वा को अल्लाह द्वारा उनके दुश्मन शैतान से

---

750. वही, सूरा 32/7

751. वही, 14/34; 26/7, 8; 27/60-62

752. क़ुर. मज़ीद, सूरा 23/13

753. वही, सूरा 39/62; 59/22-24

754. वही, सूरा 15/26-30; 37/11; 38-71-73

755. वही, सूरा 7/11-13; 15/31-34; 38/74-77

756. वही, सूरा 95/4

757. वही, सूरा 7/11, 19; 20/121

20—259 Min. of H.R.D./2005

चेताये जाने पर भी उसकी बातों में आकर बहक जाने तथा हमेशा के लिये अमर होने की इच्छा उत्पन्न अंथवा जागृत करने का वर्णन उपलब्ध होता है।[758] आदम और उसी स्त्री हव्वा ने बहककर उस दरख़्त (वृक्ष) के फल खा लिये जिसके लिये मना किया गया था तो उन पर परदे (गुप्तभेद-शर्मगाह) की चीजें ज़ाहिर हो गयीं तो अपने को ज़न्नत के दरख़्तों के पत्तों से ढंकने (छिपाने) लगे, आदम ने अपने परवरदिग़ार का हुक्म टाला और भटक गया।[759] अल्लाह को मनुष्य का हित चाहने वाला मानते हुए कहा गया है कि-फिर उनके परवरदिग़ार ने उनको संवारा और उन पर कृपा की, राह दिखायी।[760] मनुष्य मना किये गये दरख़्त के फल खाकर अमर न हो जाए इसलिये फर्माया कि तुम दोनों यानि इंसान और शैतान यहां (ज़न्नत) से उतर जाओ, तुममें से एक दूसरे के दुश्मन होंगे, फिर अगर तुम्हारे या तुम्हारी औलादों के पास मेरी तरफ से राह पहुंचे (मार्गदर्शन हो) तो जो मेरी सुझाई (बतायी) राह पर चलेगा वह न भटकेगा न दुःख पायेगा और जिसने मेरी याद से मुंह मोड़ा तो उसकी जिंदगी हर तरह की तंगी में गुज़रेगी।[761] तुम्हारे लिये धरती पर एक नियत समय तक ठिकाना और जीवन निर्वाह की सामग्री है। तुम्हें वहीं जीना और मरना है, उसी में से अंत में तुम निकल जाओगे।[762]

इन कथनों से स्पष्ट है कि अल्लाह ने आदम को उत्पन्न करने के बाद उसे हव्वा के साथ ज़न्नत में रखा और आदम ने अपने वादे के प्रतिकूल अल्लाह की आज्ञा का उल्लंघन किया। इसके परिणामस्वरूप आदम को ज़न्नत से नीचे अर्थात् धरती पर भेजा गया और उसे तथा उसकी संतान को धरती का जीवन व्यतीत करने का निर्देश अल्लाह के द्वारा दिया गया। इस्लाम धर्म में आदम और उसकी संतान को अल्लाह की आज्ञा के अनुसार धरती का जीवन जीने व कर्म करने को कर्ममय व्यावहारिक जगत की धारणा कहा जा सकता है।

कर्ममय व्यावहारिक जगत की संस्कृति होने के संबंध में निम्न उदाहरण महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं। कहा गया है कि उसने (अल्लाह ने) आसमानों और ज़मीन को उद्देश्य के साथ पैदा किया रात और दिन का काम और समय नियत किया।[763] आदम की संतान मनुष्य जो आदम के गुमराह होने के बाद

---

758. क़ुर. मज़ीद, सूरा 20/120; 7/20, 22

759. वही, सूरा 20/121; 7/22

760. वही, सूरा 20/122; 7/21

761. वही, सूरा 20/123-124

762. वही, सूरा 7/24-25

763. वही, सूरा 39/5

जन्म लेती है उसके बारे में कहा गया है कि 'उसने तुम्हें एक जीव (आदम) से पैदा किया, फिर उससे उसका जोड़ा (स्त्री-पुरुष) बनाया। तुम्हारे लिये आठ चौपाये-नर-मादा उतारे। वह, तुम्हारी माँओ (माताओं) के पेट में तीन अंधेरियों के बीच (तीन परदे-पेट, गर्भाशय और वह झिल्ली जिसमे बच्चा लिपटा होता है) तुम्हें एक के बाद एक सृजन रूप देता जाता है, वह तुम्हारा रब (परवरदिग़ार) है।'[764] यदि तुम उसकी आज्ञा से मुन्किर (विमुख) हो जाओ तो अल्लाह तुम्हारी परवाह नहीं करता। वह अपने बंदों के लिये कुफ्र (इंकार, कृतध्नता) पसद नहीं करता। यदि तुम शुक्र करो (कृतज्ञ) तो वह इसे पसंद करेगा। कोई किसी का बोझ नहीं उठायेगा, सब अपनी-अपनी करनी (काम) के जिम्मेदार हैं। क़ियामत में तुमको अपने परवरदिग़ार की तरफ लौट कर जाना है, इसलिये जैसे-जैसे कर्म तुम करते रहे हो तुमको वह (अल्लाह) एक-एक कर बतायेगा।[765] ये उल्लेख मनुष्य के जगत में रहकर कर्म करने का समर्थन करते हैं।

इनके अतिरिक्त मनुष्यों को वीर्य से पैदा किया[766], उसने तुमको माँ के पेट से पैदा किया, कान, आंख और दिल दिये, रहने को मकान आदि एक निश्चित समय तक के लिये दिये।[767] उसने तुमको कमज़ोर हालत में पैदा किया फिर शक्ति दी, फिर कमज़ोरी और बुढ़ापा।[768] वह जीवन मृत्यु देता है और पुनः पैदा करता है।[769]

हे लोगों! अपने 'रब' का डर रखो जिसने तुम्हें एक ही जीव (आदम) से पैदा किया, जोड़े बनाये/उनसे बहुत से पुरुषों और स्त्रियों को फैला दिया। उस अल्लाह का डर रखो जिसके वास्ते से तुम एक दूसरे से सहायता चाहते हो। रिश्तों नातों को तोड़ने से डरो। निःसंदेह अल्लाह तुम्हारी निग़रानी कर रहा है।'[770] आगे कहा है कि 'यतीमों को उनका धन दो और न बुरी चीज़ को अच्छी चीज़ से न उनके माल को अपने माल के साथ गड्ड-मड्ड करके उसे हड़प करो। निःसंदेह यह बहुत बड़ा गुनाह

---

764. वही, सूरा 39/6

765. वही, सूरा 39/7, 10/23-24

766. वही, सूरा 16/4; 75/37

767. वही, सूरा 16/78-80

768. वही, सूरा 30/54; 8/26

769. वही, सूरा 2/28; 30/40

770. वही, सूरा 4/1

(पाप) है।'[771] वह (अल्लाह) फिर पैदा करेगा ताकि जो लोग 'ईमान' लाये और अनुकूल कर्म किये उन्हें न्यायपूर्वक बदला दे।[772]

इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि इस्लाम धर्म कर्ममय जगत में सब मनुष्यों को ज़न्नत से भेजे गये आदम की संतान मानता है। ये सब मनुष्य देहरूप में माँ के गर्भ (पेट) से उत्पन्न होते है और संसार में रहते हुए शरीर अथवा देह कर्म करते हैं। ये कर्म या तो अल्लाह की आज्ञा व पथप्रदर्शन के आधार पर ईमानवाले, अच्छे अर्थात् पुण्य कर्म होते हैं, या फिर गुनाह वाले अर्थात् पाप कर्म होते हैं। कर्म करने के क्रम में व्यवहार दृष्टि से यह भी माना गया है कि अल्लाह मनुष्य द्वारा जन्म लेने के पश्चात् शरीर के द्वारा किये गये इन अच्छे-बुरे कर्मों का बदला क़ियामत अर्थात् पुनरुत्थान होने पर स्वर्ग और नरक के रूप में देता है।[773] अतः स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म अल्लाह द्वारा सृष्ट मौलिक जगत और व्यावहारिक कर्ममय जगत की धारणा को मानता है। यह व्यावहारिक जगत के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि नहीं अपनाता। इस्लाम धर्म इसे मनुष्य का कर्मक्षेत्र मानता है और इसमें रहकर ही अपने कर्मों को बिगाड़ कर या संवारकर उसके अनुसार प्रतिफल अर्थात् बदला प्राप्त कर सकते हैं, संसार को छोड़कर नहीं। अतः दुनियां को छोड़ बैठना अर्थात् संन्यास या वैराग्य लाज़िम (उचित) नहीं माना गया है।[774] मनुष्य की यदि कोई वस्तु जाती रहे तो उसका रंज (दुःख) नहीं करना चाहिये और यदि कोई वस्तु अल्लाह दे तो उस पर इतराना (रीझना) नहीं चाहिये।[775] इसका अर्थ है कि मनुष्य को सुख-दुःख में समान रहना चाहिये, निर्लिप्त रहना चाहिये। इस दुनियां में अच्छा नेक काम करते हुए अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त की जा सकती है और बदले में पुनरुत्थान होने पर सर्वोच्च स्थान स्वर्ग भी, अच्छे कर्म के अभाव में इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है। कौन क़ाफिर है और कौन ईमानवाले हैं इसका निर्णय उनके कर्म के द्वारा ही संभव माना गया है। ईमानवाला अल्लाह से प्रेम करने वाला, उस पर विश्वास करने वाला, झूठी ग़वाही न देने वाला, सच्चा, ज़कात देने वाला, इबादत करने वाला, गुनाहों से माफ़ी चाहने वाला, दीन के लिये कष्ट सहने वाला आदि कई अच्छे कर्मों से युक्त होता है।[776] मनोवासनाओं को संयमित करने वाला त्यागी और

---

771. वही, सूरा 4/2

772. वही, सूरा 10/4

773. वही, सूरा 3/30; 27/89, 90

774. वही, सूरा 57/27

775. वही, सूरा 57/23

776. वही, सूरा 2/46, 165, 177, 237; 3/17, 136, 195; 8/3; 11/23; 25/72, 73; 33/35; 41/33; 103/3

उदार होता है।[777] ऐसे व्यक्तियों को ही क़यामत व आख़िरत में अच्छा बदला-स्वर्ग का मिलना माना गया है। इस प्रकार कर्ममय जगत विश्वास, प्रेम, ईमान, सच्चाई, दान या ज़कात, संयम आदि के व्यवहार को बहुत महत्व दिया गया है। इन्हें शुभ प्रतिफल देने वाला माना गया है।

इस समस्त विवेचन से सारतः स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म अल्लाह अर्थात् ईश्वर द्वारा सृष्ट मौलिक जगत एवं व्यावहारिक कर्ममय जगत्-ये दो प्रकार के जगत को मानता है। ईश्वर द्वारा सृष्ट जगत जो उसके कहने से सृष्ट होता है, अच्छा माना गया है। आदम के बहक़ कर अमर होने की इच्छा एवं ईश्वर आज्ञा का उल्लंघन कर वर्जित वृक्ष का फल खाने के कारण ईश्वर निर्देश से व्यावहारिक जगत में मनुष्य को कर्म करना पड़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि व्यावहारिक जगत का कारण मनुष्य की इच्छाएं हैं। इन इच्छाओं के वशीभूत होकर असंयम से जो मनुष्य व्यावहारिक जगत में बुरा कार्य करता है वह नरक और जो अच्छा कार्य करता है वह स्वर्ग प्राप्त करता है। स्वर्ग और नरक मनुष्य के अंतिम कर्मफल हैं। स्वर्ग की प्राप्ति होने पर मनुष्य को कोई कर्म नहीं करना होता है। वह सभी व्यावहारिक जगत के कर्मों से मुक्त हो जाता है तथा हमेशा के लिये सुखमय स्वर्ग में रहता है वहां उसे कोई कष्ट नहीं होता है। इस स्वर्ग की प्राप्ति, प्रेम, सब्र, उदारता, सत्यता, संयम, त्याग, दान, प्रार्थना आदि से होना मानी गयी है। व्यावहारिक जगत में जो ईश्वर आज्ञा का उल्लंघन कर बुरे कर्म करते हैं वे नरक प्राप्त करते हैं। वहां विभिन्न प्रकार के कष्ट ही कष्ट हैं यह माना गया है।

व्यावहारिक जगत कर्मप्रधान जगत माना गया है। ईश्वर मनुष्य का पथप्रदर्शन करता है और जो मनुष्य इस पथप्रदर्शन के अनुसार कार्य करता है व न तो भटकेगा और न ही दुःख अर्थात् कष्ट पायेगा। अर्थात् स्वर्ग प्राप्त कर दुःख से सदा के लिये मुक्त हो जाएगा। इस आधार पर यह मानना असंगत नहीं होगा कि इस्लाम धर्म में स्वर्ग की प्राप्ति को ही मुक्ति के रूप में माना गया है। यह एक अर्थ में व्यावहारिक कर्ममय जगत से मुक्ति भी है।

4. इस्लाम धर्म में धर्म समभाव की अवधारणा :

i चेतनात्मक आधार पर धर्म समभाव :

इस्लाम धर्म में सभी मनुष्यों की उत्पत्ति एक जीव-आदम से मानी गयी है। इस संबंध में स्पष्टतः कहा है कि 'हे लोगों अपने रब का डर रखो, जिसने तुम्हें एक ही जीव से पैदा किया और उसी से (उस

---

777. वही, सूरा 79/40; 59/9, 10; 24/33

वर्ग और जाति का) उसका जोड़ा पैदा किया।'[778] हे लोगों हमने तुम्हें एक पुरुष और स्त्री (आदम एवं हव्वा) से पैदा किया और तुम्हारी बहुत सी जातियां और वंश बनाये ताकि तुम एक दूसरे को पहचान सको। अल्लाह के यहां तो तुममें सबसे ज्यादा इज़्जत वाला वह है जो तुममें से सबसे अधिक उससे (अल्लाह) डर रखता है।[779]

इस्लाम में कहा है कि आदम को मिट्टी/गारे से उत्पन्न कर अल्लाह ने उसमें अपनी रूह (आत्मा/चेतना) फूंकी।[780] उससे ही मनुष्य जीव की उत्पत्ति हुई। अतः स्पष्ट है कि चेतना के स्तर पर ईश्वर (अल्लाह) द्वारा आदम हव्वा और आदम-हव्वा से संपूर्ण मनुष्य जाति एवं उसके कई वंशों की उत्पत्ति होना माना है अन्य स्थल पर कहा है 'उसने तुम्हें मिट्टी से पैदा किया फिर क्या देखते हैं कि तुम मनुष्य हो, चलते फिरते हो।'[781] तुम निर्जीव थे उसने तुम्हें जीवित किया।[782] उसने तुम्हारे लिये स्वयं तुम ही में से जोड़े (नर-मादा या स्त्री पुरुष) पैदा किये ताकि तुम उनके पास आराम और चैन पाओ। तुम्हारे बीच प्रेम और दयालुता रख दी। निःसंदेह इसमें बहुत निशानियां है उन लोगों के लिये, जो सोच विचार करते हैं।[783]

सभी जीवों की एकता के लिये कहा गया है कि आकाश और धरती, रात और दिन में जो कुछ हैं वे सब उसी का है।[784] प्रत्येक जीव की रोजी अल्लाह के ज़िम्मे है।[785] वही खिलाता-पिलाता (पालन) है।[786] वह जैसे सभी जीवों को पैदा करता है वैसे ही जब चाहे उन्हें ज़मा (इकठ्ठा) कर लेने की सामर्थ्य भी रखता है।[787] अर्थात् सभी जीव उसी से (अल्लाह) संबद्ध है। वह सबका भेदरहित निर्माता एवं पोषक है। अन्य स्थलों पर भी अल्लाह द्वारा प्रत्येक जीव के जोड़े उत्पन्न करने, मनुष्य को बनाने और उसे

---

778. क़ुर. मज़ीद, सूरा 4/1

779. वही, सूरा 49/13

780. वही, सूरा 15/29-30; 38/71-74

781. वही, सूरा 30/20

782. वही, सूरा 2/28

783. वही, सूरा 30/21

784. वही, सूरा 6/12-13

785. वही, सूरा 11/6

786. वही, सूरा 26/79, 80; 29/60

787. वही, सूरा 42/27, 28

सजीव करने (ज़ान डालने, रूह फूंकने) तथा सभी मनुष्यों के मूल पिता आदम और माता हव्वा की संतान होने के संबंध में कथन उपलब्ध होते हैं।[788]

इन सभी कथनों से यह स्पष्ट होता है कि इस्लाम धर्म मूलतः सभी जीवों को एक ही अल्लाह द्वारा रचित व पोषित मानता है। इस प्रकार इस्लाम धर्म सभी मनुष्यों को मूलतः एक ही माता पिता की संतान मानने के कारण उनमें चेतनागत एकता को स्वीकार करता है। इस चेतनात्मक एकता के आधार पर यह परस्पर सहयोग करने और मनुष्य-मनुष्य के बीच समान रिश्ते-नाते बनाये रखने का निर्देश भी देता है। इन संबंधों की पहचान को मूल चेतना के आधार पर स्वीकृत करते हुए सम्मानीय माना गया है।

उपर्युक्त चेतनागत एकता के अतिरिक्त अल्लाह ने मनुष्यों में भाषाओं एवं रंगों की भिन्नता निरूपित करते हुए भी उनमें एकत्व के कई संकेत (निशानियां) दिये हैं। जैसे-क्रिया-कलापों की समानता (मनुष्यों का रात और दिन सोना, अल्लाह के अनुग्रह की तलाश करना, आशा व डर का होना, पहली बार उत्पन्न करना फिर जीवित करना आदि) होने से सभी एक समान है। इन निशानियों (संकेतों) को ज्ञान/बुद्धिपूर्वक सोच-विचार करने वाले पहचानते हैं,[789] जबकि सबको असमान/अलग-अलग मानने वाले भटकते हैं और अल्लाह उनकी कोई सहायता नहीं करता।[790]

अन्यत्र कहा है कि धरती पर चलने वाला कोई भी जीवधारी और अपने दो परों से उड़ने वाला कोई भी पक्षी हो इन सबके तुम्हारे जैसे ही गिरोह (समूह) हैं। ये सब अपने 'रब' (अल्लाह) की ओर फिर इकठ्ठे किये जाएंगे।[791] 'रब' सदा सीधे अर्थात् न्याय व सच्चे मार्ग पर होता है।[792] अर्थात् वह ईमान वाले सत्यप्रिय को सीधी नेक राह दिखाता है और असत्यप्रिय जातियों को भटकने के लिये छोड़ देता है।[793] अतः हर ओर से कट कर अपना रुख इस दीन की ओर जमा दो। उसकी (अल्लाह) ओर रूजू (प्रवृत्त) होओ और उससे डरो, नमाज़ (प्रार्थना) क़ायम करो, मुशरिक़ों (अनेक ईश्वरवादी) में से न हो। अल्लाह की बनायी हुई प्रकृति में मनुष्य की सृष्टि की गयी है। यह ठीक दीन (धर्म) है।[794] जो अल्लाह की खुशी

---

788. वही, सूरा 23/11-14; 39/6; 51/49; 7/189

789. क़ुर. मज़ीद, सूरा 30/22-27

790. वही, सूरा 30/29

791. वही, सूरा 6/38; 11/56

792. वही, सूरा 11/56

793. वही, सूरा 30/29

794. वही, सूरा 30/30-31

चाहते हैं वे नातेदारों, मुहताज़ों, मुसाफ़िरों को उनका हक़ दें, यही उत्तमता और सफलता है। मानव प्राण लेना हराम माना गया है।[795] किसी का बिना वजह न्याय की मांग जब तक न हो तब तक कत्ल न करने का आदेश दिया गया है।[796] इससे स्पष्ट है कि चेतनात्मक एकता को मानते हुए यह धर्म सभी के प्राणों को महत्वपूर्ण मानता है वह किसी के साथ अन्याय न हो यह भी मानता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि इस्लाम धर्म मनुष्य को जिस धर्म की ओर प्रवृत्त करना चाहता है वह मनुष्य की प्रकृति को नष्ट करना नहीं है वरन् उसे अपने ही मूल अस्तित्व का और अल्लाह के प्रयोजन का ज्ञान करवाना है, ईश्वर की ओर उन्मुख होना है। ईश्वर के प्रयोजन के विरुद्ध कार्य करना अपनी वास्तविक प्रकृति व पवित्र स्वरूप को नष्ट करना है। अपने आपको क्षति और नुकसान पहुंचाना है, बुराई में पड़ना है। वस्तुतः इस्लाम धर्म में चेतनागत एकता को स्वीकार करते हुए भ्रातृभाव को स्वीकार किया गया है।

कहा गया है कि हे ईमान वालों अल्लाह का डर रखो। तुम मुस्लिम हो। सब मिलकर अल्लाह की रस्सी को मज़बूती से पकड़ो, फूट में न पड़ो। अल्लाह की उस कृपा को याद करो जो उसने तुम पर की है, तुम उसकी कृपा से भाई-भाई हो गये।[797] 'ईमान वाले आपस में भाई-भाई हैं। तो अपने दो भाइयों के बीच सुलह-सफाई करा दो और अल्लाह का डर रखो ताकि तुम पर दया की जाये।'[798] हे ईमानवालों! बहुत से ग़ुमान से बचा करो-निस्संदेह कोई-कोई ग़ुमान गुनाह होता है–न लोगों के ऐबों और बुराइयों की टोह में पड़ो (रहो) और न किसी की पीठ पीछे निंदा करो-क्या तुममें से कोई इस बात को पसंद करेगा कि अपने मरे हुए भाई का मांस खाये? यह तो तुम्हें अप्रिय है-अल्लाह से डरते रहो।[799] हे ईमान लाने वालों! कोई गिरोह किसी गिरोह की हंसी न उड़ाये, न स्त्रियां दूसरी स्त्रियों कि हंसी उड़ाये। न अपनों पर चोटें करो और न एक-दूसरे को बुरा नाम दो। 'ईमान के बाद पापाचार का नाम भी बुरा है और जो कोई बाज़ न आये, तो ऐसे लोग ज़ुल्म करने वाले हैं।[800] ऐसा करने से परस्पर के संबंधों पर बुरा प्रभाव पड़ता हैं, नफ़रत और घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं। मनुष्य में सहजता व सरलता नहीं रहती है, प्रेम-भाव नहीं रहता। किसी के प्रति इस प्रकार का कार्य करना धर्म के प्रतिकूल है, और अपने मरे हुए

---

795. वही, सूरा 30/38
796. वही, सूरा 17/33; 5/32; 2/84
797. क़ुर. मज़ीद, सूरा 3/102-103
798. वही, सूरा 49/10
799. वही, सूरा 49/12
800. वही, सूरा 49/11

भाई का मांस खाने जैसा ही है। ईमान वालों को चाहिये कि वे एक ही अल्लाह की संतान (चेतनागत एकता) होने के आधार पर सब मनुष्यों को परस्पर भाई समझें क्योंकि मनुष्य मूलतः अल्लाह की सृष्टि ही है।

इस्लाम धर्म में मनुष्य समस्त मनुष्यों के संबंध का आधार सभी का एक ही स्वामी और पालक होना तथा आदि मनुष्य में उसकी रूह का होना माना गया है। इस आधार पर उनमें कोई अंतर नहीं किया गया है। अल्लाह के लिये सब समान है, वह सबके प्रति एक सा बदला चुकता है।

ii अनासक्त (राग-द्वेष से पर-निष्पक्ष) भाव के आधार पर धर्म समभाव :

इस्लाम में यह कहा गया है कि 'अल्लाह न्याय करते समय किसी से भी प्रभावित नहीं होता है।' वह किसी के भी प्रति राग-द्वेष के भाव से निर्णय नहीं करता है, निष्पक्ष है। अतः कहा है कि कोई किसी के काम न आयेगा और न किसी की सिफारिश चलेगी, न किसी से बदले में कोई चीज़ ली जाएगी।[801] वह बिना किसी पक्षपात के बदला/प्रतिफल देता है।[802] अन्यत्र भी किसी से प्रभावित न होकर सब मनुष्यों का उनके कर्मानुसार निष्पक्ष न्याय करने के संबंध में कथन में मिलते हैं।[803] उसका गौरव अत्यंत ऊंचा है और वह परम स्वतंत्र[804], बेनियाज़ (अपेक्षारहित/निस्पृह)[805] है। इसका अर्थ करना असंगत न होगा कि इस्लाम धर्म सांसारिक विषय-वस्तु से उत्पन्न राग-द्वेष की भावनाओं का ईश्वर में अभाव मानता है। पत्नी, पुत्र आदि के कारण मनुष्य में जो मोह/राग उत्पन्न होता है वह ईश्वर में नहीं होता है। वह परम स्वतंत्र एवं अपेक्षारहित दयालु है।

वह चाहे तो तुम्हें ले जाए और तुम्हारी जगह जिसको चाहे ले आये। जिस तरह उसने तुम्हें कुछ और लोगों की नस्ल (संतति) से उठाया/पैदा किया है।[806] वह किसी का मुहताज़ नही है जो कोई व्यक्ति कुछ करता है वह अपने लिये ही करता है। अल्लाह के लिये उससे कुछ नहीं होता है। यदि तुम अल्लाह से मुंह मोड़ोगे तो वह तुम्हारी जगह किसी और गिरोह को देगा।[807] उससे दीन (धर्म) का काम लेगा।

---

801. क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/48; 254, 20/109
802. वही, सूरा 34/3-5; 88/25, 26
803. वही, सूरा 2/254; 26/88; 31/33; 83/19
804. वही, सूरा 72/3; 34/23-26
805. वही, सूरा 112/2
806. क़ुर., मज़ीद, सूरा 6/134
807. वही, सूरा 47/38

दीन का काम रुका नहीं रहेगा।[808] ये कथन भी स्पष्ट करते हैं कि ईश्वर किसी व्यक्ति या जाति/गिरोह से कोई अपेक्षा नहीं करता है और न ही उनमें कोई भेद करता है। वह जिस प्रकार पैगंबर व मुस्लिम को अन्य स्थान पर पैदा करता एवं उठाता है वैसे ही इनके स्थान पर किसी अन्य को भी पैदा कर सकता है। वह किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं करता है।

वह सच्चाई के मार्ग की कठिनाइयों से विचलित न होने वाले एवं सब्र/धैर्य से उन्हें झेलने वालों को उसके अनुरूप ही लाभ देता है। जो लोग ईमान लाये, अनुकूल कर्म (अच्छे काम) किये, एक दूसरे के हक़ में ताक़ीद करते रहे (सत्यप्रिय एवं सहानूभूति पूर्ण रहे)[809] वे ही अल्लाह की रहमत के अधिकारी हैं, वे हमेशा लाभ में रहेंगे।

वस्तुतः इस्लाम धर्म के समग्र अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अल्लाह ने सभी मनुष्यों में अच्छाई और बुराई/ईमानदारी और बेईमानी ये दो प्रकार के रास्ते (कर्म साधन) दिये हैं।[810] मनुष्य को बुद्धि चेतना व अधिकार[811] दिया है कि वह चाहे जैसे इनका उपयोग करे। मनुष्य इन साधनों का उपयोग करने के लिये स्वतंत्र है। वह चाहे तो ईमानपूर्वक नेक कार्य करते हुए अपना जीवन अल्लाह के प्रति समर्पित करते हुए अपनी आत्मा/रूह को पाक़/शुद्ध कर सकता है और चाहे तो बेईमानी या बुरे कार्य कर अपने आपको तबाही के गड्ढे में गिरा सकता है। सब कुछ अल्लाह के हाथ में है किंतु वह न तो किसी पर तंगी (कष्ट) चाहता है[812] और न ही किसी पर अन्याय करता है। वह राग-द्वेष से परे रहकर निष्पक्ष रूप से सब लोगों को अच्छे व बुरे कार्यों के परिणाम से सचेत[813] कर देता है। वह किसी को अपनी पसंद के मार्ग पर चलने के लिये बाध्य नहीं करता है। जो व्यक्ति जैसे मार्ग पर चलते हैं उनके वह (अल्लाह) उस मार्ग को आसान कर देता है। वह सब मनुष्यों के प्रति एक जैसा, समान भाव अपनाते हुए उनके कर्म के अनुसार न्याय/परिणाम देता है।[814] इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य संकल्प व कर्म क्षेत्र में स्वतंत्र है वह अपने ज्ञान, कर्म और पवित्रता का उपयोग अपनी इच्छा से कर सकता है। अल्लाह राग-द्वेष से परे

---

808. वही, सूरा 48/16-17
809. वही, सूरा 103/1-3
810. वही, सूरा 90/8-10
811. वही, सूरा 75/36-40
812. वही, सूरा 5/6
813. वही, सूरा 35/22, 23
814. वही, सूरा 21/47; 10/4

होने के कारण इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता है। वह मनुष्य को दिये जाने वाले कर्मफलों से अप्रभावित रहता है।

पृथ्वी पर अल्लाह द्वारा भेजे गये हज़रत नूह के द्वारा राग-द्वेष से परे रहकर अपनी जाति के ईमान वालों को क्षमा करने व अल्लाह की ओर आने वाले संदेशों की अवज्ञा करने वालों को ज़ालिम कहकर उन्हें नष्ट करने की प्रार्थना की गयी है।[815] यह उल्लेख स्वजाति के प्रति राग एवं परजाति के प्रति द्वेष की भावना को न मानने का भाव अभिव्यक्त करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक व्यक्ति राग-द्वेष से परे होता है और वह स्व जाति का मोह नहीं रखता है तथा सब ईमानवालों का सदैव शुभ चाहता है।

इस्लाम धर्म में मनुष्य के लिये यह उचित माना गया है कि वह सुख-दुःख में एक जैसा रहे। यदि कोई वस्तु मनुष्य के हाथ से निकल जाए (जाती रहे) तो उसका दुःख (रंज) नहीं करना चाहिये व कोई वस्तु अल्लाह दे या मिल जाए तो उस पर प्रसन्न/इतराना नहीं चाहिये।[816] धन से राग-द्वेष व अहंकार उत्पन्न होता हैं अतः धन पर आसक्ति नहीं करनी चाहिए। इस संबंध में कहा है कि तबाही है उस व्यक्ति की जो लोगों की चुगली करता है और चोटें पहुंचाता है, जिसने माल (धन) इकट्ठा किया है और उसे बार-बार गिनता रहता है। मनुष्य के पास धन होने पर वह इस पर गर्व अथवा मद करता है और इससे धन के प्रति राग/मोह बढ़ता है लालसाएं (सांसारिक सुख-स्मृद्धि की इच्छा) उत्पन्न होती हैं तथा लालसाएं बंधन का कारण होती है अतः इनमें लिप्त नहीं होना चाहिये। इनसे बेतअल्लुक़ (निःस्संग/निःस्पृही) रहने वाले, स्तुति करने वाले, रूक़ू (सिर झुकाने वाले) करने वाले, सज़्दा करनें वाले, नेक़ काम करने की सलाह देने वाले, बुरे काम से मना करने वाले और अल्लाह ने जो हदें (नियम) बांध रखी हैं उन पर रहने वाले को ईमान वाला कहा गया है।[817]

इससे यह स्पष्ट होता है कि राग-द्वेष से परे होकर जो कोई भी ईमान का कार्य करते हैं उन सबके प्रति ईश्वर समान भाव रखता है। वह बदला/फल देते समय उनमें कोई भेद नहीं करता है। उनके कर्म के अनुसार ही प्रतिफल देता है। वह राग-द्वेष से परे-निष्पक्ष भाव से अपना न्याय करता है। किसी व्यक्ति विशेष के प्रति उसकी कोई आसक्ति नहीं होती है, यह मानना असंगत नहीं है। अतः यह मानना उचित होगा कि इस्लाम धर्म में राग-द्वेष से परे अनासक्त भाव के आधार पर समभाव को स्वीकार किया

---

815. वही, सूरा 71/1-6, 21-28

816. वही, सूरा 57/23

817. वही, सूरा 9/112

गया है। ईश्वर का अपेक्षारहित होना भी इसकी पुष्टि करता है।

iii अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव :

इस्लाम धर्म में अन्य धर्मों/मतों के प्रति समभाव का स्पष्ट चिंतन उपलब्ध होता है। कहा है कि 'कह दो हम तो अल्लाह पर और उस चीज़ पर ईमान ले आये जो हम पर उतारी गयी और उस चीज़ पर जो इब्राहिम, इस्माइल, इसहाक, याकूब और उसकी संतान पर उतारी गयी और उसी चीज़ पर जो मूसा, ईसा और दूसरे 'नबियों को उनके 'रब' की ओर से दी गयी है। हम उनमें से किसी के बीच कोई अंतर नहीं करते और हम उसी के मुस्लिम (आज्ञाकारी) हैं।[818]

ईमान लाने वाला चाहे वह यहूदी, ईसाई (नसारा) या साबिई हों, जो भी अल्लाह और अंतिम दिन पर ईमान लाये और अनुकूल कर्म करते हैं ऐसे लोगों के लिये रब के पास प्रतिदान-पुरस्कार हैं, वे न तो भयभीत होंगे और न ही दुःखी होंगे।[819]

इन दोनों आयतों से ज्ञात होता है कि इस्लाम धर्म किसी एक धर्म के पालन पर ही बल नहीं देता है और न ही मुसलमान होने पर बल देता है वरन् अच्छाई और बुराई के विचार पर बल देता है। वह मानता है कि किसी भी धर्म का पालन किया जाए परंतु मूल बात यह है कि वह अच्छाई व बुराई के फल पर विश्वास रखते हुए अच्छाई (नेकी) की ओर अग्रसर हो और बुराई (बदी) से बचे। जो कोई भी धर्मावलंबी (यहूदी, ईसाई, साबिई) इसका पालन करता है उसे अच्छा मिलता है। ईश्वर/अल्लाह की आज्ञा का पालन करने वाला ही मुस्लिम है चाहे वह कोई भी व्यक्ति हो।

अन्यत्र कहा है कि नेकी और वफ़ादारी यह नहीं है कि तुम अपना मुंह पूर्व की ओर करो या पश्चिम की ओर करो, बल्कि वफ़ादारी उनकी है जो अल्लाह, अंतिमदिन (क़यामत), फ़िरिश्तों, क़िताबों (धर्म पुस्तकों) और सब पैग़ंबरों पर ईमान लाये। मुहताज़ों, मुसाफ़िरों की सहायता करे, अपना वचन पूरा करे, ज़कात दें। यही सच्चे व अल्लाह का डर रखने वाले हैं।[820] पूरब-पश्चिम, किधर भी रुख करो सब ओर अल्लाह का सामना है।[821] स्पष्ट है कि सब धर्मों के पैग़ंबरों व धर्मग्रंथों पर विश्वास करने को मान्यता

---

818. क़ुर. मज़ीद, सूरा 3/84

819. वही, सूरा 2/60

820. वही, सूरा 2/177

821. वही, सूरा 2/115

देते हुए सदाचरण को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है। प्रार्थना/नमाज़ आदि के लिये दिशा कोई महत्व नहीं रखती है। उदारता और सत्यनिष्ठा से ही अल्लाह का अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता है।

इस्लाम धर्म हर ग़िरोह (समुदाय अथवा धर्म) के धर्म पैग़ंबरों व रसूलों को मान्यता देता है। कहा भी है कि हर क़ौम अथवा ग़िरोह (समुदाय) के लिये एक रसूल है तो जब उनके पास उनका 'रसूल' आ जाता है तो , उनका फैसला न्यायपूर्वक कर दिया जाता है और उन पर जुल्म नहीं किया जाता।[822] तुमसे पहले भी हम कितने रसूल भेज चुके हैं।[823] 'हमने जो भी कोई 'रसूल'; भेजा तो उसकी अपनी जाति की भाषा के साथ भेजा, ताकि वह उनसे खोल-खोल कर बयान करे।'[824] कितने ही भेजे गये रसूलों में से कुछ तो वे हैं जिनके बयान (वृतांत) हमने तुम्हें सुना दिये हैं, और उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनके बयान (वृतांत) हमने तुम्हें नहीं सुनाये।[825] पहले लोगों में कितने ही रसूल भेजे-यह उल्लेख कई स्थलों पर उपलब्ध होता है।[826]

स्वयं पैग़ंबर मुहम्मद से कहलवाया गया है कि हे मुहम्मद कहो! मैं कोई नया रसूल नहीं हूँ..... .... मैं तो बस उसी पर चलता हूँ जो मेरी ओर 'वह्य (दिव्य संदेश) की जाती है। मैं तो बस एक साफ-साफ सचेत करने वाला हूँ।[827] कह दो मेरे बस में न तुम्हें हानि पहुंचानी है और न मार्ग पर लाना।[828] धरती के टुकड़े-टुकड़े कर कितने ही ग़िरोह बाँट दिये गये। हममें कुछ नेक़ लोग हैं और हमीं में और तरह के भी, हम अलग-अलग मार्गों पर थे।[829] मैं तो केवल अपने 'रब' को पुकारता हूँ और उसके साथ किसी को शरीक़ नहीं करता।[830] इस्लाम धर्म में पैग़ंबर मुहम्मद को अन्य स्थलों पर भी शुभ सूचना देने वाला, सचेत करने व याद दिलाने का अधिकारी ही माना गया।[831] हानि लाभ का मालिक, जबरदस्ती

---

822. वही, सूरा 10/47

823. वही, सूरा 13/38; 6/42; 15/10

824. वही, सूरा 14/4

825. वही, सूरा 40/78

826. वही, सूरा 43/6

827. वही, सूरा 46/9

828. क़ुर. मज़ीद, सूरा 72/21; 7/168

829. वही, सूरा 72/11

830. वही, सूरा, सूरा 72/20

831. वही, सूरा 35/23, 24; 88/21; 33/46

करने वाला या दरोग़ा अथवा निर्णयकर्त्ता नहीं माना गया है।[832] यह अधिकार तो मात्र अल्लाह ही को है, अन्य किसी को नहीं। इस प्रकार इस्लाम में बल प्रयोग का निषेध पैग़ंबर की वर्णित जिम्मेदारी वाली आयतों से स्पष्ट होता है।

उपर्युक्त सभी कथनों से स्पष्ट होता है कि इस्लाम में केवल पैग़ंबर मुहम्मद को ही रसूल/पथप्रदर्शक नहीं माना गया है। वरन् यह भी माना है कि अन्य जाति-समुदायों में भी पथ-प्रदर्शक भेजे गये हैं और वे सब ईश्वर के द्वारा ही भेजे गये हैं। इसका अर्थ यह भी है कि उन सब भेजे गये-जिनका वर्णन क़ुरआन में हुआ है और जिनका वर्णन क़ुरआन में नहीं हुआ है-पैग़ंबरों ने अपनी-अपनी देश-काल परिस्थितियों में अपने-अपने समुदायों अथवा जातियों का मार्ग दर्शन किया। लोगों को ईश्वर का व सत्य का ज्ञान दिया, नैतिक बोध दिया।

इस्लाम धर्म में विभिन्न नबियों/रसूलों/पैग़ंबरों को मान्यता देते हुए उनके गुणों व कार्यों का वर्णन उपलब्ध होता है। इनमें जो क़िताब (धर्मशास्त्र) के वारिस नहीं हैं और जो क़िताब के वारिस हैं,[833] दोनों प्रकार के नबियों को उनकी जाति/ग़िरोह के लोगों का मार्गदर्शन करने के लिये भेजा गया ताकि लोग उनकी बातों व उपदेशों के आधार पर अल्लाह पर ईमान रखें एवं फ़साद (झगड़ा/उपद्रव) न करें। इन्होंने लोगों से उनके हित की बातें कही।[834]

क़ुरआन में पहले से उतरी हुई मौज़ूद क़िताबों (धर्मशास्त्रों) की तसदीक़ की गयी है।[835] उन्हें प्रामाणिक माना गया है। भिन्न-भिन्न धर्मों/मतों के पूजा के विधि-विधानों का समर्थन करते हुए कहा है कि हमने प्रत्येक ग़िरोह के लिये 'इबादत/क़ुर्बानी की एक रीति ठहरा दी है जिस पर वे चलते हैं। हे मुहम्मद इस मामले में तुमसे न झगड़े।[836] हमने तुममें से प्रत्येक के लिये एक धर्म-विधान और एक कर्म पत्र निश्चित किया है। अल्लाह यदि चाहता तो तुम सबको एक ग़िरोह का बना देता। परंतु उसने ऐसा नहीं किया ताकि जो कुछ उसने तुम्हें दिया है उसमें तुम्हारी परीक्षा ले। भलाई के कामों में एक दूसरे से आगे बढ़ने की कोशिश करो।[837]

---

832. वही, सूरा 88/22; 54/56

833-834. नूह, हद, सालेह, लूत, शुएब, मूसा (यहूदी), इस्माईल, इसहाक, याकूब, अय्यूब, यूनुस और क़िताब के वारिस-ईसा (ईसाई) व मुहम्मद (इस्लाम) माने गये हैं- क़ुर. शरीफ़, सूरा 7/59; 7/65; 7/73; 7/80; 7/85; 7/130; 4/163; 7/157, 158, 169-170; 4/171

835. वही, सूरा 3/3; 6/155, 156, 157

836. वही, सूरा 22/167, 34

837. क़ुर, मज़ीद, सूरा 5/48

हमने तुम्हारी ओर (अरब के लिये) अरबी क़ुरआन-वह्य (संदेशित) किया है, ताकि तुम बस्तियों के केंद्र (मक्का) को और उसके चारों ओर रहने वालों को सचेत करो।[838] क़िताब वालों (जो अन्य धर्मशास्त्र/ग्रंथ वाले हैं) से वाद-विवाद न करो, किंतु बातचीत का ऐसा ढंग अपनाओं जो उत्तम हो। जो तुम पर ज़ुल्म करें उनसे कहो हम 'ईमान' लाये उस चीज़ पर जो हम पर भी उतारी गयी। हमारा 'इलाह' और तुम्हारा 'इलाह' एक ही है। हम उसी के 'मुस्लिम' (आज्ञाकारी) हैं।[839] जिस अल्लाह ने जो संदेश (वह्य) मुहम्मद पर उतारा उसी अल्लाह ने अन्य पहले के रसूलों की ओर भी संदेश उतारे हैं, जो कुछ धरती व आकाश में है उसी अल्लाह का है।[840] सब रसूल अल्लाह के द्वारा लोगों की ओर संदेश देने के लिये भेजे गये हैं।[841] हे ईमानवालों! यह सब (नबी/रसूल) तुम्हारे दीन (धर्म) के लोग हैं, सब एक दीन पर हैं और मैं तुम सबका रब हूँ इसलिये मेरी ही इबादत करो।[842] वे (रसूल/नबी) किसी से कोई बदला नहीं मांगते और सीधी राह पर चलते हैं।[843] सबको दीन की ओर बुलाते है, किसी से कोई झगड़ा नहीं करते हैं।[844] इस प्रकार सब पैग़ंबरों/नबियों को ईश्वर की ओर से मानते हुए भाइयों के समान माना है।[845]

धर्म के नाम से जो भेद व झगड़े किये जाते हैं, उसके बारे में स्पष्टतः कहा गया है कि लोगों ने आपस में फूट डालकर अपने दीन के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।[846] अन्य स्थल पर कहा है कि लोग अपने कृत्यों में टुकड़े-टुकड़े हो गये, उसी में मग्न है जो उनके पास है।[847]

उपर्युक्त सभी कथनों से यह स्पष्ट होता है कि इस्लाम धर्म उन सभी धर्मों के प्रति उदारता व सहनशीलता अपनाने का आदेश देता है, जो मनुष्य को सीधा मार्ग दिखलाते हैं, सत्य की ओर प्रेरित करते हैं। जो मनुष्यों को सीधे दीन (सरल धर्म) से रोकते हैं; लोगों को अवैध माल रखने के लिये राह सुझाते हों, लोगों में मतभेद फैलाते हों ऐसे धर्म व विद्वानों से दूर रहने की बात कही गयी है क्योंकि ये भटकाने वाले/ग़ुमराह करने वाले ज़ालिम है।[848]

---

838. वही, सूरा 42/7
839. वही, सूरा 26/46
840. वही, सूरा 42/3-4
841. वही, सूरा 36/16-17
842. क़ुर., मज़ीद, सूरा 21/92;
843. वही, सूरा 36/21
844. वही, सूरा 42/13, 15
845. Maulana, Mohmmad Ali, The Religion of Islam, P. 228
846. वही, सूरा 21/93; 30/32
847. वही, सूरा 23/93
848. वही, सूरा 9/35-36

वस्तुतः इस्लाम धर्म के अनुसार सभी, लोग एक ही समुदाय के हैं, उन्होंने (लोगों ने) विभेद किया तो अल्लाह ने सचेत करने एवं शुभ सूचना देने के लिये नबियों को भेजा ताकि जिन बातों में वे विभेद कर रहे हैं उनके बीच फैसला कर दे।[849] अन्य धर्मों/मतों/जातियों के परस्पर के मतभेदों को अज्ञान से उत्पन्न मानते हुए कहा है कि-यहूद ने कहा कि 'ईसाई किसी बुनियाद पर नहीं है।' ईसाई कहते हैं कि 'यहूदी किसी बुनियाद पर नहीं है' और वे दोनों ही क़िताब पढ़ते हैं। इसी तरह की बातें उन लोगों ने भी कही जिनको ज्ञान नहीं है तो अल्लाह क़यामत के दिन उसका निर्णय कर देगा जिसमें ये विभेद कर रहे हैं।[850] इस प्रकार किसी पंथ विशेष पर चलने के आग्रह को न मानते हुए ईश्वर के मार्ग दर्शन को ही वास्तविक मार्गदर्शन माना गया है।[551]

धर्म के संबंध में मताग्रहों को न मानते हुए सहनशीलता को महत्व दिया है। कहा है कि 'दीन के बारे में कोई ज़बरदस्ती नहीं, सही बात नासमझी की बात से अलग होकर बिलकुल सामने आ गयी है। अब तो ताग़ूत (हद से आगे बढ़ना व झूठे देवताओं को मानना) को ठुकरा दे और अल्लाह पर ईमान लाये उसने मज़बूत सहारा थाम लिया जो कभी टूटने का नहीं।[852] यदि तेरा 'रब' चाहता तो धरती के सब लोगों को एक ही धर्म और ईमान वाला बना देता सबके सब ईमान ले आते पर उसने ऐसा नहीं किया तो क्या तू लोगों को धर्म और ईमान के लिये विवश करेगा कि वे ईमान वाले हों?[853], इन आयतों से स्पष्ट होता है कि इस्लाम धर्म में किसी भी व्यक्ति को धर्म न ईमान के लिये विवश करना उचित नहीं माना हैं, वह मानता है कि ज़बरदस्ती किसी को मुसलमान नहीं बनाया जा सकता। सहयोग, प्रेम, सच्चाई व ईमान को ही ईश्वर के निकट रहने का सबसे बड़ा आश्रय मानता है। अल्लाह उन्हीं का संरक्षक है जो ईमान लाये।

इस समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्य 'दीन' (धर्म) के रसूलों (दिव्यदूतों/मार्गदर्शकों) द्वारा दिये संदेशों का महत्व इस्लाम में स्वीकार किया गया है। अन्य शब्दों में यह भी कहा गया जा सकता

---

849. क़ुर., मज़ीद/क़ुर. शरीफ़, सूरा 2/213; 10/19

850. क़ुर. मज़ीद, सूरा, 2/113

851. वही, सूरा 2/120

852. वही, सूरा 2/256

853. वही, सूरा 10/99

है कि यह धर्म मूलतः धर्मों व मतों की विभिन्नता को अस्वीकार नहीं करता है, उन्हें भी ईश्वर प्रेरित मानता है। भिन्न-भिन्न नबी अपनी-अपनी जाति में उस एक ईश्वर को भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त करते हैं। प्रत्येक रसूल के बाद जो रसूल आता है वह भी ईश्वर व धर्म की बात इस तरह करता है कि उसकी जाति/समुदाय के लोगों में एकता स्थापित हो सके एवं वे सही-सदाचरण के मार्ग पर आ सकें।

इस्लाम धर्म यद्यपि विश्वास/श्रद्धा[854] को सर्वाधिक महत्व देता है तथापि विश्वास के साथ ज्ञान, बुद्धि, विवेक आदि को भी मान्यता देता है। इसके अनुसार अल्लाह पूर्ण ज्ञानवान, सत्य स्वरूप है।[855] वह अपनी बातों से झूठ को मिटाता है और सच को जमाता (स्थापित) है।[856] वह सब युक्ति करने वालों से श्रेष्ठ युक्तिवान है।[857] वह उन लोगों पर गंदगी (अधर्म एवं अकृतज्ञता) डालता है जो बुद्धि से काम नहीं लेते हैं।[858] स्पष्ट है कि इस्लाम ईश्वर को सत्यस्वरूप मानते हुए ज्ञान/सत्य के द्वारा धर्म का पालन करना मानता है। यह बुद्धिहीनों को कोई महत्व नहीं देता है क्योंकि उनके अज्ञान के कारण ऐसे मतभेद उत्पन्न होते हैं, जो 'हानिकारक होते हैं। वे मनुष्य को सीधे व सत्य मार्ग की ओर प्रेरित न कर असत्य मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं, भटकाते हैं। अन्य शब्दों में मनुष्य को ग़ुमराह करते हैं।

पूर्ण सच्चाई/सत्य में वाद-विवाद व तर्क को भी अंतर्निहित माना गया है। दीन का मार्ग सत्य का माना है। अतः कहा है कि उसने अपने बंदे पर फ़ुरक़ान (सत्य-असत्य का निर्णय करने वाला-सत्यासत्य विवेक) उतारा ताकि समस्त संसार के लिये चेतावनी वाला हो।[859] इसका अर्थ है कि सत्य और असत्य का भेद व निर्णय करने का ज्ञान पैग़ंबर को होना आवश्यक माना गया है। इस सत्यासत्य विवेक के आधार पर ही संसार के लिये सभी लोगों का मार्गदर्शन कर सकता है। इस विवेक ज्ञान (फ़ुरक़ान) को मानते हुए उचित रूप में तर्क-वितर्क करने के लिये कहा है कि हिक़मत और नेक नसीहतों (सदुपदेश) के साथ अपने रब के मार्ग की ओर लोगों को बुलाओं और उनसे ऐसी रीति से वाद-विवाद करो जो उत्तम हो।[860] वाद-विवाद/शास्त्रार्थ कर तर्क के आधार पर अपनी बात (सदुपदेश व सत्य)

---

854. वही, सूरा 49/2

855. वही, सूरा 18/44

856. वही, सूरा 30/54; 42/24

857. वही, सूरा 8/30

858. वही, सूरा 10/100

859. क़ुर. मज़ीद, सूरा 25/1

860. वही, 16/125

21—259 Min. of H.R.D./2005

मनवाने का अर्थ है कि लोगों के समक्ष समुचित युक्तियां/तर्क प्रस्तुत किये जाएं ताकि वे उसे सहज ही स्वीकार कर सकें। यह कथन अपनी बात को केवल विश्वास के आधार पर जबरदस्ती थोपने का समर्थन नहीं करता है। इस प्रकार बुद्धिपरीक्षण व सूझ (समझ) से निर्णय लेना स्वीकार किया गया है।[861]

इस्लाम में तत्वज्ञान एवं विषयगत ज्ञान-दोनों अर्थों में सूझ-बूझ अर्थात् विवेक से काम लेने के भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहा कि-मूसा को अल्लाह ने इसलिये भेजा कि वह अपनी जाति को अंधेरे से निकाल कर उजाले की ओर लाये।[862] अर्थात् समस्त प्रकार के अज्ञान से ज्ञान की ओर लाये। इसके अर्थ रूप में समाज व्यवस्था, राज्य व्यवस्था, जीवन पद्धति एवं समस्त प्रकार के आचरणों व विधि-विधानों का ज्ञान प्रदान करना उचित होगा। अन्य शब्दों में व्यक्ति को अच्छे बुरे कर्म-आचरण का बोध कराये तथा उसके परिणामों को स्पष्ट करे। इसे असत्य से सत्य की ओर लाना भी कहा जा सकता है। पैग़ंबरों द्वारा जो भी पथप्रदर्शन किया गया उसके बारे में कहा गया है कि ये सब लोगों के लिये सूझ की बातें हैं, उन लोगों के लिये मार्गदर्शन व दयालुता है जो विश्वास रखते हैं। जैसे-ज़ालिम लोग एक दूसरे के साथी या मित्र हैं। अल्लाह उनका साथी है जो उससे डरते हैं।[863] मनुष्य में ज्ञान, भाव और क्रिया तीनों होते हैं। अतः इनमें उचित समन्वय करते हुए ज्ञान के आधार पर सूझ-बूझ से काम लेने को कहा गया है।[864] विवेक/ज्ञान के अभाव में अज्ञान के कारण मतभेद उत्पन्न होते हैं। इसलिये सत्यज्ञान ही मनुष्य को ईश्वर मार्ग की ओर प्रेरित कर सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस्लाम धर्म में ज्ञान, बुद्धि व युक्ति के आधार पर वाद-विवाद कर मतभेदों को दूर करना माना गया है। अज्ञान के कारण मतभेद उत्पन्न होते हैं अतः उन्हें सत्यासत्य विवेक के आधार पर दूर करना चाहिये। सबके साथ नेकी, क्षमा, सुलह व दयालुता का व्यवहार करना चाहिये, बुराई को भलाई से जीतना चाहिए।[865]

इस्लाम में युद्ध/ज़िहाद[866] का समर्थन विवेक के आधार पर अन्याय के प्रतिकार के लिये करना माना है मानव प्राण लेने या हिंसा करने के लिये नहीं। कहा भी गया है कि बदला लेने के लिये हत्या

---

861. क़ुर. मज़ीद, 27/41

862. वही, सूरा 14/5

863. वही, सूरा 45/19-20

864. वही, सूरा 11/17

865. वही, सूरा 2/256; 16/90, 91; 28/54, 55; 41/35; 42/37, 43; 49/9, 10

866. वही, सूरा 17/33

करना या किसी को मारना ज़ायज़ नहीं है।[867] तुम कमज़ोर पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के लिये क्यों नहीं लड़ते।[868] स्पष्ट है कि कमज़ोरों-जिन पर अन्याय हो रहा हो उनके न्याय के लिये संघर्ष या लड़ना स्वीकृत किया गया है, किसी पर ज़बरदस्ती करने या डराने के लिये नहीं।

धर्म समभाव के इस विवेचन से सारतः स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म भिन्न-भिन्न देश-काल में उत्पन्न धर्म पैग़ंबरों-जिन्हें अन्य शब्दों में धर्म तीर्थंकरों भी कहा जा सकता है–को एवं उनके द्वारा संस्थापित धर्मों को स्वीकृति प्रदान करता है। वह उनके संदेशों को भी परमतत्व/ईश्वर/अल्लाह की ओर प्रेरित करने वाले तथा सत्य की ओर ले जाने वाले मानता है। जाति, भाषा, एवं भौगोलिक स्थान के आधार पर उनमें कोई अंतर नहीं मानता है। चेतनात्मक आधार पर, राग-द्वेष से परे-निष्पक्षता के आधार अन्य धर्मों/जातियों के प्रति सहिष्णुता, समन्वय और समानता का भाव स्वीकार किया गया है। वह उनके प्रति समभाव के आधार पर सहृदयता व सामंजस्य अपनाने पर बल देता है क्योंकि सभी अल्लाह के पैदा किये हुए एक ही आदम की संतान है।

इस्लाम के अनुसार मतभेद होने पर बात-चीत का आरंभ नम्रतापूर्वक उन चीज़ों से करना चाहिये जिनमें दोनों पक्ष के लोग सहमत हों। विधिपूर्वक सर्वमान्य आधार पर सहमत होना चाहिये क्योंकि सभी मनुष्यों का ईश्वर एक ही है। जो किताबें/धर्मग्रंथ व पथप्रदर्शक अन्य भाषा वाली जातियों या समुदायों के लिये ईश्वर की ओर से भेजे गये थे उन्हें मानने का संदेश भी दिया गया है। इसका अर्थ यह भी है कि सभी का अल्लाह एक ही है तो फिर अल्लाह के आज्ञाकारी मुस्लिम (अल्लाह/ईश भक्त) के लिये यह बात किस प्रकार उचित हो सकती है कि अल्लाह का धर्म संदेश एक जगह आये तो उस पर 'ईमान' लाये और उसी एक अल्लाह का धर्म संदेश पृथ्वी पर कहीं दूसरी जगह आये तो वह उससे इंकार करने लग जाए। सभी धर्म पैग़ंबर या तीर्थंकर ईश्वर द्वारा भेजे गये हैं तथा ईमान वाले हैं और ईमान वाले आपस में भाई-भाई हैं। इस प्रकार सभी पैग़ंबर या तीर्थंकर भी आपस में भाई-भाई है। क्योंकि वे सभी को सत्य, ईमान व नेक-सीधे मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं।

इस्लाम में निष्पक्ष न्याय को विशेष महत्व दिया गया है। न्याय केवल दंड व्यवस्था नहीं है वरन् अपराध व ज़ुल्म को रोककर समाज में शांति की स्थापना करना भी है।[869]

---

867. वही, सूरा 17/33

868. वही, सूरा 4/75

869. क़ुर. मज़ीद सूरा 5/33; 9/1-5, 10-15; 11/116; 57/25

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस्लाम धर्म का मूल सिद्धांत है कि सभी मनुष्य मूल चेतना के आधार पर समान हैं। सब कुछ ईश्वर/अल्लाह का है। इस पृथ्वी (ज़मीन) व देश (मुल्क़) में बसने वाले उस ख़ुदा के ही बंदे हैं। इसलिये बंदों पर बंदों की तानाशाही अनुचित/अधार्मिक है। अन्य शब्दों में मनुष्य पर मनुष्य की तानाशाही अनुचित है उसे सीधे व ईमानपूर्वक धर्म का पालन करना चाहिये। सभी धर्म व धर्म-संस्थापक (मार्गदर्शक) उसी ख़ुदा द्वारा भेज गये हैं। अतः कहा जा सकता है कि इस्लाम धर्म धर्म समभाव के मान्य सभी आधारों के आधार पर धर्म समभाव को मान्यता देता है।

4.4 धर्म समभाव का तुलनात्मक अध्ययन :

विश्व के मान्य प्रमुख पाश्चात्य धर्म यहूदी, ईसाई धर्म में धर्म के मान्य प्रत्यय सिद्धांतों यथा-परमसत्ता/परमतत्व, शरीरेत्तर चेतना, कर्मवाद और जगत संबंधी विचारों का एवं धर्म समभाव के अंतर्गत चेतना के आधार पर, राग-द्वेष से परे-अनासक्त-निष्पक्ष समत्व भाव के आधार पर एवं अन्य धर्मों के प्रति धर्म समभाव (सहिष्णुता, संबंध) के विचारों का सैद्धांतिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अतः अब उनके धर्म प्रत्ययों का एवं धर्म समभाव का तुलनात्मक विवेचन करना प्रासंगिक होगा। इसलिये यहां हम तीनों धर्मों पर पूर्व विवेचन के आधार पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे।

यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम धर्म परंपराओं का क्रमिक विकास हुआ है। यहूदी, ईसाई और इस्लाम तीनों ही नबीमूलक अथवा पैग़ंबरी धर्म हैं। ये भिन्न-भिन्न देश-काल एवं परिस्थितियों में विकसित होने के कारण पृथक-पृथक धर्म माने जाते हैं। तथापि तुलनात्मक दृष्टि से इनमें कुछ समान भाव वाली विचारधाराएं भी दृष्टिगत होती हैं जिनके आधार पर उनमें परस्पर समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

पाश्चात्य धर्म चिंतन के तीनों धर्म-यहूदी, ईसाई और इस्लाम एक ही ईश्वर को सृष्टा, सर्वोच्च सत्ता, दयालु, अनुग्रहकारी, धीरजवंत करुणामय सत्य एवं न्याय करने वाला तथा क्षमाशील मानते हैं।[870] उसे ही उपास्य मानते है।[871] इनमें अल्लाह के अतिरिक्त अन्य देवी, देवताओं या मूर्त्तियों आदि की उपासना का निषेध किया गया है।[872]

---

870. Is, 43/10-13; Exo. 34/6-9; Lev., 19/4; I Tim., 1/17; Cor., 8/1-4, 7; Mark, 12/69;. क़ुर. मज़ीद, सूरा 6/13-14; 40; 40/61-67; 2/21, 255; 112/1

871. Exo. 20/3-6; Deut. 5/7-10; I Cor., 8/5-6; क़ुर. मज़ीद, सूरा 16/51, 20/108; 3/64

872. Exo. 12/13; 20/3-6; Deut; 5/7-10; 6/14-15; I Cor., 8/1-4, 7; Mark, 12/29; क़ुर मज़ीद, सूरा 10/18; 12/108; 17/55-56

यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम तीनों धर्मों में सर्वोच्च सत्ता ईश्वर या अल्लाह के बाद भिन्न-भिन्न काम करने वाले ईश्वर के विश्वसनीय दिव्य संदेश वाले देवदूतों या स्वर्गदूतों अर्थात् फ़िरिश्तों को भी माना गया है।[873] यहूदी, ईसाई व इस्लाम के अनुयायी इनमें विश्वास प्रकट करते हैं क्योंकि इनके माध्यम से दिये गये संदेश व नबियों द्वारा ही, ईश्वर लोगों पर अपने को प्रकाशित करता है।[874] इसका अर्थ यह भी है कि नबी ईश्वर प्रेरित होते हैं और यह प्रेरणा देवदूतों के द्वारा ईश्वर भेजता है। अतः पथप्रदर्शक [मोज़ेज (मूसा), जीसस (ईसा), मुहम्मद आदि] की बातों पर विश्वास करना ईश्वर पर विश्वास करना माना गया है। अर्थात् इनकी आज्ञा का पालन ईश्वर आज्ञा के पालन के समान ही माना गया है।[875] ईसाई धर्म में तो स्पष्टतः जीसस को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि पुत्र ही माना गया है।[876] अतः स्पष्ट है कि यहूदी, ईसाई व इस्लाम तीनों ही धर्म स्वर्गदूतों अथवा देवदूतों को ईश्वर का दिव्य संदेश पहुंचाने वाले मानते हैं। इस प्रकार तीनों ही धर्म नबियों या पथप्रदर्शक-धर्म प्रवर्त्तकों को ईश्वर प्रेरित प्रतिनिधि के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं।

तीनों धर्मों में शरीर, इंद्रियां एवं उन भौतिक विषयों को नश्वर मानते हुए शरीरेत्तर चेतना-रूह अथवा आत्मा को नित्य, अमर एवं शाश्वत मानने वाले कथन उपलब्ध होते हैं।[877] इनके अनुसार मृत्योपरांत देहनाश के पश्चात् आत्मा नष्ट नहीं होती है। वह स्वर्ग अथवा नरक में रहती है।[878] इससे स्पष्ट है कि यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म शरीरेत्तर चेतना या आत्मा को अनश्वर/नित्य/अमर मानते हैं। चाहे वे स्वर्ग में रहें या नरक में।

पाश्चात्य धर्म से संज्ञिप्त तीनों धर्म मरणोत्तर जीवन और पुनरुत्थान की मान्यता में विश्वास करते हैं।[879] इस मान्यता के अनुसार मनुष्य का पुनर्जीवित होना माना गया है।[880] यद्यपि तीनों धर्मों में पुनर्जन्म

---

873. Is., 6/3; Exo., 3/2, 5: Mtt., 1/20, 4/11; Luke, 1/26, 28, 30-38; 2/13, 15; क़ुर. मज़ीद, सूरा 26/193; 69/40; 2/87; 6/61

874- Exo., 19/3-25, 20/1-21; John, 3/16, 17; 14/9-13, 17/1-8; क़ुर. मज़ीद, सूरा 34/28; 35/22, 23; 48/10; 48/28

875. Exo., 19/3-25; 20/1-21; 53/11; John 3/31, 34-36; क़ुर. मज़ीद, सूरा 4/13, 14; 80

876. Matt., 3/2; 17, John 3/17-21; Acts., 7/55-56, 59

877- Gen., 1/2; Exo., 35/31: Job., 34/14-15, I Tim., 6/15, 16; I Pet., 1/23; क़ुर. मजीद, सूरा 4/71; 79/37-38; 98/3-4

878. Ps., 9/17, 16/8-10, 68/33; II Kings, 2/1-11; Matt., 25/46; Mark, 9/48; क़ुर. मज़ीद, सूरा 4/13, 14; 25/15, 16

879-880. Job., 14/14; Matt., 12/40, 26/60-61; Mark; 8/31, 10/34; I Cor., 15/17, 51-54; क़ुर. मज़ीद, सूरा 3/106, 107, 185, 19/68-72, 85

को सैद्धांतिक मान्यता प्रदान नहीं की गयी है तथापि इस संबंध में पुनर्जन्म की मान्यता का बीज रूप में पाया जाना स्पष्ट होता है।[881] अतः तीनों धर्मों में पुनर्जन्म की मान्यता की संभावना को स्वीकार करना असंगत न होगा। इन धर्मों के कथन पुनर्जन्म के सिद्धांत के अनुकूल हैं।

तीनों धर्म जन्म-मरण के अंतर्गत मनुष्य के संदर्भ में बंधन व मुक्ति की धारणा को मान्यता प्रदान करते हैं।[882] देह जन्म से कर्म व कर्म से दुःख और दोष का उत्पन्न होना माना गया है[883] और परमात्मा या ईश्वर (यहोवा, परमेश्वर, अल्लाह) का सानिध्य व अनुग्रह सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला[884] माना गया है। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म बंधन का कारण ईश्वर आज्ञा का उल्लंघन, लालसाएं, तृष्णा, ईर्ष्या, क्रोध, अधर्म आदि को मानते हैं।[885]

ये धर्म कर्मवाद की मान्यता में अटूट विश्वास रखते हैं तथा प्राणी द्वारा कृत कर्मों का न्याय रूप में बदला अर्थात् प्रतिफल दिया जाने और उसका फलभोग अनिवार्य मानते हैं।[886] ये धर्म इस फलभोग के अंतर्गत आरामदेह स्वर्ग और यातनापूर्ण नरक की प्राप्ति होना भी मानते हैं।[887] शुभ कर्मों से स्वर्ग की एवं अशुभ कर्मों से नरक की प्राप्ति मानी हैं।

यहूदी, ईसाई और इस्लाम-तीनों धर्म जगत (मूल जगत और व्यावहारिक जगत) अथवा संसार चक्र को मानते हैं। जगत के अंतर्गत मूल जगत की उत्पत्ति अर्थात् सृष्टि ईश्वर द्वारा मानी गयी है।

881- Job., 14/2; 33/25; Eccle., 4/2-3; Matt., 11/11; John, 9/2, 22, 24, 28; Mark, 6/15; क़ुर. मज़ीद, सूरा 7/29; 10/34; 22/5-7; 47/20-24

882. Job., 5/8, 10/1; Ps., 18/2-50; Rom., 5/12-13, 17-19; 7/5, 6, 8/13 क़ुर. मज़ीद, सूरा 22/77; 74/38

883. Job., 14/1, 15/14; Ps., 51/5; Rom 5/12-14; Acts., 20/22-23; I John, 1/8, 10; क़ुर. मज़ीद, सूरा 45/23-24; 19/105-106

884. Ps., 18/2-50, 34/6, 49/15; Job., 18/46, 19/13, 14; Is., 9/5, 46/11; Rom., 8/15-17; Luke, 20/38; क़ुर. मज़ीद, सूरा 44/51-57; 98/8

885. Job., 17/11; Lev., 20/3-27; Rom., 7/5, 7, 8; Gal., 5/16, 17, 18; क़ुर. मज़ीद, सूरा 12/53; 102/1-2; 74/16; 36/26; 45/23

886. Prov., 11/18; Ezek. 18/20; Is., 3/10-11; Gen., 27/28-29 Exo., 15/26; Matt., 18/18; 35; Rom., 2/5, 6; Luke, 6/37, 38; क़ुर. मज़ीद, सूरा 11/115; 16/93; 27/88-90; 38/27, 28; 45/21, 22, 27-29

887. Job., 19/27; Ps., 9/17; 11/5-7; 36/5, 7, 8; I Chr., 16/26-27; Deut., 26/15; Is 14/8-9; Matt, 5/10, 27-30, 7/21, 11/25; 13/49-50; 18/1-4, 18; Luke., 16/19 क़ुर. मज़ीद, सूरा 4/14, 115; 11/111, 22/14, 19-22, 56; 23/103, 104; 25/75; 27/88-90; 29/5; 36/55-58

यह उसके कहने से अर्थात् शब्द से हो जाती है।[888] व्यावहारिक कर्ममय जगत मानव के गुमराह होने से किये गये आदि-पाप के परिणामस्वरूप माना गया है। इसमें मनुष्य का देह रूप में जन्म लेकर नियत समय तक कर्म करना और मृत्यु के द्वारा देहनाश होना माना गया है।[889] इंद्रिय इच्छाओं या वासनाओं के वशीभूत होकर संसार में कर्म करने से दुःख उत्पन्न होता है। पुनरावृत्ति से बचते हुए यह कहना पर्याप्त है कि वासनाओं/लालसाओं को पथभ्रष्ट करने वाला माना गया है। इनसे ही दुःख एवं बंधन होता है।

धर्मों में स्वर्ग की प्राप्ति और मुक्तिदाता ईश्वर की प्रसन्नता, कृपा व निकटता प्राप्त करने के लिये साधना मार्ग के रूप में विश्वासपूर्वक ईश्वर व नबियों की आज्ञाओं का पालन, अंतःकरण की शुद्धता एवं कर्म से धर्म के सदाचरण (पवित्रता, संतोष, दान, प्रार्थना, ईमान, सहयोग, संयम, सत्य आदि) को महत्व दिया गया है।[890] इनके समन्वित संतुलन से ही मुक्ति व स्वर्ग की उपलब्धि होना माना गया है। स्वर्ग की प्राप्ति सदा के लिये मानी गयी है। वहां ईश्वर की निकटता भी मानी गयी है। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म मानते हैं कि स्वर्ग प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य की मुक्ति हो जाती है। उसके समस्त दुःखों का अंत हो जाता है।

तीनों धर्मों के धार्मिक प्रत्ययों के इस तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भिन्न-भिन्न देश-काल एवं परिस्थितियों के कारण उत्पन्न भिन्नताएं होने पर भी उनकी मूलभूत/सारभूत मान्यताओं में प्रायः अधिक समानताएं उपलब्ध होती हैं। इन धर्मों में धर्म समभाव के अंतर्गत चेतनात्मक आधार पर एकात्मता को माना गया है। इनके अनुसार सभी का मूल स्रोत अर्थात् सृष्टा परमसत्ता (ईश्वर) माना गया है।[891] ये धर्म समस्त मानव जाति को एक ही ईश्वर द्वारा रचित मूल पुरुष (आदम व स्त्री हव्वा) की संतान मानते हैं।[892] ईश्वर द्वारा ही मनुष्य को सजीव किया गया है। अर्थात् उसका आत्मा ईश्वर द्वारा

---

888. Gen., 1/2-5; 7/28; 2/1-3; John, 1/1; 1/3; 1/14 क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/116-117; 3/47; 32/7; 40/61-64

889. Gen., 2/17; 3/11-23; 4/1-5, 6-8; Rom., 7/; क़ुर मज़ीद, सूरा 2/28; 8/26; 10/23-24; 30/40, 54; 39/6, 7

890. Exo., 20/1-17; II Sam., 22/2-28, 34; Rom., 7/6, 8/8; John, 3/3, 5, Gal., 3/21-27, 5/16-26; James 2/17, 26;क़ुर. मज़ीद, सूरा 3/164; 24/33; 20/131-132; 22/77; 97/1-5

891. Gen., 1/2-5; 2/1-3; 2/7; John, 1/1; 1/3, 14; क़ुर. मज़ीद, सूरा 7/54; 32/4, 7

892. Gen., 3/20, 1/27; Acts., 17/26-30; I Cor., 11/12; क़ुर. मज़ीद, सूरा 4/1; 49/13; 7/189; 39/6; 51/49

प्रत्त्त है।[893] इस प्रकार तीनों धर्म मानते हैं कि चेतनागत आधार पर सभी मनुष्य अंततः ईश्वर से ही संबद्ध होने के कारण उनमें मूलतः कोई भेद नहीं हैं। चेतना के आधार पर सभी मनुष्य एक ही जाति के हैं। अतः जाति, वंश, वर्ण, भाषा, धर्म राष्ट्र आदि के दैशिक अथवा सामयिक भेद के आधार पर उनमें परस्पर अंतर अथवा भेदभाव नहीं करना चाहिये। सबके प्रति एकात्मता का या समान भाव अपनाते हुए सभी मनुष्यों के लिये निष्पक्ष न्याय, धर्म, दया, नैतिकता आदि को मान्यता दी गयी है।[894] इनमें कर्मानुसार सबके कल्याण की कामना की गयी है।[895] इस प्रकार स्पष्ट है कि तीनों धर्म चेतनात्मक आधार पर मनुष्य-मनुष्य में कोई अंतर नहीं मानते हैं।

तीनों धर्मों में राग-द्वेष से परे-निष्पक्ष अथवा अनासक्त भाव के आधार पर समभाव (समत्वभाव) को मान्यता दी गयी है। इन धर्मों में यह माना गया है कि किसी जाति विशेष या धर्म विशेष के प्रति ईश्वर न तो राग (मोह) रखता है और न ही द्वेष। कोई भी व्यक्ति यदि बुरा कार्य करता है तो वह अधर्म है और यदि वह अच्छा कार्य करता है तो धर्म है। जो व्यक्ति धर्म का कार्य करते हैं जैसे – ईश्वर की आज्ञा पर चलते हैं, न्याय, नैतिकता, धर्म, दया आदि का पालन करते हैं उन्हें ईश्वर निष्पक्षतापूर्वक पुरस्कार देता है व सहायता करता है तथा जो इनके विपरीत कर्म करते हैं उन्हें ईश्वर दंडित करता है।[896] ईश्वर अपनी मन-मरज़ी (स्वेच्छा) से कुछ भी नहीं करता है, सब कुछ निष्पक्ष/सत्यतापूर्वक व्यक्ति के कर्मानुसार ही करता है।[897] वह निःस्पृह (अनासक्त राग-द्वेष से परे) होने से व्यक्ति के पाप-पुण्य से अप्रभावित रहता है।[898] अतः व्यक्ति को भी राग-द्वेष से परे रहकर ईश्वर ज्ञान के आधार पर सुख-दुख में समान रहते

---

893. Gen., 2/7; Ezek., 18/4; Is., 42/1, 6-7; 48/5-6; Acts., 17/26-30; I Cor., 11/12; Rom., 8/15; क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/87; 17/85; 15/29-30; 38/71

894. Jer., 22/3, 15-16; Ezek., 18/5-9; Matt., 10/9-11; 19/18-23; Rom., 2/8-9; II Thess, 1/6-8; क़ुर. मज़ीद, सूरा 30/29; 2/83, 220; 20/132; 98/5

895. Is., 42/6-7, 1; 48/5-6; 53/10; Acts., 2/17-19, 10/38; क़ुर. मज़ीद, सूरा 22/77; 41/8; 23/1-5

896. Ezek., 18/4, 10-13, 18, 20-21; Matt., 5/3-10, 27-30; 10/9-11; Thess., 1/6-8; Rom., 3/29; क़ुर. मज़ीद, सूरा 103/1-3

897. Lamen., 3/31-36, 38-40; Ps., 96/13., Gen., 18/25; Ps., 96/13; Heb., 12/22; 23/29; Acts., 10/35; John., 5/30; क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/48, 254; 26/88; 31/33; 83/19

898. Job., 6/3; 14/9; 35/6, 7, 8; Acts., 13/43-49; क़ुर. मज़ीद, सूरा 47/38; 48/16-17; 6/134

हुए[899] सबके प्रति समान/एक सा व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार तीनों धर्म राग-द्वेष से परे, निष्पक्षता के आधार पर सबके प्रति समभाव को मान्यता देते हैं।

यहूदी, ईसाई और इस्लाम-तीनों धर्म अन्य धर्मों के प्रति उदार, सहिष्णु एवं सामंजस्यपूर्ण भाव अपनाते हैं। तीनों धर्म अन्य जातियों व धर्मों के लोगों के प्रति समभाव पूर्ण सह अस्तित्व रखने के सिद्धांत को मान्यता देते हैं।[900] कारण कि सभी मनुष्य एक ही ईश्वर से संबद्ध है। अतः ईश्वर को किसी भी मनुष्य के साथ अमानवीय, अन्यायपूर्ण व्यवहार करना स्वीकार्य नहीं है। जो भी मनुष्य ईश्वर को पुकारता है, उसके प्रति निष्ठा-विश्वास रखता है, धर्मपूर्ण, अच्छा व्यवहार करता है ईश्वर उनके प्रति शुभ करने वाला दयावान एवं रक्षावान है।[901] अन्य देश के लोगों (परदेशियों) व जातियों के लोगों अर्थात् भिन्न-भिन्न धर्मों के लोगों के साथ आदर, प्रेम, सहिष्णु, नम्र एवं सहृदयतापूर्ण व्यवहार करना स्वीकार किया गया है।[902]

तीनों धर्म बुद्धि/विवेक से ही सत्यान्वेषण कर मृदु-कोमल व्यवहार, सत्यतापूर्ण (युक्ति से) न्याय, उदार व मेल की युक्ति का होना/समभाव का होना संभव मानते हैं।[903] सबके प्रति करुणा व सम्मति (सन्मतिपूर्ण सहमति) का भाव रखते हैं। इनके अनुसार विवेकी मनुष्य ज्ञान बढ़ने से, झगड़ा नहीं करते हैं। इन धर्मों में किसी को तुच्छ या हीन न समझने का निर्देश दिया गया है।[904]

इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन/विश्लेषण के आधार पर सारतः यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी/पाश्चात्य धर्मों में धर्म समभाव के सभी आवश्यक आधार उपलब्ध होते हैं। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म मानवीय आदर्शों एवं अन्य धर्मों/मतों के प्रति सम्मान भावना, समत्व भावना और विवेक भावना के आधार पर भ्रातृत्व, सहानुभूति, आत्मीयता, अनाग्रहता, सहिष्णुता आदि का व्यापक चिंतन प्रस्तुत करते हैं।

---

899. क़ुर. मज़ीद, सूरा 57/23

900. Mic., 4/1-4, 5; Mala., 2/10; Acts., 14/16-17; I Cor., 12/4-11,12-31; Rom., 8/15; 12/3-5; Heb., 1/1-2; क़ुर. मज़ीद, सूरा 30/20-28; 2/213; 10/19; 36/16-17

901- Lamen., 3/31-36, 55-59; Joel., 2/12, 21, 27; Acts., 10/35, 45-46; क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/62; 19/51-56, 30; 45/19-20

902. Is., 42/1-4., Prov., 17/14-15; Acts., 15/19-20; Rom., 12/9, 10, 13, 14, 16, 17, 21; I Cor., 3/3-9, 4/4-5, 6-8; 13/1-9 John, 12/44-47; क़ुर. मज़ीद, सूरा 3/84; 2/17; 72/11; 3/3; 6/155, 156, 22/167; 5/48; 29/46; 21/92; 36/21; 42/13, 15

903. Prov., 8/20-26; 15/1-4; 14; 12/20; 18/15-16; 10/6-10; 12; Luke, 20/21; I Cor., 6/2-5; II Cor., 8/7, 8; क़ुर. मज़ीद, सूरा 18/44; 42/24; 30/54

904. Prov., 13/10, 15; 14/21-24; 16/21; 22/10; Eph., 6/11-16; I Thess., 4/12; I John., 2/7; क़ुर. मज़ीद, सूरा 7/68-69, 73, 79, 87, 93

पंचम सोपान

विभिन्न प्रमुख धर्मों में अंतर्निहित धर्म समभाव का तुलनात्मक अध्ययन (विश्लेषण-विवेचन)

पिछले अध्यायों में हमने विश्व में प्रचलित अनेक धर्म परंपराओं में से मुख्यतः छः धर्मों को शोध प्रबंध का विषय मानते हुए उनका विवेचन प्रस्तुत किया है। इस विवेचन के अंतर्गत तृतीय सोपान में हिन्दू धर्म, जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म को पौर्वात्य धर्म से संज्ञिप्त कर इनके मान्य सिद्धांतों एवं धर्म समभाव की अवधारणाओं को प्रस्तुत कर उनकी तुलना की है। इसी प्रकार चतुर्थ सोपान में यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म को पाश्चात्य धर्म से संज्ञिप्त कर इनके मान्य सिद्धांतों एवं धर्म समभाव की अवधारणाओं को प्रस्तुत कर उनकी तुलना की है। इस तुलना से यह स्पष्ट होता है कि पौर्वात्य धर्म से एवं पाश्चात्य धर्म से संज्ञिप्त धर्म यथा–हिन्दू, जैन, बौद्ध एवं यहूदी, ईसाई व इस्लाम धर्म परंपराएं यद्यपि देश-काल एवं परिस्थितियों की भिन्नता के होने से भिन्न-भिन्न धर्म के रूप में स्थापित हुई हैं इनके मूल सिद्धांत एक दूसरे से तत्वतः भिन्न नहीं हैं। उनमें समभाव पाया जाता है। अतः उनकी विवेचनात्मक पुनरावृत्ति से बचते हुए इस अध्याय में पूर्व विवेचित पौर्वात्य एवं पाश्चात्य धर्मों में अंतर्निहित धर्म समभाव संबंधी विचारों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

5.1 चिंतनात्मक सैद्धांतिक पक्ष (शुक्ल पक्ष)

1. विश्व के प्रमुख धर्मों के सिद्धांतों में निहित धर्म समभाव की धारणाओं की तुलना :

यह स्पष्ट किया ज़ा चुका है कि प्रत्येक धर्म में परमसत्ता की धारणा स्वीकृत है यह सत्ता में निरपेक्ष एवं चैतन्य स्वरूप मानी गयी है। धर्मों में इसे ईश्वर, ब्रह्म, यहोवा, परमेश्वर, प्रभु, परमात्मा, अल्लाह या रब के रूप में प्रस्तुत किया गया है। परमसत्ता के ये रूप सर्वोच्च सर्वशक्तिमान, पूज्य एवं सर्वव्यापी माने गये हैं।[1] जैन धर्म में परमसत्ता के रूप में परमात्मा[2] को मान्यता दी गयी है और देवाधिदेव जिनेंद्र

---

1. ऋग. 6/22/1; 8/25/16, 10/90/1; यजु., 40/5; कठ. उप., 2/10
   -Deut., 6/4; Is. 43/10-13; 45/20-24-Mark, 12/29; Eph., 4/5-6
   क़ुर. मज़ीद, सूरा 1/1-2; 23/91; 112/1
2. स्याद. मं., 1, पृ. 9 पंचास्ति सं., मंगल श्लोक 1, पृ. 32, गाथा।

(वर्धमान) को सभी देवताओं से वंदित, सर्वोच्च, सर्वज्ञ एवं पूज्य माना गया है। बौद्ध धर्म में परम सत् धर्म के रूप में स्वीकृत हुआ है।[3] यह एक प्रकार से ब्रह्म मार्ग को ही धर्म का मार्ग कहते हैं।[4] और धर्म को पूज्यभाव से देखने का आदेश देते हैं।[5] अतः धर्म ही सर्वोच्च यथार्थ सत्ता के रूप में माना गया है। बुद्ध को 'देवातिदेव'/देवताओं में ईश्वर[6] कहा गया है और उनके बोधिसत्व व अमिताभ रूप को ईश्वर की तरह ही उपास्य माना गया है।[7]

विवेचित सभी धर्मों में भिन्न-भिन्न कार्य संपादित करने वाले देवों/देवताओं, स्वर्गदूतों/फ़रिश्तों आदि को माना गया है।[8] ये ईश्वर/परमसत्ता के निकट सानिध्य में रहने वाले, सर्वज्ञ एवं कल्याण कारक माने गये हैं।

इन सभी धर्मों में परमसत्ता का ज्ञान देने वालों के रूप में संदेश वाहकों को भी माना गया है। जिन्हें अवतार, तीर्थंकर, अरहंत, नबी और पैग़ंबर/रसूल कहा गया है।[9] ये संदेशवाहक अपने-अपने युग

---

3. दीर्घ नि., 3/80
4. संयुक्त नि., 1/141; 55; थेरगाथा, 689
5. वही, 2/138; अंगुत्तर नि., 2/20
6. सद्धर्मपुंडरीक, 7/31; बोधिचर्या., 9/36-38
7. धम्मपद, 14/195, 196; The Gospel of Buddha, P. 152-156, XCVIII, 18-22 P. 231
8. ऋग., 7/1/1, 7/3/9; 7/75/5; 7/78/3
   -भग. सू., 12/9/461; पंचास्ति., सं., गाथा 1, 17, 117
   -धम्मपद, 2/30; 8/105; 15/200; 17/224, 230; महागोविंद सुत्त
   -Is., 6/3; Exo., 3/2, 5
   -Mtt., 1/20; 4/11; Luke, 1/26, 28, 30-38; 2/13, 15
   -क़ुर. मज़ीद, सूरा 26/193; 69/40; 2/83; 6/61
9. -गीता, 4/7-8, 10/20-37; भाग., 9/9/50
   -आव. चूर्णि, 85; आव. नि., गाथा 80; सूत्रकृ. सू., 2/7/872
   -ललित वि., परिवर्त, 5/134-147, 13/397, 525
   -Exo., 20/2-6, 13-17
   -John., 1/16-18
   -क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/213; 20/1; 21/107; 33/7

में व्यक्ति व समाज को धर्म एवं परमसत्ता (परमतत्व, परमात्मा) का ज्ञान एवं आत्मशुद्धि का मार्ग बताते हुए उसके अनुरूप धर्माचरण करने का निर्देश देते हैं। परम ज्ञान से युक्त (दिव्य ज्ञानवान) माने गये हैं साथ ही धर्म की एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना भी करने वाले माने गये हैं।[10]

शरीरेत्तर तत्व के रूप में सभी प्रमुख धर्म चेतना अथवा आत्मा को मान्यता प्रदान करते हैं।[11] यह आत्मा स्थूल शरीर से भिन्न, पृथक, स्वतंत्र, नित्य एवं अनश्वर या अमृत्य माना गया है।[12] बौद्ध धर्म में पंचस्कंध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान) से भिन्न या स्वतंत्र आत्मा को नहीं माना गया है। यह पंचस्कंधों के समूह से उत्पन्न होने वाली चैतन्य शक्ति को ही आत्मा (अत्त) अथवा विज्ञान मानता है।[13] यह विज्ञान नष्ट नहीं होता है अपितु अनवरत संतति प्रवाह (चित्त संतति या विज्ञान प्रवाह) के रूप में रहता है जिसे हम 'परिवर्तनशील नित्यता' कह सकते हैं। स्पष्ट है कि सभी धर्म चेतना अथवा आत्मा में विश्वास करते हैं।

इन सभी विवेचित धर्मों की एक सामान्य धारणा मरणोत्तर जीवन की है जिसे पौर्वात्य धर्मों में पुनरागमन एवं पुनर्जन्म के रूप में तथा पाश्चात्य धर्मों में पुनरुत्थान अथवा पुनर्जीवन के रूप में माना गया है।[14] यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में कई कथन पुनर्जन्म की धारणा का परोक्ष संकेत देते हैं।[15] अतः

---

10. -गीता, 4/7-8; भाग., 9/24/56; -पंचास्ति, सं., गाथा 1, पृ. 5-6
    -महापरिनिब्बान सुत्त, 6/1; धर्मचक्रप्रवर्तन, प्रथम प्रवचन; सद्धर्मपुंडरीक, 2; ललित वि., परि., 8; बोधिचर्या., 9/6, 7; -Exo., 20/13-17
    -Matt., 6/1-4; 4/17; 9/35 - क़ुर. मज़ीद, सूरा 5/16, 19; 7/157; 48/10, 28

11-12. ऋग., 1/164/38; कठ. उप. 1/2/18; गीता 2/17-20, 13/29
    भग. सू., 9/6/3/87; सूत्र कृ., टीका, 1/1/8; नियम सार, 47
    -अत्थसालिनी, पृ. 143-144; धम्मपद, 10/129, 130; 12/157
    -I Tim., 6/15, 16; Eccle, 3/11; Ps. 16/10; 49/14, 15
    -Matt., 10/28; 12/41; Luke, 23/43; I Pet., 1/13
    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 7/20; 10/104; 15/29-31; 19/17-29; 79/38

13. अभि. कोश 3-18 टीका; संयुक्त नि., भाग 2, पृ. 278-279; चेतनासुत्त, 12/4/8

14. -ऋग., 10/58/7; गीता, 8/1; प्रश्न उप., 5/4; बृह. उप., 4/4/3-4
    -उत्तरा सू., 3/3-5; 19/46; सूत्रकृ., 2/2/6, 2/7/5
    -मज्झिम नि., 1/3/1; वजिरासुत्त, 1/5/10; धम्मपद, 12/161-162
    -Dan., 12/2, 14/14; -Gen., 1/2; I Tim., 6/15, 16; I Pet., 1/23
    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 3/185, 7/29-30; 10/4, 34; 22/5-7; 31/27-28

15. Job., 19/26, 27; Eccle., 4/2-3; Job., 14/1-9, 33/25
    -John. 9/2; Matt., 16/14; Mark, 6/15; I Cor., 15/44, 51-54
    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 7/29; 165-166; 10/34; 29/19; 30/11, 27;47/20-24; 86/8

स्पष्ट है कि मरणोत्तर जीवन के स्वरूप के संबंध में चाहे पौर्वात्य एवं पाश्चात्य धर्मों की धारणाओं में भेद हो किंतु धर्म समभाव की धारणा के संदर्भ में यह मानना पर्याप्त होगा कि मरणोत्तर जीवन की मान्यता को सभी धर्म स्वीकार करते हैं।

एक अन्य समान धारणा कर्मवाद है जो इन सभी धर्मों में स्वीकृत है। इसका अर्थ किये गये कार्य के फल एवं उनका कर्त्ता के द्वारा भोग माना गया है। इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म के लिये स्वयं उत्तरदायी है। उसे (जीवात्मा) अपने किये हुए कर्मों का फल भोगना पड़ता है।[16] शुभ, अच्छे अथवा पुण्य कर्मों का फल शुभ/अच्छा होता है। हिन्दू, जैन, बौद्ध, यहूदी, ईसाई और इस्लाम ये सभी धर्म अच्छे या शुभ कार्य करने पर स्वर्ग की और बुरे या अशुभ कार्य करने पर नरक की प्राप्ति का होना मानते हैं।[17] स्वर्ग में दुःखों का पूर्णतः अभाव माना गया है जबकि नरक मे दुःख, यातना आदि मानी गयी है।

चेतना/आत्मा एवं कर्म के सिद्धांत की धारणा के साथ-साथ ये सभी धर्म व्यक्ति या जीवात्मा के संदर्भ में ही बंधन और मुक्ति/मोक्ष की धारणा को मानते हैं। इन सभी धर्मों में अज्ञान (अविद्या), राग-

---

16. अथर्व., 5/1/2; मुंडक उप. 3/1/10, 3/2/2; उप. 2/27; महाभा. शांतिपर्व, अध्याय 20;21
    -भग. सू., 1/2/63; उत्तरा सू., 13/23, 20/23-30, पंचास्ति, सं., गाथा 122, 132
    -मज्झिम नि., 3/203
    -Is. 3/10-11; Prov., 12/14; Ezek., 18/20; Job., 4/8, Gen. 3/1-6
    -Matt., 18/18; 25/45-46; Luke, 6/44-45; Gal., 5/19-23
    क़ुर. मज़ीद, सूरा 3/30; 11/111, 115; 27/88-90; 45/27-29
17. -ऋग., 18/4/4; गीता, 5/15; 2/37; 16/16, मार्कण्डेय पु., 12/3/39; पद्म पु. स्वर्गखंड
    -सूत्र कृ., 2/1/4; 2/5/12-29
    -संयुक्त नि., मच्छरीसुत्त, 1/4/2; धम्मपद, 9/126
    -Ps. 9/17; 16/8-10; 33/13-18; 49/14, 15; Prov., 23/14; I Chr., 16/26-27
    -Matt., 5/3-10, 11-12, 38-42, 43; 10/9-11; Rom., 2/7-9; Luke, 16/19, 23; Mark, 9/43
    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 4/13; 9/20-22; 23/102-103; 25/75; 78/31-35; 2/24; 4/14, 115; 7/97; 22/19-22

द्वेष व तृष्णाओं (लालसाओं) को दुःख व बंधन का कारण माना गया है।[18] इनसे मुक्त होकर तत्वज्ञान प्राप्त कर अनासक्त भाव से कर्म करने से मुक्ति होना माना गया है।[19] मुक्ति होने पर व्यक्ति सब कष्टों से मुक्त हो जाता है और उसका पुनः संसार में देह-जन्म और देह-मरण नहीं होता है।[20] हिंदू धर्म में मुक्ति को मोक्ष, जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म में निर्वाण और इस्लाम धर्म में नज़ात कहा गया है। अर्थात् सभी धर्म मानते हैं कि मुक्ति होने पर व्यक्ति समस्त प्रकार के देहकर्मों से मुक्त हो जाता है।

सभी धर्मों में दुःख से मुक्ति के लिये तत्वज्ञान एवं साधना के मार्गों को स्वीकार किया गया है।[21] सभी धर्मों में प्रायः नैतिक मूल्यों यथा–सत्यपालन, संयम, ज्ञान, प्रेम, सहयोग, दान, ईमान, सहिष्णुता, क्षमा,

---

18. बृह. उप., 4/4/5; ईश. उप., 17; कठ. उप., 2/2/7; गीता, 14/7/8

    -उत्तरा सू., 19/16; 32/6-7; पंचास्ति., गाथा, 31/32

    -संयुक्त नि., बंधन सुत्त, 1/3/5; धम्मपद, 12/6, 8; संयुक्त नि., दुतिय अविज्जा पच्चया सुत्त, 12/4/6

    -Gen., 3/19, II Sam., 22/29, 34; Ps., 14/1, 15; Job., 17/11; Prov., 5/22, 17/11

    -Gal., 3/16-20, II Rom., 5/12-13, 7/1-6, 7-8, Acts., 20/22-23; John 1/8, 10

    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 7/24-25; 102/1-2; 38/26;; 45/23; 18/27-28

19-20. -मुंडक उप. 3/2/5-9; श्वेता. उप., 1/6, 6/9; गीता, 9/9, 32, 5/6, 6/15, 4/22

    -उत्तरा. सू., 19/90-98, 28/28-35, 32/106-110; आचा. सू., 1/4/2/1

    -अंगुत्तर नि., 3/33, उदान, 8/1, 9, 10

    -Job., 19/13, 14, 21-27; 34/6; 49/15; Is., 9/5, 43/11

    -Rom., 7/6; 8/13-17; Luke 20/38; Gal., 2/16-20

    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 22/77; 41/8, 30-32; 90/27-30; 20/130-131

21. गीता 4/34, 39 - तत्वा. सू., 1/1, उत्तरा. सू., 28/2

    -इसिभासियाइंसुत्त, 21/3; सुत्तनिपात, 28/2; अंगुत्तर नि., 1/17

    -स्रोतग्रन्थ, 51/12-13; Job., 32/8, 21/22-26

    -Rom., 7/6; 8/5-6, 7-8 14, 21. 33; Eph., 4/22, 24 Gal., 3/21-27; II Pet. 1/17

    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/125, 183; 4/36; 23/1-5; 97/1-5

पश्चताप आदि को स्वीकार करते हुए इनके विपरीत गुणों को अवांछनीय माना गया है।[22] इस प्रकार मानव जीवन में समन्वय और संतुलन की स्थापना सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों के पालन से संभव होना, इन सभी धर्मों द्वारा माना गया है।

अतः विभिन्न प्रमुख धर्मों के धर्म प्रत्यय सिद्धांतों के उपर्युक्त समभावपूर्ण तुलनात्मक वर्णन के आधार पर सारतः स्पष्ट है कि वर्णित–

- सभी धर्म मानते हैं कि परम सत्ता मूलतः एक सर्वव्यापी, सर्वोच्च एवं परमपूज्य है।
- सभी धर्म परमसत्ता के अतिरिक्त देवों/दूतों/फ़रिश्तों को मान्यता देते हैं।
- सभी धर्म परमसत्ता का ज्ञान व निर्देश देने वाले, दिव्यज्ञान से युक्त संदेशवाहकों/मार्गदर्शकों को मानते हैं।
- सभी धर्म चेतना को अमर/अविनाशी मानते हैं।
- सभी धर्म मरणोत्तर जीवन की मान्यता को स्वीकार करते हैं।
- सभी धर्म कर्म और कर्मफल के उपभोग की मान्यता के साथ ही पाप-पुण्य एवं स्वर्ग और नरक की धारणा में विश्वास (मानते) रखते हैं।
- सभी धर्मों में राग, द्वेष, तृष्णा, अज्ञानादि से बन्धन माना गया है और अनासक्ति तथा तत्वज्ञान से मुक्ति होना माना है।
- सभी धर्म जगत् अथवा संसार चक्र को मानते हैं।
- सभी धर्म दुःख से मुक्ति के लिये धर्म साधना का मार्ग स्वीकार करते हुए नैतिक मूल्यों के परिपालन को आवश्यक मानते हैं। अतः स्पष्ट है कि वर्णित पौर्वात्य एवं पाश्चात्य सभी प्रमुख धर्म युगभेद रखते हुए भी धर्म-प्रत्ययों की प्रायः समान धारणाएं रखते हैं तथा अपने देश काल एवं परिस्थितियों में प्रचलित भाषा एवं भावों में उन्हें अभिव्यक्त करते हैं।

2. विभिन्न प्रमुख धर्मों में धर्म समभाव की मान्य अवधारणाओं के आधार पर तुलना :

हिन्दू, जैन, बौद्ध, यहूदी, ईसाई और इस्लाम–इन सभी धर्मों में धर्म समभाव के अंतर्गत चेतना

---

22. -मुंडक उप; 3/2/5-9; श्वेता, उप., 1/6, 6/9; गीता, 9/9, 32
    -तत्वा. सू., 9/1-2; राजवा. 1/4/3-ललितवि., पृ. 783; धम्मपद, 14/190
    -Ex0., 20/1-17; Is., 56/1-7; Ezek., 18/5-9; -Matt., 5/14-16, 38-42, 43
    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/83, 220; 24/33

के आधार पर सभी मनुष्यों में समानता एवं एकात्मता को माना गया है।[23] इनके अनुसार सभी मनुष्य एक ही जाति (मनुष्य) के हैं अतः उन सबके लिये परस्पर सद्भाव अथवा भ्रातृभाव का होना माना गया है।[24] वंश, जाति, वर्ण धर्म आदि के आधार पर उनमें किसी भी प्रकार के भेद को स्वीकार न करते हुए सब वर्णों एवं जातियों के मनुष्यों के प्रति समान भाव अपनाते हुए परस्पर स्नेह, सौहार्द, सहयोग, न्याय, धर्म, दया, नैतिकता आदि का व्यवहार करना माना गया है।[25] इन सभी धर्मों के अनुसार चेतनागत आधार पर सभी मनुष्य अंततः परमसत्ता से ही संबद्ध है।[26] इसलिये उनमें मूलतः कोई भेद नहीं है। अतः सबके

---

23. -ऋग., 10/191/2-4; 5/59/6; 5/60/5
    -उत्तरा. सू., 6/7; दशवै., 6/11, भग., सू., 7/8
    -सुत्तनिपात, 3/37/7, 27; धम्मपद, 10/129-130, 26/388, बोधिचर्या., 8/14-15 8/99-100
    -Gen., 3/20; 1/27; -Acts., 17/26-30; I Cor., 11/12
    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 4/1; 49/13; 39/6; 51/49
24. -ऋग., 5/60/5; अथर्व., 3/30/1-7; 12/12; गौतम न्याय सूत्र., 2/2/70., सांख्यका, 5/7
    -उत्तरा., सू., 6/7, आचा. सू., 1/4/1/127; नियमसार, 104
    -धम्मपद, 26/388; इत्तिवुत्तक, 2/2/9; बोधिचर्या., 3/17-18, 20, 21; लंकावतार सू., 66/6
    -Gen., 1/27; 3/20; Ezek., 18/4; -Matt., 23/9-10; I Cor., 10/1-4
    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 3/102-103; 4/1; 49/13
25. महाभा. शांतिपर्व, 50/3; 61/24, मनु. 7/92
    -सूत्रकृ., सू., 442; योगसार, 8/81-82
    -धम्मपद, 1/10, 13/168, 169; संयुक्तनि, आबालिक सुत्त, 10/12
    -Jer., 22/3; 15-16; Ezek; 18/5-9
    -Matt., 10/9-11; 19/18-23; Rom., 2/8-9; II Thess., 1/6-8
    -कुर., मज़ीद, सूरा 30/29, 2/83, 220; 20/132; 30/29; 98/5
26. -ऋग. 10/191/2-3; बृह. उप., 1/4/10, 3/8/9; श्वेता उप., 3/2-3 कठ., उप., 2/1/6-7
    -समाधि., 97-98, 2/223/7, कार्तिकेय अनुप्रेक्षा, 192, 198; पर प्र., 1/123
    -सुत्तनिपात, 3/37/7; बोधिचर्या, 8/99-100
    Gen. 3/20; 1/27, 27
    -Acts., 17/26-30; I Cor., 11/12
    क़ुर. मज़ीद, सूरा 4/1; 49/13; 7/189; 39/6; 51/49

कल्याण की कामना की गयी है।[27] स्पष्ट है कि पूर्व विवेचित सभी धर्म चेतनात्मक आधार पर सभी मनुष्यों में परस्पर संबद्धता को स्वीकार करते हुए उनमें समभाव (समत्व एवं भाव) को मानते हैं। इन धर्मों में यह माना गया है कि परमसत्ता निष्पक्ष एवं अनासक्त (निःस्पृह) है।[28] वह किसी जाति या धर्म विशेष के प्रति न तो राग (मोह) रखती है और न ही द्वेष। जो कोई भी व्यक्ति बुरा एवं मानवता विरोधी कार्य करता है वह अधर्म है और जो कोई भी व्यक्ति अच्छा कार्य करता है वह धर्म है। जो नम्रता, सत्य, न्याय, नैतिकता, धर्म, दया, प्रेम आदि का पालन करते हैं वे शुभ फल प्राप्त करते हैं और जो कोई इनके विपरीत कर्म करते हैं वे दंड रूप में अशुभ फल प्राप्त करते हैं।[29] अर्थात् सब कुछ व्यक्ति अपने-अपने कर्मानुसार–निष्पक्ष सत्यतापूर्वक ही प्राप्त करते हैं।[30] इन धर्मों के अनुसार धार्मिक व्यक्ति को राग-द्वेष

---

27. -ऋग., 1/89/1-2, 8
    -प्रश्नव्या. सू., 2/1/21-22; उत्तरा. सू., 6/7
    -मज्झिम नि., 1/3/6; इतिवुत्तक, 2/2/9; बोधिचर्या, 8/105-108; 3/21
    -Is., 42/1, 6-7; 48/5-6; 53/10; -Acts., 2/17-19; 10/38
    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 22/77; 23/1-5; 41/8
28. -अथर्व., 13/4/4
    -कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 198, समाधि., 2/223/7
    -इतिवुत्तक सुत्त 43; ललित वि., परि. 19/853; 26/1486
    -Job., 6/3; 14/9; 35/6; 7, 8; -Acts., 13/43-49
    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 6/134; 47/38; 48/16-17
29. -ऋग., 10/190/1; अथर्व., 5/1/2; बृह. उप., 4/4/5-6; गीता, 4/11; 9/29; 16/16
    -भग. सू., 1/2/64; सूत्रकृ. सू., 2/1/4, 2/5/12-29
    -धम्मपद., 9/126; मज्झिमनि., 2, पृ. 203; अंगुत्तर नि., 2/3/7-8
    -Ezek., 18/4; 10-13, 18, 20-21
    -Matt., 5/3-10, 27-30; 10/9-11; Thess., 1/6-8; Rom., 3/29
    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 103/1-3
30. -ऋग., 4/1/4; यजु. 36/18; महाभा. शांतिपर्व, 55/9
    -आचा. सू.. 1/8/8/4; बोध पा., 47
    -संयुक्त नि., 1/1/8; सुत्तनिपात, 3/37/4-5
    -The Lamen, 3/31-36, 38-40; Ps. 96/13; Gen., 18/25
    -Heb., 12/22, 23/29; Acts., 10/35; John., 5/30; -क़ुर. मज़ीद, सूरा 57/23

से परे होकर धर्मानुसार आचारण करने चाहिये और सब मनुष्यों तथा जीवों के प्रति सद्भावपूर्ण सौमनस्यता/समानता रखनी चाहिये।[31] इस प्रकार ये सभी धर्म राग-द्वेष से परे निष्पक्ष एवं अनासक्ति के आधार पर सबके प्रति समभाव को मानते हैं।

प्रत्येक धर्म में अन्य धर्मों/मतों के प्रति उदार, सहिष्णु, सामंजस्यपूर्ण एवं सह अस्तित्व के भावों को महत्व दिया गया है।[32] ये सभी धर्म मानते हैं कि किसी भी मनुष्य के साथ अमानवीय, अन्यायपूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिये। समानता व मैत्री का व्यवहार करना चाहिये।[33] सभी देश व जातियों के

---

31. अथर्व., 1/31/4, 17/1/7; यजु., 16/4, महाभा., शांतिपर्व, 50/41, 55/9

    -नियमसार, 104; भग. सू. 7/8/102

    -संयुक्त नि., 1/1/8; धम्मपद, 10/142; सुत्तनिपात, 50/16-17; 51/2, 3

    -प्रश्नव्या., 2/1/21-22; उत्तरा. सू., 25/32. भग. सू., 7/8/102

    -Ezek., 18/10-13, 18; The Lamen., 3/38-40; Job., 35/6-8

    -Rom., 3/27-31; 12/6-17; I Cor., 3/3-9; 4/4-5, 6-8; Acts, 10/28, 35

    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 47/38; 48/16-17; 57/23

32. ऋग. 1/164/46, 10/114; योगवाशिष्ठ, 3/1/12, 3/5/6, 5/8/19; गीता, 9/15-16; उदयनाचार्य, वृहन्नारदीय

    -युक्तानु., श्लोक 46; अध्यात्मसार, 69-73; लोकतत्व निर्णय, 1/37/38

    -सुत्तनिपात, 50/16-17; 51/16-20

    -The Lamen., 3/31-40; Mic., 4/1-5; Mala, 2/10

    -Matt., 5/17-18; Rom., 10/12-13; 2/28-29; Acts, 15/17, 19-20; I Cor., 12/4-11, 12-31

    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/60, 256; 3/3, 88; 7/59, 65, 73, 80, 85; 4/163, 171, 22/167; 36/16-17; 42/3, 4, 13, 15

33. -ऋग. 10/191/2-3; 5/60/5; 5/85/7; यजु., 38/80; मनु., 2/158, 10/63

    -उत्तरा. सू., 6/7; नियमसार, 104; भगवती सूत्र., 7/8

    -सुत्तनिपात, 3/37/7; इतिवुत्तक, 2/2/9; धम्मपद, 10/3, 4, 19/15

    -Prov., 2/6-12; Num., 15/29-30; Is., 42/1-4

    -Acts., 10; 13/43-49, 17/26-30; John, 12/44-47; I Thess., 4/22; II Pet., 1/4-7

    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 9/35-36; 10/47

व्यक्तियों अर्थात् भिन्न-भिन्न धर्मों के व्यक्तियों के साथ आदर, प्रेम, सहिष्णु, नम्र एवं सहृदयतापूर्ण, अविरोधी व्यवहार करना स्वीकार किया गया है।[34] ये सभी धर्म अन्य धर्मों के प्रति श्रद्धा व तुल्यता दृष्टि अथवा विवेक के आधार पर अनाग्रहपूर्वक सत्यान्वेषण, उदार, मृदु व कोमल व्यवहार, युक्ति से न्याय व मेल का होना संभव मानते हैं।[35] इनके अनुसार धर्मानुभव व ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति में सबके प्रति करुणा एवं सम्मति का भाव आता है, किसी को हीन नहीं समझा जाता है एवं सभी द्रोह व संघर्षों (झगड़ों) का अंत हो जाता है[36], कारण कि वे सद्भाव व मैत्री होने से झगड़ा/द्वंद नहीं करते हैं। देश-काल, जाति, रंग भाषा आदि के आधार पर स्थापित भिन्नताओं को महत्व न देते हुए ये सभी धर्मों में सत्यता, विवेक

---

34. -ऋग., 5/59/6, 10/12/1; अथर्व., 3/30/4; महाभा., शांतिपर्व, 156/10-11
    -समयसार, 20, 21, 22; तत्वा सू., 4/21; उत्तरा. सू., 27/9
    -सुत्तनिपात, 50/16-17; 51/10, 11
    -Is., 42/1-4; Prov., 17/14-15
    -Acts 15/19-20; Rom., 12/9, 10, 13, 14; I Cor., 3/3-9, 4/4-5; John, 12/44-47
    -क़ुर. मज़ीद, 2/177; 3/84; 6/155, 156, 29/46; 21/92; 36/21; 42/13
35. -ऋग., 8/31/13; यजु., 1/5; 19/77; 20/11-12; ईशावा, उप., 15 छान्दो, उप., 7/16/17; मनु., 12/106; गीता, 18/63
    -लोकतत्व निर्णय, 1/37, 38; पुरुषार्थ सिद्धियुपाय, 28; उत्तरा. सू., 23/25
    -अंगुत्तर नि., 3/65; संयुक्त नि., 91/1/8
    -Prov., 8/20-20, 15/1-4, 14; 10/6-10, 12; 18/15-16
    -Luke 20/21; I Cor., 6/2-5; II Cor., 8/7, 8
    -क़ुर. मजीद, सूरा 18/44, 30/54; 42/24; 26/125; 27/41
36. -यजु., 36/18, अथर्व., 17/1/7, 3/30/1-7; महाभा., शांतिपर्व, 21/4-6, 10-11
    -आचा. सू., 1/4/3; अध्यात्मसार, 69-73
    -उदान, 6/4; सुत्तनिपात, 50/16-17; 51/2-3; 10, 11; 16/20
    -Prov., 13/10; 14/21-24; 16/21; 22/10
    -Eph., 6/1-16; I Thess., 4/12; I John, 2/7
    -क़ुर. मज़ीद, सूरा 7/68-99, 73, 79, 87, 93

व उनके संदेशवाहकों अथवा पैगंबरों के प्रति आदरभाव रखना स्वीकार करते हैं।[37] इससे स्पष्ट है कि उल्लेखित सभी धर्मों में अन्य धर्मों के प्रति समभाव अर्थात् सर्वधर्म समभाव का चिंतन पाया जाता है। इस तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विश्व के विवेचित समस्त प्रमुख धर्मों में धर्म समभाव के सभी आवश्यकत आधार उपलब्ध होते हैं।

3. तत्व चिंतन :

विश्व के प्रमुख धर्मों में धर्म समभाव के चिंतनात्मक–सैद्धांतिक पक्षों का तुलनात्मक विवेचन करने के पश्चात् इस संदर्भ में तात्विक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना संगत होगा।

धर्म शब्द बहुआयामी एवं व्यापक अर्थ वाला है। इससे पदार्थ के गुण-विशेष, प्रकृति के आधारभूत नैतिक नियम, कर्त्तव्य, संस्कार, विधि-विधान, परमसत्ता आदि अनेक आशय व्यक्त होते हैं। धर्म शब्द की अनेक परिभाषाओं एवं व्याख्याओं में से एक है–'धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मों धारयते प्रजाः – जो धारण करता है उसे धर्म कहा गया है। धारण में अस्तित्व पालन और संवद्धन–इन तीनों का अंतर्भाव होता है। सृष्टि की धारणा करने वाला सृष्टि धर्म, समष्टि (समाज) की धारणा करने वाला समष्टि धर्म और व्यष्टि (व्यक्ति) की धारणा करने वाला व्यष्टि धर्म कहलाता है। धर्म में व्यष्टि धर्म, समष्टि धर्म, सृष्टि धर्म, परमेष्ठी (परमसत्ता) आदि सभी का समावेश है। अतः एकात्म चिंतन (एकात्म दर्शन) के संदर्भ में यहां व्यष्टि और समष्टि धर्म तथा परमेष्ठी (परमसत्ता) का विचार करना उचित होगा। कारण कि ये सभी एक ही व्यापक मूल धर्म के विभिन्न पहलू हैं।

क. व्यष्टि (व्यक्ति) :

विश्व के प्रमुख धर्मों ने तथा विद्वानों ने मनुष्य को अन्य प्राणियों की तुलना में श्रेष्ठ एव महत्वपूर्ण

---

37. -यजु., 18/48; महाभा., शांतिपर्व, अध्याय 188, न्यायसूत्र, 2/2/70; गीता, 10/4-5; 6/11
-लोकतत्व निर्णय, 1/37, 38; विशेषा, भा., 954
-सुत्तनिपात, 50/16-17; उदान, 6/4
-Mic., 4/1-4; The Lamen., 3/31-36; Ezek., 47/13-14; 48/1-29; Is., 42/1-4; Num., 15/29-30
-Acts., 10/35; 14/16-17; 15/23; 24; Rom., 10/12; 13, 2/28-29; 12/12-31 Rom., 12/35; I Cor., 12/4-11
क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/60; 42/3-4; 2/213; 6/42; 13/38; 7/157-170; 4/71

माना है।[38] मनुष्य भौतिक देह (शरीर/क्षेत्र)[39], मन[40], बुद्धि[41] व चेतना/चेतन तत्व[42] का समन्वित रूप है। इसलिये चिंतकों ने मनुष्य को ईश्वर से तनिक ही नीचे[43] और समस्त वस्तुओं का मापदंड कहा है।[44] इसीलिये समस्त धर्म, ज्ञान–विज्ञान, दर्शन, इतिहास, मनोविज्ञान, मानव-शास्त्र, नीतिशास्त्र आदि के चिन्तन-मनन, आचार-विचार का केंद्र बिंदु विशेषतः मनुष्य ही रहा है। अतः कई चिंतक स्पष्टतः कहते हैं कि धार्मिक विचार मनुष्य की रचना में ही सन्निहित है। इनके अनुसार धर्म मानव के स्वाभाविक सत्य एवं मानवतावादी गुणों में आस्था रखना है। सभी धर्मों में मानवीकरण (व्यक्तित्वरूपण) किया गया है अतः स्पष्ट है कि धर्म मनुष्य के लिये है, मनुष्य धर्म के लिये नहीं है।[45] इस प्रकार मानव विश्व के समस्त ज्ञान-विज्ञान व क्रियाओं का मूल स्रोत है। वह पशुता, मानवता और देवत्व का संयोग है।[46]

मानव में शरीर, मन बुद्धि और चेतना होती है। अतः मानव को हम शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व चेतना का समुच्चय भी कह सकते हैं। मानव शरीर की पांच ज्ञानेंद्रियां (आंख, कान, नाक, जिह्वा व त्वचा) एवं पांच कर्मेंद्रियां (हाथ, पैर, मुंह, गुदा व उपस्थ)–इन सभी इंद्रियों को क्रिया व्यापार की ओर प्रवृत करने का कार्य मन करता है।[47] अहंकार से युक्त (बना) मन संकल्प-विकल्पात्मक होता है।[48] परंतु बुद्धि

---

38. -'ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेतिपुरुषो वाव सुकृतम्।' -ऐत. उप., 1/2/3; गुह्यम् ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रष्ठेतरं हि किंचित्।' महाभा. शांतिपर्व, 80/12; महाभा., शांतिपर्व, 173/9; -उत्तरा. सू., 3/7/10/4; -Gen., 1/26, 27, 5/1, 9/6; क़ुर. मज़ीद, सूरा 35/35; 95/4; 40/96; 64/3; Radhakrishanan, S., & Raju, P. T. (Edi), The Concept of Man, P. 9, 256; Wheli, Lui, Confucius-His Life and Time, P. 156; Frost, S.S., Idea of Great Philosophers, P. 56-57; Gandhi, M.K., Young India, 13 Dec., 1924, P. 378, 221
39. 'धातुः शरीरं क्षेत्र संज्ञितम्'-महाभा., वनपर्व, 31/20; 'न्ययतत् पंचभौतिकः'-भाग. पु. 1/6/29
40. वाराह पु., 5/11/42; गीता, 3/42, 13/5
41. गीता, 3/42
42. मत्स्य पु., 145/78; भाग., पु., 3/26/7; गीता, 3/42
43. Frost., S.S., Idea of Great Philosophers, P. 56-57; Ps. 8/5
44. 'Man is the Measure of all things.' -Protogorous. 'The measures of man in man.' -Tang, Lin Yu, The Wisdom of Confucius, P. 157
45. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 264, 279; सत्यभक्त, कैसा धर्म चाहिये? पृ. 6; Tagore R.N., The Religion of Man, P. 71, 72, 84; साधना, पृ. 56, 90-91
46. The Complete Works of Swami Vivekanand, Vol VI, P. 123
47. 'मनो हि हेतुः सर्वेषाम् इंद्रियाणाम् प्रवर्तते।'-वाराह. पु., 5/11/42; 'इंद्रियेभ्यः परं मनः'- गीता, 3/42; 'इंद्रियाणि दशैक चं' - वही, 13/5
48. भाग. पु., 3/26/27

द्वारा लिये गये निर्णय के अनुसार कर्मेंद्रियों को गतिशील करते समय इसे 'मनोदेव' स्वीकार किया गया है तथा 'इसे पवित्र लगने वाला कार्य ही करणीय' बताया गया है।[49] शारीरिक कष्ट (व्याधि) को दूर करने के लिये मानसिक कष्ट (संताप-अधि) का दूर होना (करना) आवश्यक माना गया है।[50]

बुद्धि उक्त 'मन से भी परे'[51] की वस्तु है। यह मन द्वारा प्राप्त संकेतों पर शुभाशुभ निर्णय[52] लेकर तदनुकूल कार्य हेतु मन के द्वारा इंद्रियों को सक्रिय करती है। इस बुद्धि द्वारा सही निर्णय तभी लिये जा सकते हैं जब वह शुद्ध, स्थिर व सात्विक रहे।[53] इसके लिये इंद्रिय निग्रह या संयम के साथ विविध 'सत्वगुणवर्धक क्रियाओं (ज्ञान, ध्यान, भक्ति आदि) को संपन्न करते हुए बुद्धि को 'आत्मनिष्ठ' बनाना आवश्यक है। इसके विपरीत तामसी बुद्धि 'अधर्म' की ओर प्रवृत रहती है।[54]

चेतना पुर (देह) में होने से इसे पुरुष भी कहा गया है।[55] यह बुद्धि, मन वाक् के परे[56] माना गया है। यह अविनाशी-शाश्वत् एवं संपूर्ण शरीर में व्याप्त है।[57] अतः यही चेतना मन और बुद्धि द्वारा किये गये चिंतन–निश्चय से भिन्न-भिन्न क्रिया व्यापारों में एकत्व स्थापित कर तदनुकूल क्रियान्वयन हेतु विभिन्न अंगों को निर्देश देता है।[58] यही देह में होकर विषयों[59] को एवं आसक्तिजन्य कर्मफल भोगता है।[60]

उक्त मानव धारणा के तत्व विवेचन से व्यक्ति (व्यष्टि)–शरीर, मन, बुद्धि और चेतना के समुच्चय

---

49. तैत्तिरी. उप., 3/4; 'मनःपूत समाचरेत्'-मनु., 6/46; गीता, 5/11, 18/23
50. महाभा., वनपर्व, 2/21-30
51. 'मनस्तु परा बुद्धि': - गीता, 3/42
52. 'बुद्धया युक्ता महाप्राज्ञाः विजानन्ति शुभाशुभै'- वाराह. पु. 3/66/16; भाग. पु., 3/26/29-30
53. 'बन्धं मोक्षं च या वेत्तिबुद्धि. सा पार्थ सातिवकी'-गीता, 18/30, भाग. पु. 3/25/25
54. 'अधर्मम् धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।' -भग. गीता, 18/32
55. 'पुरे शयनात् पुरुषः ज्ञानात् श्रेत्रज्ञ उच्यते'-मत्स्य, पु. 145/78; भाग. पु. 3/26/7
56. गीता, 14/19-20
57. गीता, 13/33, 13/32
58. तिलक, बालगंगाधर, गीता रहस्य, पृ. 148; विशेषा. भा., 1571, 1575; आचा. सू., 1/5/5/166
59. गीता, 15/9
60 ब्रह्मवैव., पु. प्रकृति खं., 28/13 सूत्रकृ., 2/1; समय-सार, 157

रूप में उद्घाटित होता है। इन्हें हम सुविधा की दृष्टि से संक्षेप में शरीर व बुद्धि अथवा चेतना (मन, बुद्धि, चेतनता) इन दो पक्षों में भी समावेशित कर सकते हैं। इस आधार पर यह कहना भी उचित होगा कि इनका क्रियान्वयन करना मानव धर्म है, व्यष्टि धर्म है। अतः धर्म के दृष्टिकोण से व्यष्टि या व्यक्ति धर्म एक प्रकार से उन समस्त विचारों व कार्यों का समुच्चय है, जो व्यक्ति के जीवन की धारणा करने वाले और जीवन लक्ष्य की दिशा में उसका विकास करने में सहायक होते हैं। यह धर्म मानव की प्रकृति में ही होता है। व्यक्ति देह जन्म से प्राप्त होने वाला ऐंद्रियक शरीर, मन, बुद्धि आदि प्रकृति प्रदत्त धर्मानुसार ही कार्य करते हैं। जैसे–आहार-विहार संबंधी विधि-निषेध आदि व्यक्ति के शरीर-धर्म के नियम हैं और इनके पालन के द्वारा वह अपनी शारीरिक क्षमता व स्वास्थ्य बनाये रखता है।

स्व अस्तित्व की रक्षा और अपनी अकांक्षाओं की पूर्ति कर सुख प्राप्ति और दुःख निवृति करना मानव की नैसर्गिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है। वह अपने से संबद्ध सभी प्रकार के सुख (शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक व चैतसिक/आत्मसुख) भी चाहता है। अतः मानव के सुख का विचार करते समय उसके सभी प्रकार के आत्मसुखों का विचार करना भी आवश्यक हो जाता है। जिस व्यक्ति का शरीर, मन और आत्मा/चेतना स्वस्थ है, वह सुखी है। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए ही धर्मों में मानव के सभी आत्मसुखों पर विचार किया गया है और प्रेय तथा श्रेय (भौतिक, शारीरिक सुख-अभ्युदय और मानसिक, बौद्धिक सुख-निःश्रेयस)–दोनों ही अभिप्रेत माने गये हैं।[61] धर्म में प्रत्येक जीवन-सुख की सार्थकता है और प्रत्येक वस्तु प्राणी शरीर के हितकर उपयोग के लिये हैं। उनमें हेयता या तुच्छता नहीं मानी जा सकती है। धर्मों में संसार को दुःखमय मानकर उससे सर्वथा पराङ्गमुख होने का निर्देश नहीं है। उनमें व्यक्ति के दीर्घायु होने, सुखी ऐंद्रियक जीवन के लिये विभिन्न वैभवों (उत्तम धन, भोजन, पशु, बल, ज्ञान, पत्नियां, संतान आदि) एवं लोकयात्रा का सिद्धि मार्ग भी प्रशस्त किया है।[62] धर्मों में ऐश्वर्यमय स्वर्ग (सुख-साधन से पूर्ण) की मान्यता भी व्यक्ति के आत्मसुख की भावना के महत्व की परिचायक है।

मानव को यह संपूर्ण आत्मसुख (शरीर, मन, बुद्धि व चेतना का सुख) कैसे प्राप्त हो यह

---

61. वैशेषिक सूत्र, 1/1/2; तैत्तिरी. उप., 1/7

62. इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुमगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्।।
(हे देव इन्द्र! हमें श्रेष्ठतम निधियाँ प्रदान करो, हमें प्रतिभाशाली मस्तिष्क और सौभाग्य प्रदान करो। हमें धन संपत्ति और हमारे शरीरों को स्वास्थ्य दो। हमें मधुर वाणी दो और हमारे दिन अच्छे करो)- ऋग., 2/21/6; ऋग., 3/53/18; 6/281; 7/66/16; 8/67/20; 10/128/39; यजु., 25/22; 36/24; अथर्व., 1/15/1-4; 19/1/3; 19/67/1-8, 8/1/21; I Cor., 6/19; 7/8-10; क़ुर. मज़ीद, 10/5; 39/5-6; 32/7; 14/34; 27/60-62

विचारणीय है? आत्मसुख की प्राप्ति हेतु पहले आत्मबोध होना आवश्यक है। इस बोध से ही यह ज्ञात हो सकता है कि आत्मस्वरूप क्या है और उसका सुख क्या है? धर्मों में आत्मस्वरूप का बोध आत्मशुद्धि व आत्मज्ञान द्वारा माना गया है।[63] यह आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ परम ज्ञान और सत्य ही सबसे बड़ा हित साधन है।[64] यह आत्मज्ञान व्यक्ति धारणा के सभी पक्षों के विकास पर बल देता है। इसलिये धर्मों में व्यक्ति के उचित आहार-विहार, संयम, सत्संग, प्रार्थना, ज्ञान-विवेक, ध्यान-साधना, चिंतन-मनन, निष्काम कर्म, समाज-सेवा आदि विचारों का समावेश है।

पाश्चात्य दार्शनिक सार्त्र के मत में भी मनुष्य आत्माभिव्यक्ति में समर्थ एवं स्वतंत्र है। प्रत्येक स्थिति में आत्मज्ञान और स्वचिंतन के अतिरिक्त उसका और कोई लक्ष्य नहीं है।[65] इस प्रकार ज्ञानोपलब्धि तथा आत्मबोध का फल आत्मसुख है अतः मानव को समग्र ज्ञान कराना – चाहे वह परमसत्ता से भिन्न हो या अभिन्न हो, प्रत्येक धर्म और दर्शन का लक्ष्य है। विविध प्राचीन ग्रंथों में इस आत्मज्ञान विषयक विवेचन मिलता है।[66] ज्ञान प्राप्त कर व्यक्ति शुद्ध अंतःकरण वाला और सदाचारनिष्ठ होता है। इस प्रकार धर्मानुसार शारीरिक संयम मानव-व्रत है और मन द्वारा शुद्ध हुई बुद्धि देव-व्रत है।[67] मोक्ष भी मानव का ही प्राप्त धर्म है, साधना का फल है। अतः विभिन्न धर्मशास्त्रों (धर्मों) में नैतिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक गुणों के विकास से इसका प्रतिपादन किया गया है।[68] इस प्रकार सभी धर्म मानव कल्याण के निमित्त आत्मसुख के रूप में मानव पुरुषार्थ के लिये–शरीर, मन, बुद्धि (ज्ञान) एवं चेतना के–शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक व्यापार को आवश्यक समझते हैं। इसमें लौकिक लोक एवं परलोक–दोनों जीवन की श्रेष्ठता का उन्नयन आवश्यक माना है।

ख. समष्टि (समाज/सृष्टि) :

मानव इस संसार में अकेला नहीं रहता है। अन्य व्यक्ति व मानवेतर प्राणी एवं वस्तु भी इस जगत में होते हैं। इन सबको सृष्टि या समष्टि कहा जाता है। परिवार, समाज, समूह आदि विभिन्न स्तरों पर

---

63. बृह. उप., 4/5/19; मुण्डक उप., 3/1/15; क़ुर. मज़ीद, सूरा 39/61; 89/27-29, 64 तला. सू. 9/1
64. 'आत्मज्ञान परं ज्ञानं सत्यं हि परम् हितम्।' -Radhakrishanan, S. & Raju, P.T., The Concept of Man, P. 252; विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, पंचम खं, पृ. 57
65. Sartre, Jean-Paul, Existentialism and Humanism, P. 6
66. कठ. उप., 1/29, 3/14
67. महाभा. वनपर्व. 93/21
68. Huxley, Aldous, Perenial Philosophy, P. 20, 214

एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से संबंध को हम समाज-समष्टि कहते हैं। इस प्रकार समष्टि-धारणा में व्यक्तियों से निर्मित समाज-समष्टि एवं सृष्टि-समष्टि दोनों अंतर्भूत है।

पशु से भिन्न करने वाली नैतिक, बौद्धिक, मानसिक विशेषताओं का समग्र विकास सामाजिक पृष्ठभूमि में ही होता है। नैतिकता का अनुभव समस्त मानवीय समाजों की एक सार्वभौमिक विशेषता है।[69] यह व्यक्ति के व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में उसके व्यवहार की अभिव्यक्ति है।[70] मानव-मानव के व प्राणी-प्राणी के बीच संबंध और व्यवहार सुचारु रूप से बने रहें, उसका व्यष्टिगत (व्यक्गित) एवं समष्टिगत (पारिवारिक-सामाजिक, वैश्विक) जीवन सुखी एवं कल्याणकारक हो, इसके लिये स्थापित विविध संस्थाअें, व्यवस्थाओं, कर्त्तव्यों एवं संबंधों में सहभागी होना होता है। इससे व्यक्ति का स्वहित व समाजहित परस्पर विरोधी/संघर्षशील नहीं होते हैं अपितु व्यक्ति-गुणों का उदात्तीकरण व प्रकटीकरण होता है। उसमें जो आदर्शों की शक्ति है वह व्यावहारिक समाजी जीवन से अभिव्यक्त होती है। उसके द्वारा ही वह आदर्श हम पर क्रियाशील होता है, वही हमें जीवन में कार्य करने का साहस देता है।[71]

वस्तुतः संपूर्ण समष्टि व्यक्ति क्रिया-कलापों को सहन करती है।[72] यह सामूहिक धारणा मानव जाति के जन्म क्रम को ही व्यक्त नहीं करती अपितु यह समाज के सभी सदस्यों को एकसूत्रित करने के अर्थ में प्रयुक्त होकर व्यक्तिगत विचार से आगे बढ़ जाती है क्योंकि वह मनुष्य के सार्वभौमिक अधिकारों और कर्त्तव्यों की स्थापना भी करती है।[73] इस भावना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति मानव की कर्त्तव्य-भावना और सार्वजनिक सेवा में मिलती है, जिसमें व्यक्ति व्यक्तिगत कर्त्तव्यों की सीमाओं को पार कर जाता है और उसमें लोकोपकार के गुण उद्भूत हो जाते हैं।'[74] यदि मनुष्य दूसरों पर निर्भर नहीं करता, उसमें सहयोग पूर्व जीवन की भावना न होती, तो एकाकी रह कर वह असभ्य, मूर्ख और नृशंस तो होता ही, साथ ही उसका अस्तित्व भी चिर स्थायी नहीं होता।[75]

इससे स्पष्ट है कि यद्यपि व्यष्टि/व्यक्ति के अभाव में समष्टि/समाज का होना असंभव है और

---

69. देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ. 288
70. Wundt, Wilhelm, The Elements of Folk Psychology, P. 472
71. वही, पृ. 261
72. वही, पृ. 216
73. Wundt, Wilhelm, The Elements of Folk Psychology, P. 475
74. Ibid, The Principles of Morality and the Depths of Moral Life, P. 156
75. Howton, Hector, (Edi.), Reason in Action, P. 31

समष्टि/समाज के अभाव में व्यष्टि/व्यक्ति का कोई मूल्य/महत्व नहीं है। समष्टि मानव-आदर्शों की वृद्धिपूर्ण अभिव्यक्ति है। इसलिये विभिन्न धर्मों में इस ओर ध्यान दिलाया गया है कि व्यक्ति को आत्मज्ञान द्वारा अपने समग्र नैतिक, बौद्धिक, मानसिक व आध्यात्मिक उत्कृष्ट एवं आदर्शपूर्ण गुणों की अनुभूति करनी चाहिये। इस अनुभूति के आधार पर ही धर्मों में व्यक्ति व समाज–व्यष्टि और समष्टि के समन्वयपूर्ण कल्याण के लिये परस्पर सौमनस्य, प्रेम, सहयोग एवं सार्वभौमिक मानवता के भावों को स्वीकार किया है।[76] इनमें परिवार व समाज व्यवस्थाओं के आधार पर ऐश्वर्य, संयम, भ्रातृत्वभाव व समानता को माना है।[77] इस प्रकार समष्टि के अंतर्गत सबके समृद्धिपूर्ण आत्मविकास की कामना की गयी है।

ग. परमेष्ठी (परमसत्ता)

विविध धर्मों में व्यष्टि और समष्टि (व्यक्ति व समाज) के समन्वयपरक एकात्म सबंधों के साथ ही मनुष्य जब से है तब से ही वह सृष्टि के मूलभूत तत्व का विचार और उसकी खोज अनवरत रूप से कर रहा है।[78] यह परमेष्ठी/परमसत्ता/विश्वात्मा आदि कारण के रूप में सृष्टि का मूल माना गया है। इससे संपूर्ण सृष्टि संबद्ध है। इस संबंध में हम पूर्व विवेचन कर चुके हैं अतः विस्तार में न जाकर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि विभिन्न धर्मों के अनुसार यह परमतत्व सृष्टि का आदि कारण, नित्य, शाश्वत्, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी एव निरपेक्ष है।[79] मानव आत्मबोध कर उस ओर चिंतनशील होता है तथा उसके सानिध्य के लिये प्रयत्नशील होता है।[80] यह प्रयास व्यष्टि से परमेष्ठी की ओर गमन का प्रयास है जहां सभी भेद एवं भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है। विश्वात्म के साथ एकात्म-भाव अनुभव करने के कारण वह

---

76. अरविंद महर्षि, मानव एकता का आदर्श, पृ. 7; ऋग., 1/89/1-2 यजु., 16/4; Is., 42/6-7; Ezek., 19/27, 48; Jer., 22/3; Acts., 17/26-30; 10/38; John., 17/21-23; क़ुर. मज़ीद, सूरा 3/102-103; 16/90, 91

77. ऋग., 5/60/5; अथर्व., 3/30/1-7, 7/60/1; मनु. 3/77, 78; आचा. सू., 1/5/5; प्रश्न व्या., 2/1/21-22; उत्तरा. सू., 25/32; लंकावतार सूत्र, 66/6; महावग्ग, 1/10/32

78. तिलक, बालगंगाधर, गीता रहस्य, पृ. 101

79. ऋग., 1/54/2; 1/31/10; छान्दो. उप., 3/14/1; बृह. उप., 2/5/10; I Tim., 1/17, Mark 12/12; क़ुर. मज़ीद, सूरा 1/1; 31/30; 112/1

80. मुण्डक. उप., 3/2/5-9; गीता, 9/9, 13/2-4; Acts., 10/35; Matt., 5/9; कुर, मज़ीद, सूरा 44/51-58; 98/8; सेंट जॉन, उद्धृत-राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 146

समस्त सृष्टि/जगत के प्रति अपने हृदय में प्रेम और उदारता रखता है। सांसारिक विषय-वस्तुएं उसे नहीं लुभाती हैं, क्योंकि वह स्वार्थपूर्ण इच्छाओं और लालसाओं से विमुक्त होता है।[81] यह एकात्मता तात्विक एकात्मकता नहीं वरन् चेतनात्मक एकता (चेतना की एकता) है।[82] यह निःस्वार्थ भाव से जो उत्तम एवं महिमामय है, उस स्वराट् की उपलब्धि है। इसके आधार पर ही वह मानवों के प्रति भ्रातृत्वभाव रखता है।

घ. संयमित उपभोग एवं विश्व कौटुंबीकरण :

धर्मों में मानव-जीवन समग्रता से यापन करने हेतु धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति का निर्धारण किया गया है। अर्थ व काम को हेय नहीं माना है इनका उपभोग धर्मानुकूल अर्थात् सात्विक एवं संयमित हो ऐसा आग्रह बार-बार दिखाई देता है। इसका कारण है कि इंद्रिय सुखेच्छा, इच्छा/तृष्णा/लालसा की पूर्णतः पूर्ति कभी नहीं होती है और वे बढ़ती ही जाती है, कम नहीं होती और व्यक्ति उसकी तृप्ति के चक्कर में पापकर्म करते रहने पर नरकगामी होता है।[81]

पूर्ण काम की तृप्ति को असंभव मानकर एवं अर्थाहंकार से स्वर्ग या मुक्ति की आशा को व्यर्थ जानकर व्यक्ति को उपभोग में संयम अथवा नैतिकता का पालन करते हुए सुखी व संतुष्ट जीवनयापन करना चाहिये। इसके लिये सभी मनुष्य को परस्पर भाई मानते हुए, इसके (सृष्टि) प्रत्येक पदार्थ कोष परमसत् से संबद्ध मानकर उनके साथ व्यवहार करना और आवश्यकतानुसार ही उपभोग में लेना उचित है।[84] अन्य शब्दों में जीवन निर्वाह के लिये विविध सामग्री का संग्रह एवं उपभोग स्वेच्छाचारी न होकर आवश्यकतानुसार अर्थात् न्यूनतम/परिमित रूप में करना ही न्यायोचित है उससे अधिक उपभोग करने वाला असंयमी है। अतः उससे उसे दंडनीय माना गया है।[85]

धर्मों में इसके लिये (जीवन निर्वाह के लिये) पर्याप्त साधन/धन-धान्य से सुख अर्जित करने का

---

81. बृह. उप., 4/4/23
82. तैत्तिरी. उप., 6/11-12; जॉन सेंट, उद्धृत-राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 149
83. कठ. उप., 1/2/6; गीता, 16/16; उत्तरा. सू., 18/25; धम्मपद, 13/176; 22/306-307, 309; Matt., 8/12; 13/50; Luke, 16/23; क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/24; 4/14, 115; 23/103, 104; 27/89-90
84. ईशावा उप., 1; तैत्तिरी. उप., 3/10; धम्मपद, 21/14; I Cor., 6/19; क़ुर. मज़ीद, सूरा 16/78-80; 79/40; 58/27
85. गौतम स्मृति, 11/1, गीता, 9/21; उत्तरा, सू., 17/21; सूत्रकृ., 4/1/3; II Thess., 1/9-11; Luke, 18/18-25; क़ुर. मज़ीद, सूरा 3/6-7; 22/19-22

समर्थन किया है।[86] परंतु मात्र स्वयं या स्वकुटुंब के लिये ही उसके प्रयोग-उपयोग का निषेध किया गया है। अर्जन-उपार्जन के साथ-साथ उसका कुछ अंश बांटने/दान देने/धर्मार्थ खर्च करने/सेवार्थ व्यय करने का आग्रह निर्देश हुआ है।[87] इस प्रकार अपरिमित उपभोगों द्वारा नश्वर देहन्द्रियों के स्व प्रेयस्कर तुष्टिकरण के स्थान पर त्याग, संयम, संतोष को श्रेयस्कर मानते हुए विश्व परिवार (वसुधैव कुटुंब) के कल्याण को महत्वपूर्ण माना है।

4. तात्विक पृष्ठभूमि में दार्शनिक अवधारणा :

उपर्युक्त व्यष्टि, समष्टि, परमेष्ठी तथा विश्व-कौटुंबीकरण के आधार पर तात्विक पृष्ठभूमि में निम्न दार्शनिक अवधारणा प्रस्तुत की जा सकती है।

विविधता में एकता : विभिन्न धर्मों में धर्म समभाव के विवेचन से स्पष्ट होता है कि मानव जीवन में उपस्थित नामरूपात्मक विविधताएं/भिन्नताएं/अनेकता/भेद आदि मूलतः सत्य नहीं है।[88] इस अनेकता के मूल में एक ही अविनाशी, अमृत्य, सर्वव्यापी तत्व विद्यमान है। वास्तव में जहां विविधता का संबंध है, वहीं पर विकास होता है।[89]

विविध धर्मों के मान्यतानुसार संपूर्ण सृष्टि/जगत प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में परमतत्व से ही उत्पन्न हैं। पिंड एवं ब्रह्माण्ड (यत् पिंडे तत् ब्रह्माण्डे)[90]–अंश और संपूर्ण तत्वतः एक हैं तथा एक ही मूल सत्य का उद्घाटन विविध प्रकार से होता है–यह धर्म और दर्शन की प्राचीन मान्यता है। जो क्षुद्र में है वह ही विराट् में भी है। इस व्याख्या के अनुसार 'विराट' अनेक छोटी-छोटी इकाइयों का योग नहीं है और न ही 'सूक्ष्म' विराट् का ही लघु 'चित्त' है। वृक्ष 'विराट्' है, बीज 'सूक्ष्म'।[91] बीज में वृक्ष अपनी संपूर्ण विशालता सहित समाहित है। उससे ही विशाल वृक्ष होता है। यही विशाल वृक्ष बीज की धारणा करता है। अतः

---

86. ऋग., 10/63/15-16; यजु., 30/3; अथर्व., 1/15/1-4; धम्मपद, 17/223-224; क़ुर, मज़ीद, सूरा 2/188; 7/32; 16/71, 72
87. अथर्व., 6/47/1; भाग. पु., 3/12/41; स. सि., 9/20; Is., 58/2-3; 6/10; क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/4, 177; 7/156; 89/17, 18; 90/13-18; 93/10
88. 'नेह नानास्ति किंचन'-कठ. उप., 2/1/11
89. आप्टे, उमाकांत केशव, मृत्युन्जय भारत, पृ. 214
90. तिलक, लोकमान्य, गीता रहस्य, पृ. 228
91. गीता, 14/3-4, 15/1, महाभा., 35/20-23

कहा जा सकता है कि सूक्ष्म से ही विराट् है तथा जो विराट् है वह एक प्रकार से सूक्ष्म भी है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि जो सूक्ष्म में है वही विराट् है, जो विराट् है वही सूक्ष्म में भी है। इस प्रकार विविध विशिष्टताओं के बीच सामंजस्य की खोज विश्वचिंतन में धर्मों में एकात्म चिंतन के आधार पर विकसित हुए धर्म समभाव पूर्ण विचारों की विशिष्ट देन कही जा सकती है। अनेकता, भिन्नता में एकता (एकात्मता) का यह बोध यथार्थ/वास्तविक सात्विक ज्ञान[92] है। इस प्रकार एक ही मूल/परमतत्व से उद्‌भूत विविधता का एकात्मता पूर्ण अध्ययन विश्लेषण धर्म चिंतन की विशिष्ट देन है। इस एकात्म चिंतन के आधार पर सभी धर्मों में बिना किसी भेदभाव के चेतनागत आधार पर राग-द्‌वेष से परे होकर सभी के प्रति धर्म समभाव को स्वीकार किया गया है।

धर्मों के अध्ययन के आधार पर स्पष्ट होता है कि व्यष्टि से परमेष्ठी तक की ईकाइयां खंड-खंड रूप में न होकर परस्पर अविच्छिन्न एवं पूरक है। व्यष्टि (व्यक्ति), समष्टि (परिवार व समाज, सृष्टि), परमेष्ठी (परमसत्ता/विश्वात्मा) ये सभी परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्‌ध है। अतः इन विभिन्न ईकाइयों में कोई विरोध नहीं है। प्रत्येक ईकाई अपना पृथक अस्तित्व भी रखती है पर प्रत्येक अपने विकास क्रम में सातत्य से उदात्तता की ओर अग्रसर है। धर्मों में व्यक्ति केंद्र बिंदु होते हुए भी उसका महत्व परिवार, समाज, समुदाय, विश्व सृष्टि और परमेष्ठी (परमसत्ता/विश्वात्मा) के परिप्रेक्ष्य में ही है। वह इन सब ईकाइयों से गुजरते हुए चेतनागत एकता को उपलब्ध होता है।[93] जिसके आधार पर चेतनात्मक समभाव–समानता का अनुभव करता है। अतः मूलतः व्यक्ति व मानवता का संबंध खंड-खंड/विभक्त रूप में न होकर अविभक्त रूप में है। यह विकास जीवन का एकांगी/एकपक्षीय विकास न होकर उत्तरोत्तर गतिशील, सामंजस्यपूर्ण, समग्र जीवन की (समभाव से सर्वग्राही) व्यापक, आत्मविस्तृत प्रक्रिया के रूप में है।[94] यह व्यक्ति, परिवार-समाज, विश्व एवं सर्वातीत, सर्वव्यापी परमेष्ठी का विकासोन्मुख चेतनात्मक स्वरूप है। इनमें परस्पर सम्मान, स्वतंत्रता एवं पूरकता है। स्व से सर्व का अनुगमन या विस्तार है। अतः धर्म का यह व्यष्टि-व्यक्ति, समष्टि-परिवार व समाज, परमेष्ठी-परमसत्ता का समन्वयकारी समभावपूर्ण चिंतन होने से संपूर्ण जीवन दर्शन है।

धर्म विवेचन के आधार पर प्रस्तुत उपर्युक्त-धर्म की तात्विक पृष्ठभूमि में दार्शनिक अवधारणा के आधार पर व्यष्टि, समष्टि एवं परमेष्ठी संबंधों को बिंदु बद्‌ध करते हुए कहा जा सकता है कि–आत्मपरक

---

92. वही, 18/20

93. जॉन सेंट, उद्‌धृत-राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 149

94. अरविंद, महर्षि., दिव्य जीवन, पृ. 220

व्यष्टि रूप (व्यक्ति) शरीर, मन, बुद्धि व चेतना का समन्वय/समुच्चय है। इसमें व्यक्ति विवेकपूर्ण आत्मशुद्धि द्वारा आत्मविकास (भौतिक, बौद्धिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक) करता है। यह समष्टि रूप–व्यक्ति, परिवार, समाज और संपूर्ण सृष्टि का चेतनागत समन्वय है। जिसमें व्यक्ति के ज्ञान, भाव और क्रिया से समाज के प्रति कल्याणपरक (समाजहित–सौमनस्य, सहयोग, मानवता आदि) अवदान/योगदान किया जाता है। सृष्टि रूप के अंतगत समस्त सृष्टि (मानव समाज एवं मानवेतर प्राणी तथा वस्तुएं) के प्रति सिद्धि समन्वय/परमसत्ता से समबद्धता करते हुए अंततः मुक्ति/मोक्ष के लक्ष्य की प्राप्ति की जानी चाहिये। इस प्रकार धर्म दृष्टि से व्यष्टि, समष्टि एवं परमेष्ठी में परस्पर समन्वयपरक/समुच्चयपरक समबद्धता है।

इसलिये धर्मों में सिद्धांतः व्यक्ति के व्यष्टिपरक समग्र आत्मविकास (काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष की प्राप्ति) कर समाज एवं सृष्टि–समष्टि के अंतर्गत समग्र मानव जाति तथा प्राणी जाति की समानता/एकता[95] के आधार पर मानवतावादी सौमनस्यपूर्ण भ्रातृत्वभाव पूर्ण (भाईचारे का) व्यवहार करना माना है। इस आधार पर समस्त विविधता के मूल में एकता का विचार, उसकी आंतरिक एकता की ही अभिव्यक्ति है –यह मानना ही धर्म संस्कृति का केंद्रीय विचार है। अन्य शब्दों में इस संपूर्ण सृष्टि की विविधता में एक ही चैतन्य तत्व सर्वव्यापी/समावेशित है। सभी धर्मों के महापुरुष या पैग़ंबर उससे ही संबद्ध हैं यही मानवों की विविधता (धर्म, जाति, वर्ण, भाषा, राष्ट्र आदि) में एकता का मूल सूत्र है। अतः सबके प्रति समभाव होना चाहिये।

5.2 आचरणात्मक पक्ष (कृष्ण पक्ष) :

धर्मों में धर्म समभाव के व्यवस्थित तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से हमने दो पक्षों को स्वीकार किया है–चिंतनात्मक या सैद्धांतिक पक्ष और आचरणात्मक या व्यावहारिक पक्ष।

धर्म के उज्जवल पक्ष का परिचायक उसका सैद्धांतिक अथवा चिंतनात्मक पक्ष होता है। इस दृष्टि से हमने पूर्व विवेचन में देखा कि प्रायः प्रत्येक धर्म में यह उज्जवल पक्ष विद्धमान है किंतु जब हम इन धर्मों से संबंधित उनके भिन्न-भिन्न अनुयायियों के आचरण पक्ष को देखते हैं तो विपरीत एव धूमिल दृष्टिगत होता है। यह स्थिति किसी एक धर्म विशेष के बारे में नहीं है अपितु सभी वर्णित धर्मों के विषय

---

95. 'समान उत्पत्ति-'.....तवैव विभूतयो दितिदनुजादयाश्चापि तेषामनुपक्रम समयोऽयमिति स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रितजलचराकृतिभिः' -भाग. पु., 6/9/40; वाराह. पु., 90/12; मत्स्य पु1., 247/44; समान सुखानुभूति-भाग. पु., 10/27/24-27; समान भाव व दुःखानुभूति-महाभा., वनपर्व, 105/21, वराह पु., 35/6-7; समान भावना व कृत्य-वराह, पृ. 156/11; महाभा. वनपर्व, 32/27, 140/11; भाग. पु., 4/18/12-27; 4/16/12-19

में पायी जाती है। यही कारण है कि हमने धर्म के आचरणात्मक पक्ष को कृष्ण पक्ष एव चिंतनात्मक पक्ष को शुक्ल पक्ष कहा है।

सैद्धांतिक विवेचन से सिद्ध धर्म के विभिन्न प्रत्ययों एवं धर्म समभाव के आधारों के आधार पर विवेकपूर्ण, सहृदयी, सौमनस्यपूर्ण आदरभाव से युक्त व्यवहार करने का चिंतन स्पष्ट होता है। परंतु इनसे भिन्न स्थितियां भी धर्मों के वांग्मय अध्ययन से स्पष्ट होती हैं। सभी मनुष्यों को चेतनात्मक एकता के आधार पर बिना किसी भेदभाव के परस्पर समान, आत्मोपम, एवं भाई-भाई, मित्र आदि मानने पर भी व्यावहारिक रूप में उनमें (मनुष्यों में), परस्पर संघर्ष की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। उनके मध्य युद्ध स्तुति, अपने-पराये का भाव, शत्रुतापूर्ण भीषण युद्धों एवं सतत् संघर्ष के प्रसंग-विवरण[96] आदि पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। जैसे–हिंदू धर्म में देव-दानव बैर[96], देवासुर संग्राम[98], चंद्र-वामदेव संघर्ष[99] आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। अहिंसावादी जैनधर्म में तीर्थंकर नेमिनाथ द्वारा अपनी विशाल सेना सहित महाभारत युद्ध करना शास्त्रों में प्रशंसनीय दृष्टि से देखा गया है।[100] राजा भरत द्वारा विजय प्राप्त करने एवं चक्रवर्ती सम्राट होने की इच्छा से उत्तरभारत के हजारों राजाओं से युद्ध करना अनुचित नहीं माना है।[101] उनके द्वारा अपने भाई बाहुबली से भी हिंसक युद्ध किया गया है।[102]

पाश्चात्य धर्मों में भी युद्ध, बैर, ईर्ष्या आदि का समर्थन किया गया है।[103] यहूदी धर्म एव ईसाई धर्म में अन्य देश व जातियों से युद्ध कर उन्हें निकाल देने, उन पर विजय प्राप्त करने–नष्ट करने, उन पर वाचा न बांधने, दया न करने आदि को स्पष्टतः माना गया है।[104] इस्लाम में जंगे बदर (नबी मुहम्मद

---

96. 'दोह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो निर्यंसते। इन्द्र नृम्ण हि ते शवो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।।' -ऋग., 1/80/3; 'समज्रया पर्वत्या वसूनि दासा वृत्राण्यार्या जिगेथ'-वही, 10/69/6; 7/5/6; 7/33/2-5; अथर्व., 11/10/1; 3/10/12; 10/3/11, Gen., 27/40; I Cor., 6/6-8; क़ुर. मज़ीद, सूरा 2/249-251; 3/165-168

97. मत्स्य पु., 148/2, 18

98. वही, 47/41-54

99. वही, 23/33-37

100. हरिवंश पु., 50/77; 51/11, 20, 22; 52/66

101. वही, 11/29-31, 33, 52-56

102. वही, 11/77-90

103. Gen., 27/40, 41; क़ुर. शरीफ़, सूरा 3/172-173, 8/15-17

104. Lev., 7/18, 10; 20/1, 12; 16/18, Is., 24; Rev., 11/2-12; 17/14-15; I Cor., 6/6-8

व कुरैशी जाति में युद्ध)[105] जंगे ख़ंदूक[106], और बनी क़ुरैज तथा बनी नुज़ैर में बैर[107] होने का वर्णन मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्मों में व्यवहारतः/आचरणात्मक रूप में युद्ध/हिंसा, बैर/विरोध, ईर्ष्या-द्वेष, शक्ति व सत्ता सामर्थ्य को प्रदर्शित करने का पर्याप्त चिंतन भी उपलब्ध होता है। अतः कहा जा सकता है कि आचरण रूप में युद्ध एवं विजय परंपरागत धर्मों के महत्वपूर्ण कार्यों में सम्मिलित है।

धर्मों में यद्यपि चेतनात्मक एकरूपता, परमसत्ता एवं धर्म समभाव पूर्ण चिंतन के आधार पर सबके प्रति सार्वभौमिक समता व एकात्मभाव, सौमनस्य, सामंजस्य, भद्रभाव, अन्य धर्मों एवं उनके पैग़ंबरों/प्रवर्त्तकों के प्रति आदरभावपूर्ण आचरण करने तथा सत्य व ज्ञान प्राप्ति के सबंध में किसी प्रकार का जातीय या ऊँच-नीच का अंतर न करना[108] माना है। तथापि इस प्रकार के व्यवहार्य उद्धरण तुलनात्मक दृष्टि से कम ही उपलब्ध होते हैं। व्यवहार रूप में सामान्यतः स्वजाति श्रेष्ठता की दृष्टि, ऊँच-नीच, जातिवाद/सांप्रदायिकता/वर्गभेद/वर्णभेद/समुदाय व गिरोह-भेद जैसी सामाजिक बुराईयों के उद्धरण भी धर्म-साहित्य में पर्याप्त उपलब्ध होते हैं। जैसे–हिंदू धर्म में आर्य व शूद्र का भेद करते हुए आर्य के रूप में क्षत्रिय व ब्राह्मण को उत्कृष्ट जाति के रूप में माना है।[109] यद्यपि उपनिषदों में जाति को महत्व न देकर सत्य को विशेष महत्व दिया गया है। परंतु उन्हीं उपनिषदों का समन्वय व भाष्य करने वाले शंकराचार्य जातिभेद का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार शूद्र को मति ज्ञान नहीं देना चाहिये।[110] हिन्दू धर्म में शूद्र का राजसूय यज्ञ में अभिषेचन कर्म करने का, एवं जन्म से नीच होने के कारण यज्ञ करने का अधिकार नहीं माना गया है।[111] शूद्र को उच्च जातियों यथा–ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्व की सेवा करनी चाहिये, माना गया है।[112] शूद्र का रहन-सहन एवं भोजन निम्नस्तरीय निर्धारित किया गया है।[113]

---

105. क़ुर. शरीफ़, सूरा 3/123-125, 152-154, फुटनोट, पृ. 301-305

106. वही, सूरा 9/39-40; 33/9

107. वही, सूरा 2/84-86

108. छांदो. उप., 4/4; मातंग जातक, 417; सुत्तनिपात, 1/7/22-23

109. ऋग., सायण टीका, 2/12/4, 4/50/7; अथर्व., 4/20/4; 5/22/7; 8; 5/18/4; 5/17/19; शतपथ ब्रा., 1/5/7/1; ऐतरेय ब्रा., 8/29; मनु. 1/93

110. ब्रह्मसूत्र, शां, भा., 1/3/38

111. शतपथ ब्रा., 5/3/5/11-14; तैत्तरीय ब्रा., 1/7/8/7; शतपथ ब्रा., 3/2/3/9; वैदिक इंडेक्स, ii, 390

112. मनु., 7/13-30; 1/71; 8/410, 413

113. मनु., 10/125; 5/140

जातिगत/वर्णगत आधार पर नामभेद, विषम न्याय, अस्पृश्यता (छूआछूत) आदि को माना गया है।[114] इसके अतिरिक्त अन्य मतों के प्रति द्वेष भावना भी स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। जैसे–शैव-वैष्णव द्वेष[115] लोकायत, नास्तिक, कापालिक, दिगंबर, गौतम आदि मतों के प्रति द्वेष रखे जाने का वर्णन[116] उपलब्ध होता है।

जैन व बौद्ध धर्मों में वर्गभेद, जन्मजात वर्णों की स्वीकृति, जातिभेद, हीन कुल व उच्च कुल (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का भेद मानते हुए उच्च कुल को महत्व दिया गया है।[117] दोनों धर्मों के अनुसार तीर्थंकरों का जन्म नीच, पतित, गरीब या शूद्र जाति-कुल में कभी नहीं होता है, उच्च कुल में ही होना माना है।[118] जैन धर्म में यह उच्च कुल क्षत्रिय जाति को और बौद्ध धर्म में क्षत्रिय व ब्राह्मण जाति को माना गया है। गौतम बुद्ध के मत में ब्राह्मण परिवार में भी जन्म लेना भी पुण्य-पुरस्कार का फल माना है।[119] विधर्मी व शूद्र के यहां स्पृश्यता एवं भोजन करना निषिद्ध माना गया है।[120]

यहूदी व ईसाई धर्म में याहवे परमेश्वर द्वारा यहूदियों एवं ईसाइयों का श्रेष्ठ जाति के रूप में चयन किया जाना माना है।[121] इस्लाम धर्म में मुस्लिमों को अल्लाह द्वारा श्रेष्ठ चयनित जाति के रूप में मानते हुए समुदाय/गिरोह/जातिभेद को मान्यता दी गयी है।[122] इस प्रकार यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम

---

114. वही, 2/31, 276; 3/239; 4/79; 8/270, 271, 279, 282, 10/51-54; 11/67, 127, 128-131, 132, 142

115. भाग. पु., 4/2/18-32 (विशेषतः 25, 29); 10/20/8

116. वही, 4/19/22-25; 5/6/9-11; 12/3/32; गरुड़ पु., 1/98/17; मत्स्य पु., 24/47-49; 48/51-56; माण्डू. उप., -शंकर भा., 4/83

117. वर्ण व्यवस्था, 1/3, 10; 2/1; 3/1; 4/1; महा. पु., 38/45-46; 16/184-186, 247-248; सूयगंड्म 1/14/8, 11/1/13; 1/4/2/8; 3/1/9; दीर्घ नि., भाग. 1 पृ. 91-98, 193; मज्झिम नि., भा. 2 पृ. 33, 40, 128, 147; भाग. 3, पृ. 169-178; विनय पिटक, भाग 4, पृ. 308; अंगुत्तर नि., भाग 2 पृ., 85; भाग 4, पृ. 239; सुत्तनिपात, 769

118. कल्पसूत्र; जन्मजात, 11/17, 22; S.B.E. 22, P. 218-229; जातक., 1, पृ. 49; ललितवि., परि. 1/20; दीर्घ नि., पृ. 131; निदानकथा, 1/2

119. Hardy, Mannual of Buddhism, P. 446, उद्धृत-राधाकृष्णन्, भार. दर्शन. भाग 1, पृ. 357; दीर्घ नि., भाग 1, पृ. 97-99

120. आचार सार, 170; आहार, 1/2/2; जातक, 4, पृ. 145-146

121. Gen., 9/9-17; Exo., 19/5-6; Lev., 7/6-8; Deut., 14/2; II Tim., 2/10; I Pet., 2/9

122. क़ुर शरीफ़, सूरा 2/143, 3/33; 22/78; 7/85, 90, 93; 24/11, 13; 43/57-65; 54/18-21

23—259 Min. of H.R.D./2005

धर्मों में अपनी-अपनी जातियों को श्रेष्ठ जाति के रूप में मानते हुए अन्य जातियों में भेद किया है एवं उन पर दंड/यातना/विपत्ति आदि डालने की भावना करते हुए नष्ट होने/नष्ट करने की बात स्पष्टतः कही गयी है।[123] इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी धर्मों में जातिभेद को मान्यता प्रदान की गयी है और उसके आधार पर सामाजिक द्वेष की भावनाएं भी पनपी हैं।

धर्म-साहित्य के परिशीलन से यह भी स्पष्ट होता है कि धर्मों में नारी का महत्व स्वीकार करते हुए उसकी प्रशंसा एवं समानता का प्रतिपादन किया गया है।[124] तथापि इस प्रकार के उद्धरण बहुत कम मिलते हैं। इनकी तुलना में नारी को पुरुषों की अपेक्षा हीन/निंदित/असमान स्थिति दर्शाने वाले उद्धरण अत्यधिक मिलते हैं। जैसे–हिन्दू धर्म के अनुसार नारी का मन दुर्दमनीय है[125], स्त्रियों के साथ मित्रता नहीं करनी चाहिये क्योंकि उनका हृदय भेड़ियों की तरह कठोर व धोखेबाज होता है।[126] स्त्री, शूद्र, कुत्ता और कौआ में असत्य, पाप और अंधकार माना है।[127] इस प्रकार स्त्रियों पर अनेक लांछन लगाये गये हैं। अन्यत्र भी नारी जाति पर कई लांछन लगाने के उद्धरण प्राप्त होते हैं।[128] स्त्री को सदैव पुरुष के (पिता, पति, पुत्रादि) संरक्षण में रहना चाहिये।[129] तथा पति की सेवा सुश्रुषा से ही स्त्री को स्वर्ग में सम्मान मिलना माना गया है।[130]

जैन धर्म में भी स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में हीन माना गया है। कहा गया है कि स्त्री स्वभाव

---

123. यहोवा द्वारा मिस्रियों वे इस्रायलियों में अंतर करना एवं उन पर दंड/विपत्ति डालना-Num., 2, 3; Exo., 11/7-8; 12/12, 13, 30, 31-35, Deut., 14/21; 24/5-7; 8-10; I Tim, 3/15; John, 3/16, 36, 14/6; Ps. 149/7; इस्लाम में बनी इस्रायल की संतान व फिरऔनजाति को नष्ट करने की बात कही- क़ुर. शरीफ़, सूरा 7/103-106, 109, 127, 128, 130, 137

124. ऋग., 4/61/8; बृह. उप., 1/4/3, मनु., 1/32; 2/145; 3/55-62; याज्ञव, स्मृति, 1/71, 74, 78, 82; महाभा., आदिपर्व, 74/140, 152, अनुशासन पर्व, 40/8, 46/3-6, शांतिपर्व, 144/12-17; मार्कण्डेय पु., 21/69-76; अंगुत्तर नि., 4/2/1/3; भिक्खुनी संयुक्तसुत्त, 2, उद्धृत-कौसंबी, धर्मानंद, भगवान बुद्ध, पृ. 169; Gen., 1/27, 2/21-24. Lev., 21/11-14, 22/22, 24; I Cor., 11/7, 11-12, 7/10-11, Matt., 19/4-6; क़ुर. शरीफ़, सूरा 2/128, 187, 228, 232, 237; 4/19

125. ऋग., 8/33/17

126. शतपथ ब्रा., 11/5/1/9

127. वही, 14/1/1/31

128. महाभा., अनुशासन पर्व, 19/6, 38/12-29; मनु., 9/14-15

129. मनु., 5/148, 149; 9/95, 101

130. मनु., 5/155, 165; वाल्मीकी रामायण, 7/48

से तुच्छ होती है, उसमें गर्व, चंचलता व दुर्बल बुद्धि पायी जाती है।[131] उन्हें विष के समान घातक[132] एवं पशुश्रेणी में माना गया है।[133] इस धर्म की मान्यतानुसार स्त्रियों को प्रमाद की मूर्ति, नित्य मोह, प्रद्वेष, भय, चित्त में चित्र-विचित्र माया, दोष, अशुद्ध चित्त, शिथिल, महाव्रतों का अभाव वाली तथा स्त्रीलिंग होने से मोक्ष नहीं होना माना है।[134] अन्य स्थल पर कहा गया है कि स्त्री तीर्थंकर नहीं हो सकती, सवस्त्र होने से उसे निर्वाण नहीं हो सकता है।[135] स्त्री को बंधनमय मानते हुए कहा है कि कामिनी-कंचन से दुःख-मुक्ति संभव नहीं है।[136]

बौद्ध धर्म में स्त्रियों से भाषण (वार्तालाप) करने, उन्हें देखने का निषेध एवं चौकन्ने रहने का निर्देश मिलता है।[137] विनय पिटक में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि बुद्ध नारी जाति को भिक्षु-धर्म की दीक्षा देने के विरुद्ध थे परंतु शिष्य आनंद के तर्क व अनुरोध को मानकर नारी को प्रव्रज्या (दीक्षा) देने की व भिक्षुणी संघ स्थापित करने की उन्होंने अनुमति प्रदान कर दी पर इससे उन्हें आंतरिक आनंद नहीं हुआ। इसलिये उन्होंने कहा कि हे आनंद! यदि स्त्रियों को गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर धर्म तथा विनय के अनुसार प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति नहीं दी गयी होती तो, यह विशुद्ध धर्म (बौद्ध) चिरस्थायी होता और सहस्रों वर्षों तक स्थिर रहता, परंतु अब स्त्रियों को वह अधिकार प्रदान कर दिया गया है अतः यह विशुद्ध धर्म अब मात्र पाँच सौ वर्षों तक स्थिर रह पायेगा।[138] स्पष्ट है कि कारण चाहे जो रहे हों पर स्वयं बुद्ध द्वारा भी स्त्रियों के कारण संघ का ह्रास होना माना गया है।

बौद्ध धर्म में नारी जाति को प्रव्रज्या (दीक्षा) तो दी गयी परंतु उनके भिक्षुणी संघ को भिक्षु संघ के अधीन रहना चाहिये तथा भिक्षु ही भिक्षुणी को उपदेश दे[139], यह माना गया है। यद्यपि भिक्षु संघ के

---

131. कर्मगाथा, गाथा, 47

132. उत्तरा. सू., 16/1-10; 16/11-13, 32/10, 13

133. 'सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो। जो सोधंति चउत्थ पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहि'-शील पाहुड़, 29

134. योगसार अमितगति, श्लोक, 8/45-48; मोक्षपा., टीका 12/313/11, शीर्षक नं. 4; सूत्र पा., मूल, 24; शीलपा., 29; प्रव. सार, प्रक्षेपक गाथा, 225/3

135. प्रव. सार, प्रक्षेपक गाथा, 225–8/304/18, 305/3

136. सूत्र कृ., 1/1/2

137. महापरिनिब्बान सुत्त, 5/23

138. विनय पिटक, चुल्लवग्ग, 10/1/6; अंगुत्तर नि., भाग 4, पृ. 278

139. वही, 10/1/2

नियमानुसार सभी वरिष्ठ सदस्यों का अभिवादन, सत्कार करना माना है तथापि वरिष्ठ भिक्षुणियों को यह आदर नहीं मिलता था। भिक्षुओं को यह आदेश दिया गया है कि वे न तो भिक्षुणियों के सम्मुख नतमस्तक हों, न उनके आ जाने पर खड़ें हों, न उनका करबद्ध अभिवादन करें और न ही किसी अन्य प्रकार का गुरुजनोचित सेवाकर्म ही करें।[140] इस धर्म के अनुसार भिक्षुणी संघ में चाहे जितने वर्ष तक रही हो, तो भी उसे चाहिये कि वह छोटे-बड़े सभी भिक्षुओं को प्रणाम करे, किसी भी कारण से भिक्षुणी भिक्षु को गाली गलौज न दे।[141] भिक्षुणियों को अभिवादन प्राप्त करने के अधिकार से ही वंचित नहीं किया गया है अपितु व्यवहारतः जब भिक्षु भोजन करते रहते थे, तो उस समय भिक्षुणियों को अलग खड़ा रहना होता था।[142] स्पष्ट है कि सर्वत्र स्त्रियों को पुरुषों से हीन स्थान ही दिया गया है। भिक्षुणी चाहे वृद्धा, विदुषी व चिरकाल प्रव्रजिता हो परंतु नये दीक्षित पुरुष साधु का स्थान उससे ऊँचा माना गया है। भिक्षुणियों को यदि अभिवादन तथा अन्य प्रकार के गुरुजनोचित आदर प्राप्त करने का अधिकार था तो वह स्त्रियों से या भिक्षुणियों से ही था, भिक्षुओं से नहीं।

यहूदी, ईसाई व इस्लाम धर्म में भी नारी को पुरुषों की तुलना में हीन माना है। यहूदी धर्म स्त्री को पृथ्वी जीवन के दुःख व श्राप (शाप) का कारण मानता है। उसे चंचल, अहंकारी मानते हुए कहा है कि स्त्री का मन फंदा व जाल है।[143] स्त्री पुरूष की अधीनता में रहे, पुरूष/पति को अधिकार है कि वे स्त्री/पत्नी पर प्रभुता (स्वामित्व) करें तथा किसी अन्य के द्वारा उसे (स्त्री को) चोट पहुंचाने पर वे दंड ठहरायें।[146] स्पष्ट है कि स्त्री को अपने बारे में निर्णय लेने तथा हानि पहुंचाने पर किसी को स्वयं दंड देने का अधिकार नहीं दिया गया है। दंड देने का अधिकार पुरुष/पति को ही दिया गया है। इस प्रकार स्त्रियों की तुलना में पुरुष को अधिक अधिकार दिये गये हैं एवं पति द्वारा विभिन्न प्रकार से पत्नी/स्त्री के सतीत्व की परीक्षा लेने का विधान किया गया है।[145]

ईसाई धर्म में स्त्री को पुरुष के लिये सृजित माना है, पुरुष को स्त्री के लिये सृजित नहीं माना

---

140. विनय पिटक, चुलवग्ग, 6/11/1

141. कौसंबी, धर्मानन्द, भगवान बुद्ध, पृ. 168-169

142. S.B.E., XVIII, P. 56

143. Gen., 3/17; Is., 3/16-17, 18-25; Job, 14/1; Eccle., 7/26-28; Prov., 31/3

144. Gen., 3/16; Exo., 21/22

145. Lev., 12/1-3, 4, 5; Num., 5/11-31

146. I Cor., 11/8-9

है।[146] इस आधार पर कहा है कि स्त्री पुरुष की महिमा है परंतु पुरूष परमेश्वर की महिमा है।[147] स्पष्ट है कि स्त्री को पुरुष के लिये माना है तथा पुरुष को ईश्वर के लिये माना है। इससे स्त्री की अपेक्षा पुरुष को परमेश्वर के अधिक निकट मानने का भाव भी स्पष्ट होता है। स्त्रियों के लिये कहा हैं कि–पत्नी निर्बल है।[148] स्त्री उपदेश न करे और पुरुष पर आज्ञा न चलायें।[149] चुप रहे, पति का भय मानें।[150] पति पत्नी का सिर है, पत्नी उसके अधीन रहे जैसे प्रभु के।[151] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि पुरुष को विशेष अधिकार देते हुए पति को उनके प्रभु/ईश्वर के समान माना है।

इस्लाम धर्म ने यद्यपि तत्कालीन नारी की दशा सुधारने का कुछ प्रयास किया है तथापि उसके साथ पूरा न्याय नहीं हुआ है। इस्लाम में भी नारी को पुरुष की तुलना में निम्न (नीचा) स्थान प्रदान किया गया है। पत्नी को खेती के समान मानते हुए कहा है कि तुम्हारी बीवियां तुम्हारी खेतियां है अपनी खेती में जिस तरह चाहे जाओ।[152] पुरुष का स्त्री पर एक दर्जा अधिक (प्रधानता)[153] मानते हुए कहा है कि पुरुष स्त्रियों के सिरघरे हैं, यदि वे (स्त्रियाँ/पत्नियाँ) क़ाबू में न रहे तो उन्हें मारो, यातना दो।[154] संपत्ति के बंटवारे के बारे में कहा गया है कि अल्लाह द्वारा निर्धारित किया गया है कि लड़कों को लड़कियों से ज्यादा हिस्सा दिया जाए।[155] एक पुरुष को दो स्त्रियों के बराबर हिस्सा दिया जाना माना गया है।[156] इससे स्पष्ट है कि स्त्री अथवा पत्नी को स्वामित्व की वस्तु की तरह माना गया है।

विभिन्न प्रमुख धर्मों में नारी के संबंध में वर्णित इस विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक, आर्थिक एवं जैविक अवस्थाएं जो कुछ भी रही हों परंतु स्त्री को पुरुषों की तुलना में हीन स्थान दिया गया है एवं शिष्टाचार में उन्हें हीन व्यवहार मिला है। सामाजिक, आर्थिक एवं जैविक व्यवस्था के

---

147. Ibid, 11/3, 7

148. I Pet., 3/7

149. I Tim., 2/11, 12, 13

150. I Pet., 3/1-6; I Cor., 14/34-36; Eph., 5/24

151. Eph., 5/22-23; 25-30, 33

152. क़ुर. शरीफ़, सूरा 2/223

153. वही, सूरा 2/228

154. वही, सूरा 4/34

155. वही, सूरा 4/11-14

156. वही, सूरा 4/177

तर्क के आधार पर यदि इस प्रकार की व्यवस्था का समर्थन किया भी जाता है तब भी उसे संगत नहीं माना जा सकता है। कारण कि पुरुष के लिये बहुपत्नी[157] की स्वीकृति एवं स्वीय (उत्तराधिकार) विधि-विधान में स्त्री व पुरुष का भेद करना, उन्हें पुरुष के अधीन मानना, छलनामयी/असंयमी/अहंकारी आदि माना है जो एकांगी मान्यता है क्योंकि ये दुर्गुण तो पुरुष में भी होते हैं। स्त्री व पुरुष दोनों सृष्टि के अंग है ऐसी स्थिति में एक को (पुरुष) श्रेष्ठ तथा दूसरे (स्त्री) को प्रथम (पुरुष) की तुलना में हीन किस प्रकार माना जा सकता है? नारी को पुरुषों के स्वामित्व में मानना और स्वयं स्त्री के लिये भी उसे (पुरुष को) निर्णय करने का अधिकार देना, शिष्टाचार में उससे हीन व्यवहार करने का प्रतिपादन करना, वैराग्य के लिये उसकी निंदा और अवहेलना (नारी निंदा) करना सर्वथा एकांगी और अनुचित है।

विभिन्न धर्मों में चेतनात्मक स्तर पर समानता को मानते हुए सिद्धांतः स्त्री-पुरुष में अंतर नहीं किया है। सामान्यतः सद्गुणों के आधार पर जीवन व्यतीत करने पर नैतिक जीवन में स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं किया गया है परंतु सामाजिक स्तर पर स्वीकृत इस प्रकार के असमान नियमों को धर्मों में वैधानिक रूप दे देना, उन्हें धर्म शास्त्रों में औचित्य प्रदान करना सही नहीं माना जाएगा। इस प्रकार की मान्यताएं परस्पर विसंगतिपूर्ण एवं चेतना के स्तर पर नर-नारी समभाव के विरुद्ध है।

परंपरागत धर्मों में कई तरह के चमत्कार, जादू-टोने, मंत्र, भविष्यवाणियों एवं सर्वज्ञता (सब कुछ जानना) आदि की धारणाओं के प्रसंग विवरण भी उपलब्ध होते हैं। कतिपय उदाहरण उल्लिखित किये जा रहे हैं। जैसे–वशीकरण और जादू के मंत्रों से किसी को भी वश में किया जा सकता है तथा रोगों को भगया जा सकता है।[158] कई भविष्यवाणियां एवं उनके आधार पर घटित घटनाओं को चमत्कार के रूप में वर्णित किया गया है।[159] इस लौकिक जगत से परे के लोकों (स्वर्ग, नरक, पाताल आदि परलोकों) का वर्णन[160] इस प्रकार से किया गया है कि मानो किसी ने उन्हें सत्य एवं तथ्य के रूप में देखा हो। इन लोकों में विभिन्न प्रकार के मनुष्यों व अनेक देवताओं अथवा जीवों का रहना माना है। स्वर्ग में अतिऐश्वर्यों को मानते हुए एक-एक पुरुष अथवा देवता के कई-कई अप्सराओं एवं देवियों को माना है।[161]

---

157. वशिष्ठ धर्मसूत्र, 1/24; मनु., 9/85; जातक, भाग 2 पृ. 138; हरिवंश पु., 16/28, 20; 31/66-72; Gen., 4/19; क़ुर. शरीफ़, सूरा 33/6, 51-53; 66/1-5, फुटनोट पृ. 927; 4/21; 29/67

158. ऋग., 10/122; 10/162

159. हरिवंश पु., 2/56; Exo., 14/26-29; 15/11; Matt., 2/4

160. शतपथ ब्रा., 6/6/2/4; मार्कण्डेय पु. 12/3/39; विष्णु पु. अध्याय 2, 4, 5; भागवत, 5/6, 17, 18

161. तिलोयप, 8/287-299

विशेष-विशेष प्रकार के कर्मकांड-यज्ञ, विधि-विधान आदि हमें देवता/ईश्वर आदि के निकट/स्वर्गलोक में पहुंचने के योग्य बनाते हैं; उनसे वे प्रसन्न होते हैं अतः उनका पालन अवश्य ही करना चाहिये।[162]

धर्मों में त्रिकालदर्शी/सर्वज्ञता का वर्णन एवं विभिन्न सिद्धियों के सिद्ध होने के तथा उनके चमत्कारिक होने के यथेष्ट प्रसंग-विवरण मिलते हैं। जैसे–हिन्दू धर्म में योगी द्वारा सर्वज्ञ होने पर सबका ज्ञान, लघुता, गुरुता, आकाश में विहार, उत्पन्न करने की व ऐश्वर्य शक्ति आदि सिद्धियों की प्राप्ति होना माना है।[163] जैन धर्म में तीर्थंकर/भगवान के अतिशय (अलौकिक कार्य व ज्ञान) माने हैं। इनमें उनका सुंदर रूप, सूर्यमंडल से भी तेज-सिर के पीछे प्रभामंडल होना माना है और उनकी उपस्थिति से सौ योजन तक रोग का न रहना, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदि का न होना, आकाश में–चमरों, पादपीठ सहित उज्जवल सिंहासन, तीन छत्र, रत्नमय ध्वज, स्वर्ण कमलों पर चलना, वृक्षों व कंटकों का झुकना, दुंदुभि बजना, कम से कम एक कोटि देवों का पास में रहना माना है।[164] कथा साहित्य में सर्वज्ञ/सर्वदर्शी तथा अपरिमित ज्ञान होने के विपुल प्रसंग मिलते हैं।[165]

बौद्ध धर्म में बुद्ध को ऋद्धि-सिद्धि के चमत्कारों से समन्वित होकर रहना माना है।[166] ये बोधिसत्व के जन्म के समय राजा शुद्धोदन के उपवन में बत्तीस (पूर्व निमित्त का) चमत्कार के रूप में वर्णित है।[167] लोकपाल उनका रथ खींचते थे, इंद्र राह शोधते थे, देवता अंजलि बांधे नमस्कार व पूजा करते थे।[168] अन्य भी कई गाथाओं में उनके सर्वज्ञ होने व चमत्कारों के रूप में देवों द्वारा नमस्कार व प्रणाम करने की बात की गयी है।[169] उनका अद्भुत दिव्य शक्ति संपन्न होने के कारण चारों दिक्पाल का भी उनके उपदेशों के श्रवणार्थ आना माना गया है।[170] आकाश संचरण के अन्य कई चमत्कार

---

162. शतपथ ब्रा., 2/6/4/8; Exo., 20; 25; 26

163. श्वेता, उप; 2/13; पातंजल योगसूत्र, 1/24, 25

164. अतिशय, श्लोक 1, उद्धृत-स्याद, मं., पृ. 285

165. चंद्रप्रभ चरित्र, 2/6; सत्यभक्त, जैनधर्म मीमांसा, भाग 2, पृ. 148

166. ललितवि, परि. 6, पृ. 160; दीर्घ नि. भाग 2, पृ. 16

167. वही, परि, 7, पृ. 171-172

168. वही, परि. 7/210-211, परि., 15, पृ. 412

169. वही, परि. 22, पृ. 663-666, 670

170. S.B.E., XIII, 120-124

जैसे–पक्षी की तरह उड़ना, संकल्प मात्र से दूरस्थ वस्तु को समीप ले आना, दिव्य दृष्टि से सूक्ष्म व दूरवर्ती पदार्थों को जानना, जल सिद्धि, आकाश संचरण करना आदि माना है।[171]

यहूदी एवं ईसाई धर्म में भी कई अलौकिक कृत्यों का वर्णन है। जैसे–मूसा व हारून द्वारा फिरौन के सामने यहोवा (ईश्वर) की आज्ञा से अपनी लाठी डालने पर उस लाठी का अज़गर बन जाना, उनकी लाठी द्वारा अन्य की लाठियां निगल ली गयी[172] आदि वर्णित है। कम भोजन का तुरंत दुगुणा होना तथा आकाश से बरसना आदि भी माना गया है।[173] ईसाई धर्म में ईसा (जीसस) के जन्म के समय अविवाहित मरियम को स्वर्गदूत का स्वप्न में दिखाई देना और निर्देश देना, ज्योतिषियों द्वारा भविष्यवाणियां करना और उनका सच होना माना गया है।[174] बाइबिल में ईसा द्वारा कई असाध्य रोगियों का बोलने मात्र से रोगमुक्त होना वर्णित है। जैसे–दुष्ट आत्माओं को निकालना, गूंगों को ठीक करना (बोलने की शक्ति देना) आदि।[175] इसी प्रकार मुर्दों को जीवित करने[176] एवं मृत्योपरांत स्वयं ईसा का तीन दिन बाद पृथ्वी पर जी उठना माना है।[177] ईसा पानी पर चलकर पार हो गये[178] तथा उनके द्वारा आंधी-पानी को डांटने पर वे शांत हो गये।[179] उनके कहने से सात रोटियां और मछलियाँ सात-सात टोकरे बन गये और उनसे चार हजार लोगों को भोजन से तृप्त किया।[180] इस प्रकार ईसा को सर्वसमर्थ मानते हुए स्वर्ग और पृथ्वी के सारे अधिकार दिये जाना भी वर्णित है।[181]

इस्लाम धर्म में अल्लाह द्वारा पैग़ंबर मुहम्मद को मस्ज़िदे हराम (क़ाबा) से अक़सा की मस्ज़िद (अलौकिक/दूर की मस्ज़िद) की रातोंरात सैर कराई।[182] अल्लाह ने बिना स्तंभ के आकाश खड़ा किया[183]

---

171. अभि., कोश, 7/40-48; अंगुत्तर नि. भाग 3, पृ. 60
172. Exo., 7/10, 12
173. Ibid, 16/4-8
174. Matt., 1/18-25; 2/4-12; 3/1-3
175- Matt., 9/2-8; Mark, 7/25-30, 32-33
176. Luke., 7/12-15
177. Matt., 28/2-10
178. Mark., 4/39
179. Matt., 8/23-27; 9/1-7 Acts., 12/7-10
180. Mark., 8/1-9, 17-21
181. Matt., 28/18-19
182. क़ुर. शरीफ़, सूरा 17/1
183. वही, सूरा 13/2

और अदृष्ट सेना से पैग़ंबर मुहम्मद की सहायता की।[184] बांझ स्त्री को बुढ़े पति से पुत्र की प्राप्ति हुई।[185] इसके अतिरिक्त भी अन्य स्थलों पर निशानियों के रूप में कई चमत्कारों का वर्णन मिलता है।[186] अल्लाह द्वारा पैग़ंबर मुहम्मद को अगणित भलाइयां व बरक़तें (क़ौसर) दिया जाना माना गया है।[187] वर्णन है कि वह (क़यामत) घड़ी पास आ गयी और चांद फट गया[188]–यह चमत्कार पैग़ंबर मुहम्मद की उपस्थिति में निशानी के रूप में मक्का वालों को दिखाया गया।[189] क़ुरआन को चमत्कारपूर्ण ईश-ग्रंथ मानते हुए कहा गया है कि सभी मनुष्य और ज़िन्न मिलकर भी क़ुरआन जैसा ग्रंथ नहीं बना सकते[190], स्वयं पैग़ंबर भी नहीं।[191] इस प्रकार इस्लाम धर्म में चमत्कार/मौज़िजा अल्लाह के हाथ में माना है जो वह लोगों को अपने नबियों की निशानियों के रूप में दिखाता है।

विश्व के परंपरागत प्रमुख धर्मों के व्यावहारिक/आचरणात्मक पक्ष के रूप में प्रस्तुत इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सैद्धांतिक धरातल पर धर्म समभाव को मानने पर भी व्यावहारिक रूप में मनुष्यों में संघर्ष/युद्ध, ऊँच-नीच, जातिवाद/वर्गभेद/सांप्रदायिकता/समुदाय भेद, नारी के प्रति पुरुष की तुलना में हीन दृष्टि, परलोक एवं सर्वज्ञता का चमत्कारपूर्ण वर्णन आदि को मान्यताएं दी गयी हैं। इन मान्यताओं के मूल में चाहे जो कोई भी सामाजिक, आर्थिक, जैविक, भौगोलिक, राजनीतिक या अन्य कोई कारण रहें हो। उपर्युक्त चमत्कारपूर्ण वर्णन चाहे शब्दशः सत्य एवं तथ्यपरक दृष्टि से न किये गये हों वरन् लक्षणारूप में किये गये हों परंतु अधिकांश जन सामान्य द्वारा इन्हें प्रायः अभिधा रूप (शब्दशः ज्यों का त्यों) में ग्रहण किया गया है और वे गुमराह हुए है। उनमें भ्रम एवं मिथ्या विश्वास उत्पन्न होते रहें है।

धर्मों में स्वीकृत इन भविष्यवाणियों, चमत्कारों एवं सर्वज्ञता की मान्यताओं से कई अनर्थ एवं भय उत्पन्न हुए हैं। जैसे–बहन देवकी के पुत्र द्वारा कंस वध की भविष्यवाणी ने कंस को प्रेरित किया कि अपनी सुरक्षा के लिये वह अपने भानजों को मारता (हत्या करता) चला जाए। इससे कंस एवं उसके

---

184. वही, सूरा 9/26; 33/9

185. क़ुर. मज़ीद, सूरा 19/4-8

186. वही, सूरा 7/111-122; 10/79-82; 19/16-24, 28-34; 20/20-23, 68-70

187. वही, सूरा 108/1

188. वही, सूरा 54/1-2

189. वही, सूरा कमर, परिचय पृ. 984

190. वही, सूरा 2/23, 24; 17/88

191. वही, सूरा 52/33, 34; 69/43-48

भानजों की शत्रुता बढ़ी और एक भानजे ने कंस को मारा। इसी प्रकार हेरोदस के राजा हिरोद ने भविष्यद्वक्तओं के वचनों के आधार पर चेतावनी के रूप में अपने विनाश से भयभीत होकर घबराहट से बैतलहम के छोटे बच्चों से लेकर दो वर्ष तक के सब बच्चों को मरवा दिया था।[192] इस प्रकार स्पष्ट है कि भविष्यवाणी करने पर यदि भविष्य ख़राब बता दिया जाता है तो व्यक्ति में भय, निराशा, क्रोध आदि उत्पन्न हो जाते हैं तथा कई अनर्थकारी कार्य कर दिये जाते हैं। यदि अच्छा बता दिया जाता है तो व्यक्ति में उसको पूरा करने की आशा जगती है। परंतु प्रायः अहंकार एवं लापरवाही भी उत्पन्न होती हैं। अतः चमत्कार की भावना से भविष्यवाणियों को धर्म में स्थान देना उचित प्रतीत नहीं होता है।

परंपरागत धर्मों में जो परलोक का अलौकिक वर्णन, तंत्र-मंत्र से चमत्कार, सिद्धि, स्वर्ग में चिरयौवन अप्सराएं, हूरें आदि की सेवाएं प्राप्त होंगी, वहां सभी प्रकार की कामनाएं पूरी होती हैं; तीर्थंकरों, पैगंबरों व अवतार आदि के जन्म के समय देवता/स्वर्गदूत/फ़रिश्ते आदि का उपस्थित होना, उन्हें प्रणाम करना, धर्मग्रंथों का अपोरुषेय माना जाना, ऋषि, मुनियों, तीर्थंकरों आदि का सर्वज्ञ/त्रिकालदर्शी आदि होना आज के वैज्ञानिक एवं तार्किक/बौद्धिक विकास के युग में सामान्यतः स्वीकृत नहीं हो सकते हैं। कारण कि आधुनिक पीढ़ी ज्ञान के प्रति सत्य एवं तथ्यपरक दृष्टिकोण रखने लगी है। वह तर्क, विश्लेषण एवं प्रमाण के आधार पर ही किसी बात को स्वीकार करने की बौद्धिक मनःस्थिति से गुज़र रही है। उसे परंपरागत धर्मों की उपर्युक्त मान्यताएं प्रायः मिथ्या, भ्रमपूर्ण और अविश्वसनीय प्रतीत होते हैं। परंपरागत धर्मों में उपलब्ध इस प्रकार के चमत्कारिक वर्णनों को प्रायोगिकता के अभाव में नहीं माना जा सकता है। व्यवहार-प्रयोग के अभाव में ये निरर्थक एवं संदेहास्पद घटनाएं लगती हैं। इस प्रकार के वर्णनों से मनुष्य में धर्म के प्रति प्रायः विवेकपूर्ण श्रद्धा के स्थान पर अंधश्रद्धा/अंधविश्वासों एवं अंधभक्ति का जन्म होता है। अतः चमत्कार/सिद्धि को सत्यता व प्रभावित करने का आधार/चिह्न मानना बुद्धि, विवेक, सत्यता एवं मानवता को तिलांजलि देना है।[193]

वस्तुतः धर्म तो इसलिये है कि वह मानव जाति का समुचित मार्गदर्शन करे तथा उसे मिथ्या ज्ञान द्वारा पथभ्रष्ट होने से बचाये। उसमें विवेक जागृत कर उसके भ्रमों एवं जिज्ञासाओं का यथेष्ट निराकरण कर सत्यमार्ग की ओर प्रेरित करे। परंतु विभिन्न धर्मों में धर्म समभाव की यथार्थ क्रियान्विति के अभाव से उत्पन्न विभिन्न दोषों के उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से सिद्ध भेद-भाव पूर्ण दर्शन के पश्चात् उन पर प्रश्नचिन्ह्न के समान लगने वाली मानव समाज में उपस्थिति विभिन्न समस्याओं के कारण परंपरागत धर्म अपनी सार्थकता खोते जा रहे हैं। वे आज के मानव की बुद्धि, भाव एवं क्रिया में सामंजस्य स्थापित करने

---

192. Matt., 2/1-10; 2/16, 17

193. सत्यभक्त, धर्म समीक्षा, पृ. 60

में सफल नहीं हो पा रहे हैं। परंपराओं से प्राप्त धर्म और ज्ञान के आचरण पक्ष के रूप में विश्व में धर्मयुद्धों के दौरान धर्मयोद्धाओं में क्रूरता एवं असहिष्णुता बढ़ी हैं।[194]

वर्तमान युग में विरासत में प्राप्त आचरणात्मक पक्ष के रूप में धर्माधारित संप्रदाय, राष्ट्रवाद मानव समाज के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है इसने मानव अस्तित्व को संकटग्रस्त कर दिया है तथा सर्वत्र क्रूरता, घृणा एवं हिंसा का साम्राज्य फैल रहा है। आज वस्तुतः संप्रदायवाद किसी धर्म/जाति/समुदाय/पंथ के व्यक्ति अथवा समूह की वह मनःस्थिति है जो इस भावना से उत्पन्न होती है कि उनके विश्वास के सामने कई वास्तविक संकट है जिसका धर्म/जाति/समुदाय पंथ आदि के सदस्यों के सामूहिक प्रयासों द्वारा सामना किया जाना चाहिये।

आधुनिक युग में कई राष्ट्र सांप्रदायिकता की इस समस्या से जूझते रहें हैं और जूझ रहें हैं। इस संबंध में अध्ययन करने पर कई तथ्यपूर्ण आंकड़े उपलब्ध होते हैं।[195] इस काल में व्यवहारतः विभिन्न धर्मों के समाजों में इस प्रकार के दोष के साथ ही जातिगत भेद व अस्पृश्यता के कारण समय-समय पर उत्पन्न अंतर्कलह (आंतरिक झगड़े) के घटना तथ्य भी प्राप्त होते है।[196] इन अंतर्कलहों एवं संघर्षों में ऊँच-नीच/कूलीन-अकूलीन/छुआ-छूत को प्रमुख आधार बनाया गया है। इस भेदभाव के कारण ईश-पूजा स्थलों (मंदिर, मस्जिद, चर्च आदि) पर उच्च जाति वर्ग द्वारा निम्न/अस्पृश्य जाति वर्ग के प्रवेश का विरोध किया गया हैं। इन विरोधों का आधार पारंपरिक धर्म/धर्मशास्त्रों को बताया गया है।[197]

इन सभी असहिष्णुताओं व हिंसक सांप्रदायिक दंगे-फसादों के पीछे मूल कारण क्या रहे हैं, यह जानने हेतु समय-समय पर विभिन्न आयोगों (जांच समितियाँ) की स्थापनाएँ की गयी। उनकी रिपोर्टों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि इनके पीछे प्रायः धर्म और धर्म स्थान–मंदिर, मस्ज़िद, एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के धर्मस्थान को अपवित्र करने के कृत्य, एक समुदाय द्वारा दूसरे समुदाय को भयाक्रांत करना,

---

194. Swiven, Runsiman, A History of the Crusedus, p. VIII, P. 474

195. Belle, C.A., Rullars, Townsmen and Bazar's. p. 335-338; Economy and Political Weekly, Jan. 12, 1985, P. 61-62; दुबे, एम. पी., धर्मनिरपेक्षवाद और भारतीय प्रजातंत्र, पृ. 195, 200-201, 219

196. The Hindustan Times, August 31, 1978; Sept., 26, 1987; The Patriot, April 26, 1982; The Times of India Editorial, July 4, 1987

197. The Times of India, July 4, 1987; Punit, A.E., Social System in Rural India, P. 44; Shakir, Islam in Indian Politics, pp. 13-14; The Gazetter of India, P. 647

भाषा, क़ब्रगाह, श्मशान, राजनीति, व्यक्तिगत और सार्वजनिक वक्तव्य, भाषण, उत्सव, स्त्रियाँ आदि कारण रहे हैं।[198] यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि किसी भी वर्ग/समुदाय का संबंध मूलतः किसी न किसी धर्म से अवश्य होता है।

अतः आधुनिक युग संदर्भ में प्रस्तुत इस विवेचन से भी स्पष्ट होता है कि धर्मयुद्ध, सांप्रदायिकता, जातिवाद, अस्पृश्यता, असमानता/विषमता आदि के रूप में जो भेद दृष्टियां विकसित हुई हैं उनका एक प्रमुख कारण परंपरागत धर्म परपराएं एवं उनके आधार पर विकसित होने वाले/किये जाने वाले मत-मतांतर/संप्रदाय आदि रहें हैं। इन परंपरागत धर्मों में वर्णित भेदपरक व्यवहार पक्ष को अपना आदर्श मानते हुए अधिकांश धर्मनेता एवं राजनेता प्रायः इनके औचित्य को सिद्ध करते रहे हैं अथवा उनका प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष समर्थन करते रहें हैं। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य-मनुष्य के बीच हिंसा, घृणा, द्वेष, कट्टरता, अहंकार, असहिष्णुता, वैमनस्य आदि का व्यवहार उत्पन्न हुआ है और धर्म के नाम पर कई युद्ध/संघर्ष हुए हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि परपंरागत धर्मों का सैद्धांतिक पक्ष धर्म समभाव पूर्ण होने से शुक्ल पक्ष के रूप में अभिव्यक्त होता है तथापि उनके व्यावहारिक/आचरणात्मक पक्ष के रूप में भेदभावपूर्ण व्यवहार को मान्यता देने–उनका वर्णन करने और उसका कोई विरोध/खंडन न करने से धर्म समभाव की यथार्थ क्रियान्विति का अभाव दृष्टिगत होता है। यही कारण है कि इस प्रकार के असंगत विवेचन को धर्मशास्त्रों में स्थान देने से तथा उनका वर्तमान ज्ञान/विकास से मेल न होने से आधुनिक प्रबुद्ध मानव के लिये धर्म और धर्म समभाव विषयक सिद्धांत व व्यवहार निश्चय ही चिंता एवं चिंतन का विषय बनते हैं।

अंधश्रद्धा की अपेक्षा युगानुरूप विवेकसम्मत ज्ञान सत्य होता है इसलिये धर्म ज्ञान एवं तत्संबंधी विवेचन भी युगानुरूप एवं विवेकसम्मत होना चाहिये, जो कुछ न्यायसंगत व उचित है उसे स्वीकार करना चाहिये। अतः आधुनिक समकालीन चिंतकों ने धर्म के विषय में पुनः चिंतन करना प्रारंभ किया है। वे परंपरागत धर्मों की सभी मान्यताओं को आज युगानुरूप नहीं पाते हैं। उनके अनुसार कोई भी धर्म पूर्ण/सार्वभौमिक रूप से सत्य नहीं है और न ही वे आज की धारणाओं से संगति रखते हैं। अतः परंपरागत धर्मों में से कोई भी धर्म, आज का युगधर्म/सर्वमान्य हो सकने वाला सार्वभौमिक/विश्व धर्म नहीं हो सकता है। आधुनिक समकालीन चिंतक परंपरागत धर्मों के स्थान पर किसी ऐसे धर्म की स्थापना पर बल देते हैं जिसके विश्वास व मूल्य युगानुरूप बौद्धिक विकास के अनुकूल हों, जिसमें धर्म समभाव के सभी आधार

---

198. दुबे, एम.पी. धर्मनिरपेक्षवाद और भारतीय प्रजातंत्र, पृ. 201, 206-212; माया, 15 मार्च, 1995, पृ. 51

उपलब्ध होते हों तथा जिसमें सिद्धांत व व्यवहार में असंगत/विरोधाभासपूर्ण मान्यताओं को किसी भी प्रकार से स्वीकृति प्रदान न की गयी हो।

इस संबंध में समय–समय पर विद्वानों द्वारा चिंतन प्रस्तुत किया जाता रहा है इसलिये अगले अध्याय में हम भारतीय समकालीन चिंतकों द्वारा प्रस्तुत धर्म समभाव के सबंध में चर्चा करेंगे। साथ ही कतिपय चिंतकों ने सर्वधर्म समभावपूर्ण युगानुरूप धर्म/विश्वधर्म/सार्वभौमिक धर्म/युगधर्म आदि के सबंध में भी चिंतन किया है अतः इस सबंध में भी यथास्थान चर्चा करना उचित होगा।

षष्ठ सोपान

धर्म समभाव एवं समकालीन चिंतन

धर्म-चिंतन के अंतर्गत धर्म समभाव के सर्वांगीण स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये हमने भिन्न-भिन्न धर्मों की धर्म समभाव संबंधी अवधारणाएं प्रस्तुत की हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि धर्म समभाव धर्म-चिंतन में एक ऐसी अवधारणा है जहां विभिन्न संघर्षों को समाप्त कर मानव चिंतन-धाराएं एकात्म दर्शन की ओर बढ़ती हैं। धर्मों के पारस्परिक द्वंदों एवं संघर्षों को मिटाकर विवेक के आधार पर निष्पक्ष हो, सत्यतापूर्ण समन्वय-सामंजस्य को स्थापित करती हैं। इस समन्वयवादी, सामंजस्यपूर्ण सर्वधर्म समभाव की दृष्टि का परिचय हमें भारतीय समकालीन चिंतन में विशेषतः उपलब्ध होता है। इसलिये धर्म समभाव के संबंध में समकालीन चिंतकों की धारणा को प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। साथ ही हमारे द्वितीय सोपान में समकालीन चिंतकों ने धर्म समभाव की परिभाषा एवं अर्थ निर्धारण करने में विधेयात्मक रूप से विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाया है इसलिये यह और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि उनके धर्म समभाव संबंधी चिंतन को प्रस्तुत किया जाए। समकालीन चिंतकों ने धर्म समभाव पर आधुनिक दृष्टि से विशेष चिंतन-समीक्षा प्रस्तुत की है अतः उनकी विचार-सामग्री वर्तमान में धर्म समभाव की दृष्टि से उपादेय प्रतीत होती है। हमने इसी दृष्टि से यह सोपान प्रस्तुत किया है। द्वितीय सोपान की पुनरावृत्तियों से यथाशक्य बचते हुए इस सोपान में हम इसमें क्रमशः स्वामी विवेकानंद, डा. भगवानदास, महात्मा गांधी, डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् एवं स्वामी सत्यभक्त (पं. दरबारी लाल) के धर्म समभाव के विचारों को प्रस्तुत करेंगे।

6.1 स्वामी विवेकानंद (नरेंद्रनाथ दत्त-1863-1902)

समकालीन भारतीय चिंतन में कालक्रम की दृष्टि से संत रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानंद का चिंतन महत्वपूर्ण है। 22 सितंबर 1893 को शिकागो (अमेरिका) में आयोजित विश्वधर्म संसद में इन्होंने हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व किया। इनका चिंतन मुख्यतः अद्वैत वेदांत दर्शन से प्रभावित रहा है। स्वामी विवेकानंद ने अद्वैत वेदांत की दार्शनिक समस्याओं एवं धर्म से सबंधित समस्याओं की व्याख्या देश काल और समय की प्रगतिशील पृष्ठभूमि के आधार पर प्रस्तुत की है। धर्म के विविध आयामों की चर्चा के अंतर्गत वे विवेक ज्ञान के आधार पर धर्म समभाव को स्वीकार करते है।[1]

---

1. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, द्वी. खं., पृ. 283, 181, 275-278

स्वामी विवेकानंद के धर्म समभाव चिंतन का प्रमुख आधारस्तंभ रामकृष्ण परमहंस हैं। अतः उनसे संबंधित विचारों का अवलोकन करना होगा। उन्हीं के शब्दों में-मेरे गुरूदेव कहा करते थे, 'इस संसार की किसी ली-दी जानेवाली वस्तु की अपेक्षा धर्म अधिक आसानी से दिया तथा लिया जा सकता है।' अतः प्रथम स्वयं तुम्हीं आत्मज्ञानी हो जाओ तथा संसार को कुछ देने योग्य बन जाओ और फिर संसार के सम्मुख देने के लिये खड़े होओ।[2] पुनः इसके आगे कहा गया है कि 'धर्म बात करने की चीज़ नहीं है, न वह सांप्रदायिकता है, न मतवाद विशेष। धर्म किसी संप्रदाय, अथवा संस्था में आबद्ध नहीं रह सकता। यह तो आत्मा के साथ परमात्मा का संबंध है। अतएव किसी एक संस्था में बद्ध होकर यह कैसे रह सकता है? ऐसा होने से तो धर्म व्यवसाय ही हो जाएगा और धर्म जब व्यवसाय बन जाता है, तब धर्म का लोप हो जाता है। मंदिर तथा गिरजाघर बनवा देने और सामूदायिक पूजा में उपस्थित हो जाने का नाम धर्म नहीं है। यह पुस्तकों में, शब्दों में, व्याख्यानों में अथवा संस्थाओं में नहीं रहता है। धर्म आत्मसाक्षात्कार में ही है।[3] स्पष्ट है कि रामकृष्ण परमहंस धर्म को भाषा, संप्रदाय, मत, संस्था, धर्मग्रंथ आदि की विषय वस्तु नहीं मानते हैं। उनके अनुसार धर्म चेतना (व्यक्ति आत्मा) के साथ चेतना (परमात्मा) का संबंध है और इस संबंध को चेतनात्मक बोध (आत्म साक्षात्कार) से ही समझा जा सकता है। अन्य शब्दों में वे चेतना के आधार पर चेतना को जानने का अर्थात् चेतनात्मक स्तर पर परस्पर एकात्मता के बोध को धर्म कहते हैं। प्रथम सत्य के रूप में इस चेतनात्मक एकात्मता बोध की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा रामकृष्ण परमहंस के द्वारा स्वामी विवेकानंद को दी गयी थी।

रामकृष्ण परमहंस के द्वारा प्रदत्त दूसरे महत्वपूर्ण सत्य के विषय में कहते हैं कि-मैंने अपने गुरूदेव से सीखा वह यह है कि 'संसार में जितने धर्म हैं, वे परस्पर विरोधी या प्रतिरोधी नहीं हैं-वे केवल एक ही चिरंतन शाश्वत धर्म के भिन्न-भिन्न भाव मात्र हैं। संसार में केवल एक ही धर्म है। अनंत काल से केवल एक ही धर्म चला आ रहा है और सदा वही रहेगा और यही एक धर्म भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रीति से प्रकट होता है। अतएव हमें सब धर्मों को मान देना चाहिये और जहां तक हो सके, उनके तत्वों में अपना विश्वास रखना चाहिये।[4] धर्म देश, जाति एवं पात्र (व्यक्ति) के अनुसार विभिन्न भाव धारण करता है। किसी व्यक्ति में यह तीव्र कर्मशीलता, किसी में यह उत्कट भक्ति, किसी में यह योग तथा किसी में यह

---

2. वही, 'मेरे गुरूदेव', सप्तम ख., पृ. 260

3. वही, सप्तम, खं., पृ. 260

4. वही, पृ. 261

तत्वज्ञान के रूप में प्रकट होता है।[5] अर्थात् धर्म ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग इन सबमें समन्वित होता है। अतः सब धर्मों के प्रति राग-द्वेष से परे होकर समभावपूर्ण व्यवहार करना चाहिये।

रामकृष्ण परमहंस ने विभिन्न धर्मों के धर्म गुरुओं से धर्म साधनाएं सीखीं, जो भी अन्य धर्म पथ मिले, उन सबको अंतःकरण से ग्रहण किया और प्रत्येक स्थिति में वे एक ही परिणाम पर पहुंचे कि 'प्रत्येक धर्म का ध्येय एक ही है और सब धर्म एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं-अंतर केवल पद्धति तथा विशेषतः भाषा में रहता है।[6] जैसे अन्य धर्म मेरे धर्म के नाम से संबंधित न होने से सत्य नहीं है। मेरा जो धर्म/संप्रदाय है वही पूर्ण सत्य है।[7] यह भाव स्वार्थवश अन्य धर्मों के प्रति राग-द्वेष अपनाने के कारण उत्पन्न होता है, और राग-द्वेष से रहित होने पर सत्यबोध होता है।

आत्मशुद्धिपूर्वक प्रत्येक धर्म की साधना कर उससे प्राप्त उपर्युक्त धर्म समभाव संबंधी पवित्र और परम सत्य को आचरण रूप में संपादित करने का स्वामी विवेकानंद पर व्यापक प्रभाव पड़ा।[8] कारण कि रामकृष्ण परमहंस ने पहले स्वानुभव के आधार पर सबके प्रति अभेदपूर्वक पवित्रभाव से व्यवहार किया।[9] 'सब धर्म पंथों पर उनकी समान श्रद्धा थी और उन सबमें उन्होंने ऐक्य भाव ढूंढ लिया था। मनुष्य ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी, योगमार्गी अथवा कर्ममार्गी हो सकता है। विभिन्न धर्मों में इन विभिन्न भावों में से किसी एक भाव का प्राधान्य देखा जाता है। परंतु यह भी संभव हो सकता है कि इन चारों भावों का मिश्रण एक ही मनुष्य में हो जाये। भावी मानव जाति यही करेगी भी'-यही मेरे गुरूदेव की धारणा थी। उन्होंने किसी को बुरा नहीं कहा, वरन् सभी में अच्छाइयां ही देखी।[10] इन विचारों से स्पष्ट है कि रामकृष्ण परमहंस धर्म समभाव के अंतर्गत पूर्ण धर्म में ज्ञान भक्ति (भाव), योग और कर्म के संतुलन को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार विभिन्न धर्मों में मूलतः कोई अंतर नहीं है, विरोध नहीं है।

रामकृष्ण परमहंस द्वारा आत्मशुद्धि के आधार पर धर्म समभाव की इस शिक्षा ने स्वामी विवेकानंद के धर्म समभाव संबंधी चिंतन को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है। वे मानते हैं कि सत्य केवल एक है और यह भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट हो सकता है तथा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से इसका भिन्न-भिन्न स्वरूप

---

5. वही, पृ. 261
6. विवेकानंद साहित्य, सप्तम खं., पृ. 254
7. वही, पृ. 255
8. वही, पृ. 255, 257, 258, 264
9. वही, पृ. 256, 257
10. वही, विवेकानंद साहित्य, सप्तम खं., पृ. 25' ·259

दिख सकता है। तब हम दूसरे के प्रति बैर भाव रखने के स्थान पर सबके साथ असीम सहानुभूति रख सकेंगे।[11] जब तक इस संसार में भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य जन्म लेंगे, तब तक हमें उस एक आध्यात्मिक सत्य को विभिन्न ढांचों में ढालना पड़ेगा, यह समझ लेने पर हम विभिन्नता के होते हुए भी एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता रख सकेंगे, जिस प्रकार प्रकृति कहने से बहुत्व में एकत्व का बोध होता है, जिस प्रकार व्यावहारिक जगत् में भेद होते हुए भी उन सभी भेदों के पीछे अनंत, अपरिणामी, निरपेक्ष एकत्व विद्यमान है, वैसा प्रत्येक मनुष्य के संबंध में भी सत्य है। व्यष्टि समष्टि की क्षुद्राकार में पुनरावृत्ति मात्र है। ये सब भेद प्रतीत होते हुए भी इनमें शाश्वत सामंजस्य विराजमान है, इस तथ्य को हमें स्वीकार करना चाहिये।[12] वर्तमान में स्वामी विवेकानंद इसे अत्यंत ही आवश्यक मानते हैं।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार मनुष्य में धर्म समभाव का आंतरिक बोध निहित है। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो सार वस्तु अर्थात् आत्म तत्व विद्यमान है इसकी तुलना में ये मतवाद, आचार, पंथ, गिरजाघर, मंदिर आदि सभी तुच्छ है। मनुष्य में यह भाव जितना अधिक अभिव्यक्त होता है वह उतना ही अधिक जगत कल्याण के लिये समर्थ हो जाता है। तब धर्म का अर्थ न तो शब्द होता है न नाम, न संप्रदाय वरन् इसका अर्थ होता है आध्यात्मिक अनुभूति। जिन्हें, अनुभव हुआ है, वे ही इसे समझ सकते हैं। जिन्होंने धर्मलाभ कर लिया है, वे ही दूसरों में धर्मभाव संचारित कर सकते हैं, वे ही मनुष्य जाति के श्रेष्ठ आचार्य हो सकते हैं-केवल वे ही ज्योति की शक्ति है।'[13] इससे स्पष्ट है कि उनके द्वारा एक व्यक्ति ने पूर्ण समभाव के लिये ज्ञान, भाव एवं क्रिया के विवेकपूर्ण समन्वय को आवश्यक माना गया है। वे परमहंस के विचारों को अपने ज्ञान/धर्म चिंतन का आधार मानते हैं।[14] इन दोनों चिंतकों के धर्म समभाव संबंधी चिंतन में समानता पायी जाती है।[15] अतः धर्म समभाव के संबंध में उनके विचारों का अवलोकन करते हुए पूर्ण धर्म समभाव के आधार पर विश्वधर्म[16] के आदर्श की प्राप्ति के लिये जो योजना[17] प्रस्तुत की गयी है-उस पर चर्चा करना संगत होगा।

स्वामी विवेकानंद का मानना है कि धर्म व्यक्ति में कहीं बाहर से नहीं आता है, वरन् व्यक्ति के

---

11. वही, पृ. 261-262
12. वही, सप्तम खं., पृ. 262
13. वही, सप्तम ख., पृ. 267
14. वही, पृ. 267
15. वही, पृ. 127, 129, 130, 131, 134, 138, 140
16. विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 124, 139
17. वही, पृ. 147

24—259 Min. of H.R.D./2005

अभ्यंतर से ही उदित होता है।[18] धार्मिक विचार मनुष्य की रचना में ही सन्निहित है और चाहकर भी वह (मनुष्य) धर्म का त्याग तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसका शरीर, मन, मस्तिष्क एवं जीवन है। जब तक मनुष्य में सोचने की शक्ति है तब तक धर्म किसी न किसी रूप में रहेगा।[19] विश्व के सभी धर्मों में एकता का कोई न कोई सूत्र है[20] और धर्म ही मानव जीवन में सर्वाधिक शांतिदायी है, धर्म ने ही सर्वापेक्षा अधिक भ्रातृभाव, प्रेम व शांति का विस्तार किया है।[21] तथापि धर्म के द्वारा मानव जाति में घृणा व विद्वेष की भावना भी पनपी है, धर्म संप्रदायों एवं मतावलंबियों के स्वार्थ एवं शत्रुता के भाव के कारण मानव-जाति में समष्टि-भाव की चेष्टाएं विफल हुई हैं।[22] लेकिन स्वामी विवेकानंद के अनुसार अति प्राचीन काल से ही कुछ धर्म संप्रदायों अथवा धर्मों की विविधता को जीवित रखने के समर्थक रहे हैं क्योंकि प्रत्येक में जगत के कल्याण के लिये एक महान भाव और उद्देश्य निहित होता है। अतः एक को भी विनष्ट नहीं किया जा सकता है।[23] उन सब में मात्र बाह्याचार या भाषा, क्रिया की विविधता नहीं होती वरन् वे महान विचार से आवेष्टित होते हैं, उनके पीछे एक चेतना (आत्मा) होती है ईश्वर के विधान की विभिन्न शक्तियां परस्पर विरोधी नहीं अपितु परस्पर पूरक है।[24] प्रत्येक धर्म में महान् सार्वभौमिक तत्व होता है अतः धर्म वर्जन का नहीं योगदान का विषय है।[25]

इस सार्वभौमिकता के आधार पर सार्वभौमिक धर्म के संबंध में सभी राष्ट्रों के दार्शनिकों व अन्य चिंतकों ने कई कल्पनाएं की है।[26] बहुत्व में एकत्व सृष्टि का विधान है और सब लोग मनुष्य होते हुए भी परस्पर पृथक हैं।[27] मनुष्य जाति के एक अंश के रूप में व्यक्ति-व्यक्ति से पृथक है, भिन्न है। मनुष्य होने

---

18. वही, चतुर्थ खं., 187
19. वही, पृ., 187
20. वही, पृ. 190
21. वही, तृ. खं., 124-125, 127
22. वही, पृ. 125
23. वही, पृ. 125, 131
24. वही, पृ. 125, 129-130, 131
25. वही, पृ. 130, 138
26. वही, पृ. 131
27. विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 145

की दृष्टि से स्त्री और पुरुष एक ही हैं और पुरुष-पुरुष होने के कारण स्त्री से भिन्न है। मनुष्य होने के कारण मनुष्य अन्य जीव जंतुओं से पृथक है, किंतु प्राणी होने के कारण स्त्री, पुरुष, जीव-जंतु, उद्भिज, सभी समान है तथा सत्ता होने के कारण सबका विराट् विश्व के साथ एकत्व है।[28] यह विराट् सत्ता ईश्वर है-समस्त वैचित्रमय जगत्-प्रपंच का चरम एकत्व-उस ईश्वर में हम सभी एक हैं। बाह्य कार्यों व चेष्टा का भेद तो अवश्य रहेगा।[29] स्वामी विवेकानंद के अनुसार विश्व धर्म का यदि यह अर्थ हो कि एक प्रकार के विशेष मत में विश्व के सभी व्यक्ति विश्वास करें और उसे अपना धर्म मानें तो यह सर्वथा असंभव है, ऐसा कभी नहीं हो सकेगा, क्योंकि संपूर्ण विश्व में धर्म का एक ही पौराणिक रूप नहीं हो सकता है और न ही एक अनुष्ठान पद्धति प्रचलित हो सकती है।[30] वैचित्र्यता एवं विषमता जीवन की मूल भित्ति है। भिन्नता एवं वैषम्यता ही संसार एवं चिंतन की उन्नति का मार्ग है। अतः संपूर्ण साम्यता होने पर कोई विकास न हो सकेगा।[31]

सब धर्ममत सत्य हैं यह प्राचीन समय से ही माना जाता रहा है और कई राष्ट्रों (भारत, अलेक्ज़ेड्रिंया, यूरोप, चीन, जापान, तिब्बत, अमेरिका) में एक समन्वित धर्म को सूत्रबद्ध करने अथवा सब धर्मों को एक ही प्रेम-सूत्र में ग्रथित करने की कई चेष्टाएं हो चुकी-किंतु सब व्यर्थ हुई है।[32] इसके वे निम्न कारण मानते हैं।[33] प्रथम यह कि उन्होंने किसी व्यावहारिक प्रणाली का अवलंबन नहीं किया। द्वितीय यह कि उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि संसार के सभी धर्म सत्य हैं परंतु उन सबको इस प्रकार से समन्वित करने का ऐसा कोई उपाय नहीं किया कि उन धर्मों की अपनी विशिष्टता भी सुरक्षित रह सके। स्वामी विवेकानंद के अनुसार सर्वधर्म समभाव के लिये वही उपाय वास्तव में कार्यकारी हो सकता है जिसमें किसी भी धर्म की विशिष्टता को नष्ट न करते हुए, उसका अन्य धर्मों के साथ समन्वित होने का मार्ग प्रशस्त कर दें। तृतीय यह कि अब तक धर्मों के समन्वय के जितने भी प्रयास हुए हैं, उनमें धर्म-संबंधी सभी दृष्टिकोणों को समाहित कर लेने के संकल्प-चिंतन के बावजूद भी उन्होंने व्यवहारतः सभी धर्मों को कुछ मतवाद विशेषों में जकड़ देने का प्रयास किया। अर्थात् धर्मों की विशिष्टता को खंडित करने की चेष्टा की है जिसके परिणामस्वरूप उनमें परस्पर कलह, संघर्ष और प्रतिद्वंदता करने वाले अनेक संप्रदायों की

28. वही, पृ. 145

29. वही, पृ. 145

30. वही, पृ. 145

31. विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., 145-146

32. वही, पृ. 147

33. वही, पृ. 147

उत्पत्ति हुई।[34] अतः स्वामी विवेकानंद सर्वधर्म समभाव की दिशा में उस समय तक किये गये प्रयत्नों को अपूर्ण एवं विफल मानते हैं। सफल धर्म समभाव के लिये वे अपनी योजना विचारार्थ प्रस्तुत करते हैं, अतः आगे इसी दृष्टि से चर्चा की जा रही है।

सर्वधर्म समभाव के लिये वे प्रथमतः मानते हैं कि-विनाश नहीं अपितु गठन और सृजनात्मक सहयोग करना आवश्यक है।[35] द्वितीयत : जो जिस स्थान पर है उसे उसी स्थान से ऊपर की ओर उठाने (विकास करने) का प्रयत्न करना चाहिये।[36] अन्य शब्दों में धर्म समभाव के लिये उन धर्मों को यथास्थान से ऊपर उठाने के लिये निरहंकार रहकर सुयोग देना और बाधाओं को दूर करना आवश्यक है। तृतीयतः सब प्रकार के मनुष्यों के मन व संस्कार का संपूर्ण सामान्यीकरण असंभव है, अतः मनुष्य के व्यावहारिक प्रयोजनार्थ सर्वधर्म समभाव के अंतर्गत प्रथम प्रकार के कर्मेच्छुक व्यक्ति जो शारीरिक रूप से विपुल शक्ति प्रधान है, उनके लिये योजना स्थिरकर सत्कार्य, उपकार आदि करने का उद्देश्य पूर्ण होना चाहिए। द्वितीय प्रकार के भावुक/भावना-प्रधान व्यक्ति जो सर्वांतःकरण (संपूर्ण अंतःकरण) से उदात्त सौंदर्य से प्रेम करते हैं, सभी महापुरुषों, अवतारों पर विश्वास करते हुए उनकी पूजा करते हैं, उनके लिये उनका व्यक्तित्व एवं उनकी मनोहर मूर्तियां ही सबसे बड़ा आकर्षण है[37] अतः सर्वधर्म समभाव में उनका भी यथेष्ट स्थान होना चाहिये। तृतीय प्रकार के योगमार्गी व्यक्ति होते हैं जो मानसिक शक्तियों के विश्लेषण व उनके परिचालन एवं उनको वशीभूत करने के उपायों के प्रति उत्सुक होते हैं, उनके लिये योगका विधान होना चाहिये[38], जिससे उन्हें मानसिक संतुष्टि मिल सके। चतुर्थ प्रकार के व्यक्ति दार्शनिक अथवा तार्किक स्वभाव वाले होते हैं, जो बौद्धिकता के द्वारा प्रत्येक विषय का परीक्षण करना चाहते हैं और मानवीय दर्शन से जहां तक संभव है, उससे भी परे जाने की इच्छा रखते हैं उनके लिये यथासंभव बौद्धिक सामग्री-युक्ति, तर्क आदि का पर्याप्त समावेश भी होना चाहिये।[39] ताकि सभी उसे (सर्वधर्म समभाव/विश्वधर्म) संतोषप्रद रूप से अपना सके। भौतिकवादी/दार्शनिक/वैज्ञानिक को तर्क व बुद्धि से, भक्त को प्रेम, संगीत, उपासना आदि से, कर्मठ को कर्म से और योगी को मानसिक विकास, योग-साधना से समझाया जा सके।

---

34. वही, पृ. 147,

35. वही, पृ. 148

36. वही, पृ. 149

37. वही, पृ. 149

38. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., 149, 153

39. वही, पृ. 149-150

जहां तक स्वामी विवेकानंद के आदर्श धर्म/धर्म के आदर्श का प्रश्न है, स्पष्ट है कि वे एक ऐसे धर्म की स्थापना व प्रचार चाहते हैं जो सब प्रकार की शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं भावपूर्ण अवस्था वाले व्यक्तियों के लिये उपयोगी हो। यदि सभी व्यक्तियों में ज्ञान, भक्ति, कर्म और योग पूर्ण समभाव से विद्यमान रह सकें तो यही, मानव का सर्वश्रेष्ठ आदर्श होगा।[40] जिन व्यक्तियों व धर्मों में इनमें से (ज्ञान, भक्ति, कर्म व योग) एक या दो भाव प्रस्फुटित हुए हैं, उन्हें वह एक पक्षीय मानते हैं।[41] वस्तुतः जिस धर्म/चिंतन में ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म आदि का समभावपूर्ण विकास लाभ होता है वही उनके धर्म का आदर्श है। यद्यपि इसके कार्यकारी होने के संबंध में वे अज्ञेयात्मक रुख अपनाते हैं।[42] तथापि उनकी मान्यता है कि भारतीय योग-सिद्धांत से इस आदर्श धर्म को प्राप्त किया जा सकता है।[43] सच्चा धर्म सच्ची शिक्षा देता है और सच्ची शिक्षा कभी भी युक्ति व तर्क की विरोधी नहीं होती है।[44] अर्थात् धर्म समभाव के अंतर्गत ज्ञान, भाव, कर्म और योग इन चारों प्रकार की अवस्थाओं का समावेश होता है इसमें कोई विरोध नहीं होता है। सत्य धर्म से ही सत्य ज्ञान उपलब्ध हो सकता है। अतः आदर्श धर्म ऐसा होना चाहिये जो निष्पक्ष भाव से सब धर्मों को स्वीकृति प्रदान करते हुए उन्हें समन्वित कर सके। किसी के प्रति दुर्भाव न रखे वरन् ज्ञान व विवेक से उसे स्वीकार कर सके। पूर्ण धर्म समभाव में सभी का समन्वय अथवा सामंजस्य होता है और भारतीय योग में यह समन्वय उपलब्ध होता है।[45]

भारतीय योग में-ज्ञानयोग-जिसमें ज्ञान-विचार से चिंतन होता है, कर्मयोग[46] जिसमें अनासक्त भाव से कर्म करना माना गया है, भक्तियोग[47]-जिसमें प्रेम, प्रार्थना, भावना, पुष्प, गंध, मूर्ति आदि का अवलंबन समावेशित है और राजयोग[48]-जो अतीन्द्रिय बोध एवं मनःशक्ति को एकीभूत कर अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा मूल तत्व को समझने का यत्न है योग में इन चारों अवस्थाओं का संतुलित समन्वय है।[49] इस कारण

---

40. वही, पृ. 151
41. वही, पृ. 147
42. वही, पृ. 151
43. वही, पृ. 151
44. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं, पृ. 152
45. वही, पृ. 151, 156
46. वही, पृ. 154-155
47. वही, पृ. 155-156
48. वही, पृ. 151, 152-153
49. वही, पृ. 151

स्वामी विवेकानंद भारतीय योग विधि से धर्म समभाव अथवा आदर्श धर्म की उपलब्धि होना मानते हैं।

धर्म समभाव योजना में चतुर्थतः इन विभिन्न योगों को कार्य रूप में परिणत करना ही होगा। केवल सैद्धांतिक कल्पना से कुछ भी न होगा।[50] इसका अर्थ यह है कि स्वामी विवेकानंद धर्म समभाव के संबंध में ज्ञान व विवेक के साथ सैद्धांतिक समन्वय और व्यावहारिक समन्वय दोनों को आवश्यक समझते हैं। अतः सैद्धांतिक रूप से धर्म समभाव होने पर तद्नुरूप व्यावहारिक परिणति भी अनिवार्य है।

धर्म समभाव की इस योजना के सफल कार्यकारी परिणाम हेतु ये 'श्रोतव्यो मंतव्यों निदिध्यासित्वः को मानते है।[51] इसका अर्थ वे यह करते हैं कि सर्वप्रथम उनके (धर्मों के) संबंध में सुनना होगा, द्वितीय रूप में उन श्रुत विषयों पर चिंतन करना होगा। अर्थात् उन सबको अच्छी तरह विचारपूर्वक समझना होगा, जिससे वे हमाने मन में स्पष्ट हो जाए। इसे अच्छी तरह, विचारपूर्वक समझने में राग-द्वेष से परे रहकर सब धर्मों के प्रति आदरभावपूर्वक विवेकपूर्ण निष्पक्षता के विचार को अंतर्निहित माना जा सकता है क्योंकि ज्ञान का अर्थ है विविधता में एकता की उपलब्धि।[52] इस एकता की व्यावहारिक उपलब्धि के लिये उनका ध्यान तब तक करना होगा जब तक कि हमारा समस्त जीवन तद्भावभावित न हो जाए।[53] अर्थात् उस भाव (धर्म समभाव के अंतर्गत विविधता में एकता की अनुभूति) के अनुरूप विचार, व्यवहार में परिणत न हो जाए।

समस्त जीवन के तद्भावभावित होने पर धर्म फिर मात्र कतिपय धारणा, मतवाद न रहेगा और न ही केवल बौद्धिक कल्पना ही रहेगा।[54] अपितु वह हमारा आत्मस्वरूप ही हो जाएगा। इसके उपरांत मूलतः चेतनात्मक स्तर पर व्यक्ति-व्यक्ति में तथा आत्मा परमात्मा में कोई भेद नहीं रहेगा। इसका वे यह अर्थ भी करते हैं कि आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, तद्रूप हो जाना ही यथार्थ धर्म है।[55] इस प्रकार इस रूप में राग-द्वेष से परे होकर समस्त सत्ता के प्रति एकत्व बोध को मानते हैं।

धर्मों की एकता और अनेकता के संबंध में, आत्मा और परमात्मा के संबंध में, स्वामी विवेकानंद की

---

50. वही, पृ. 158
51. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., 158
52. वही, च. ख., पृ. 190
53. वही, तृ. खं., 158
54. वही, पृ. 158, 159
55. वही, पृ. 159

यह दृष्टि समन्वयवादी दृष्टि है। वे धर्म समभाव के दृष्टिकोण से सब धर्मों को तत्वतः एक ही लक्ष्य वाला मानते हैं जबकि दूसरे दृष्टिकोण से उनकी विविधता अथवा अनेकता को भी मानते हैं। यह विविधता उतनी ही आवश्यक है जितनी कि उनकी एकता। उनके अनुसार धर्म समभाव में इन सबका समन्वय हो जाता है। धर्म के अंतर्गत सभी प्रचलित संस्थागत धर्मों को इसलिये आवश्यक माना गया है कि वे एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त भिन्न-भिन्न देश-काल में किये गये भिन्न-भिन्न प्रयास हैं।[56] वस्तुतः धर्म एक ही है सभी पैग़ंबरों की शिक्षा वही होती है किंतु उस तत्व को प्रकाशित करने के लिये देश काल के अनुरूप कोई आकार देना होता है।[57] सहिष्णुता और प्रेम की भावना सभी अच्छे धर्मों की केंद्रीभूत प्रेरणा है और उसको प्राप्त करना ही अभीष्ट लक्ष्य है।[58] संपूर्ण जगत एक ईकाई है और विश्व में एक सत् ओतप्रोत है।[59] इस सत्य को धर्म समभाव में प्रमुखता दी जाती है। इस समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानंद चेतनात्मक आधार पर एकत्व भाव को सर्वोपरि मानते हुए सब धर्मों के प्रति निष्पक्ष विवेकपूर्ण सत्य के आधार पर धर्म समभाव को स्वीकार करते हैं।

स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रस्तुत धर्म समभाव सबधी इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि-धर्म समभाव के विषय में वे अपने गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस के विचारों को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार धर्म, चेतना (परमसत्ता एवं व्यक्ति) के साथ चेतना (व्यक्ति) का संबंध है। अतः व्यक्ति में व्यक्ति के प्रति राग-द्वेष से परे समान भाव एवं चेतनागत एकात्मता का बोध होना चाहिये। सब धर्म इसे स्वीकार करते हैं अतः सब धर्म सत्य हैं। उनमें तत्वतः कोई विरोध नहीं है। वे सब भिन्न-भिन्न देश, काल, भाषा आदि में अभिव्यक्त किये गये एक ही चिरंतन मूल तत्व/मूल धर्म के भाव मात्र है। संपूर्ण धर्म में ज्ञान, भाव/भक्ति, कर्म और योग का समन्वय होता है। विविधता/बहुत्व में एकत्व रहता है। वे विविधता की समाप्ति को अस्वीकार करते हैं।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार पूर्ण धर्म समभाव युक्त आदर्श धर्म के लिये किये गये अब तक के प्रयत्न विफल हुए हैं, कारण कि उन्होंने किसी व्यावहारिक प्रणाली को नहीं अपनाया वे मात्र सैद्धांतिक धर्म समन्वय/धर्म समभाव तक ही सीमित रहे। साथ ही उनमें व्यवहारतः मताग्रह होने से वे अन्य धर्मों की विशिष्टता व सत्यता को सुरक्षा तथा समुचित आदरपूर्ण स्थान प्रदान नहीं कर सके अतः वे सभी

---

56. वही, अष्टम खं., पृ. 293
57. वही, सप्तम खं., पृ. 25
58. वही, दशम खं., 246
59. वही, तृ. खं., पृ. 118

परंपरागत धर्म धर्मसमभावपूर्ण, आदर्श धर्म नहीं माने जा सकते हैं।

स्वामी विवेकानंद के धर्म समभाव की महत्वपूर्ण विशेषता है कि वे इस आदर्श की प्राप्ति के लिये परंपरागत धर्मों के स्थान.पर, युगानुरूप धर्म की स्थापना के लिये रूपरेखा (योजना) प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार विवेचित योजना के आधार पर स्थापित किया जाने वाला धर्म विश्वधर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है। कारण कि इसमें सभी प्रकार की वृत्तियों/मनःस्थितियों वाले व्यक्तियों के अनुरूप चिंतन किया जा सकेगा। उन सबको आदरपूर्ण स्थान उपलब्ध होगा। उनके अनुसार पूर्ण समभाव के लिये आवश्यक है कि अन्य धर्मों को किसी विशेष मतवाद/धर्म के प्रति आग्रही बनाने का प्रयास न कर उनकी सत्यता एवं विशिष्टता को भी सम्मानपूर्वक संरक्षित रखा जाए। इसके लिये उनके साथ विवेक द्वारा सृजनात्मक सहयोग करना चाहिये, उन्हें समुचित विकास/सुधार के लिये अवसर देने चाहिये तथा उत्पन्न बाधाओं को दूर करना चाहिये। विभिन्न प्रकार के मानसिक स्तरों के व्यक्तियों के लिये उस आदर्श धर्म (विश्वधर्म) में ज्ञान, भक्ति, कर्म एवं योग का समन्वय होना चाहिये। इन स्तरों के व्यक्तियों के अनुकूल उसमें तर्क-युक्ति, प्रार्थना-पूजा, सक्रिय कर्म एवं मानसिक विकास को समुचित स्थान दिया जाना चाहिये ताकि सभी प्रकार के व्यक्तित्व (आस्तिक, नास्तिक) संतुष्ट हो सकें। धर्म समभाव की इस आदर्श योजना के क्रियान्वयन हेतु सब धर्मों का ज्ञान प्राप्त कर विवेक द्वारा उन पर चिंतन मनन कर उन्हें समझना तथा उनमें प्रस्तुत मूल सत्य के अनुरूप समभावपूर्ण आचरण/व्यवहार करना आवश्यक है। इस प्रकार के धर्म समभाव के दृष्टिकोण के द्वारा विविधता के साथ समस्त मानव जाति में सामाजिक और धार्मिक एकता के भावों में वृद्धि होगी। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता मिलेगी कि वे अपनी भावना/वृत्ति के अनुकूल धर्म का पालन करें अथवा किसी भी धर्म का चयन कर लें। इसमें अन्य सब धर्मों के प्रति आदरभाव भी बना रहेगा तथा उनके प्रति विद्वेष की भावना समाप्त हो सकेगी। स्वामी विवेकानंद के अनुसार धर्म समभाव की यह योजना भारतीय योगमार्ग के द्वारा संभव/मूर्त्त हो सकती है क्योंकि वह चारों प्रकार की अवस्थाओं के अनुरूप योगमार्ग को स्वीकृति प्रदान करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानंद धर्म समभाव को आधुनिक समय में मानव चेतना के विकास के लिये आवश्यक मानते हैं और उसके लिये एक सैद्धांतिक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं जिसे भविष्य में किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा क्रियान्वित की जा सकेगी जो ज्ञान, भाव व क्रिया इन तोनों पक्षों को अपने में समावेशित करती है। अतः उनके धर्म समभाव संबंधी चिंतन में अध्यात्मवादी एवं भौतिकवादी–दोनों पक्षों को यथेष्ट स्थान दिया गया है। वे इन दोनों की स्वीकृति को आवश्यक भी समझते हैं। अन्य शब्दों में पूर्ण धर्म समभाव की दृष्टि से जो भी धर्म स्वीकार किया जाए उसके प्रति इन दोनों पक्षों के व्यक्तियों द्वारा भी सहमति प्रदान की जा सकती हो/ उन्हें भी संतुष्ट किया सकता हो वही वास्तविक पूर्ण धर्म समभाव युक्त धर्म/विश्व धर्म/आदर्श धर्म है।

6.2 डा. भगवानदास (1869-1958)

भारतीय समकालीन चिंतन में डा. भगवानदास के विचारों पर चर्चा करना संगत होगा क्योंकि उन्होंने सब धर्मों की बुनियादी एकता पर विशेष बल दिया है।

डा. भगवानदास ने दिसंबर 1930 में (काशी) एशिया खंड के प्रचलित धर्मों एवं संप्रदायों के प्रतिनिधियों के सम्मेलन में 'यूनिटी ऑफ एशियाटिक थॉट' पर भाषण प्रस्तुत किया एवं सब धर्मों की बुनियादी एकता पर पुस्तक लिखी।[60] उनका यह अटल विश्वास था कि एक ही सत्य को भिन्न-भिन्न उपदेशकों ने भिन्न-भिन्न शब्दों में धर्म अथवा संप्रदाय के नाम से प्रकट किया।[61] भाषा की भिन्नता एव स्वार्थ के कारण जन साधारण ने इनकी मौलिक एकता को नहीं पहचाना तथा अपने धर्म और संप्रदायों के नाम पर परस्पर संघर्ष किया।[62]

डा. भगवानदास के अनुसार धर्मों में परस्पर जो अंतर दिखाई देता है वह ऊपरी (आकस्मिक) है, बुनियादी (मूल) अंतर नहीं है। जो सब धर्मों में पायी जाती है, वही बुनियादी हैं और उन पर ही सर्वाधिक बल दिया जाना चाहिये।[63] नेक समझ और अमन क़ायम करना ही समस्त मानव समाज का कर्त्तव्य है, धर्म है।[64] डा. भगवानदास मानते हैं कि जो तत्व चिंतन अधिकतम धर्मों में पाया जाता है अर्थात् जो सभी धर्मों में स्पष्टतः विद्यमान हो वही उस धर्म का मूल तत्व है, अतः मनुष्य को चाहिये कि वह धर्मों में से बाह्य अथवा आकस्मिक (ऊपरी) गुणों को हटाकर उस धर्म में अंतर्निहित सार-तत्व की खोज करे।

डा. भगवानदास इस बात पर बल देते हैं कि सब धर्म एक ही अनादि सत्य पर जोर देते हैं तो क्यों देते हैं? यह विचारणीय प्रश्न है। इसके उत्तर में वे स्पष्ट करते हैं कि नवीनता मात्र नश्वर वस्तुओं में होती है (नयापन सिर्फ़ फ़ानी चीज़ों में ही हो सकता है), सत्य अनश्वर है, सदा से है और सदा रहेगा किंतु सत्य-बोध की आकांक्षा ही नये धर्म संस्थापक पैग़म्बर तीर्थंकर व ऋषियों को स्वतंत्र रूप से, नवीन प्रकार से प्रस्तुत करने के लिये प्रेरणा देती रहती है।[65] धर्म में उपलब्ध होने वाली अनश्वर सत्य की एकता को समझने के लिये अन्य धर्मों की आलोचना या उनकी हंसी करने की अपेक्षा उन्हें समझकर उनका

---

60. दास, भगवान, सब धर्मों की बुनियादी एकता, हिन्दी अनु.-पं. सुन्दरदास, प्राक्कथन
61. वही, प्राक्कथन
62. वही, प्राक्कथन
63. वही, 'सब धर्मों की मज़हबी एकता', पृ. 4
64. वही, पृ. 4
65. दास, भगवान, सब धर्मों की बुनियादी एकता, पृ. 8

सम्मान करना, उनकी अच्छाइयां देखना, समन्वय की बातों पर ध्यान देना, सुलह से रहना श्रेयस्कर है।[66] किसी विचार को एक भाषा के द्वारा देखना और समझना एकांतिक दृष्टिकोण है और उसे कई भाषाओं के माध्यम से देखना पूर्णता का दृष्टिकोण है।[67] उन्होंने अनेक धर्मग्रंथों का तुलनापूर्ण अध्ययन किया और उनके आधार पर स्पष्ट किया कि जब मैं अपने आप को मनुष्य कहता हूं तो सब मनुष्यों के साथ अपने को एक कर लेता हूं। जब मैं अपने को हिंदुस्तानी कहता हूं तो मेरा आत्मा, क्षेत्र सीमित में हो जाता है, जब मैं कहता हूं, कि मैं भगवानदास उर्फ़ क़ादिर हूं तो मैं एक व्यक्ति शरीर तक सीमित हो जाता हूं, फिर मैं कहता हूं कि मैं एक प्राणवान हूं तब मेरा आत्मा एकाएक फैलकर समस्त संसार को अपने में समाहित कर लेता है क्योंकि संसार में कोई भी कण (ज़र्रा) बिना प्राण (ज़ान) के रूह या आत्मा के नहीं है।[68] इसका अर्थ है कि डा. भगवानदास के अनुसार सभी में आत्मा है। अहंकार विसर्जन और सत्य का पालन करते हुए सब प्राणियों में एक ही आत्मा है इस बात को समझ लेने से धर्म का पालन होने लगता है।[69] कारण कि धर्म का अथवा सत्य का बोध होने पर सभी प्राणियों के प्रति चेतनागत एकता का भाव उत्पन्न हो जाता है। इस चेतनागत एकता के बोध के आधार पर विवेकपूर्ण या सोच समझकर लोगों के साथ व्यवहार करना चाहिये।[70]

एकमात्र मेरा धर्म ही सत्य एवं सर्वश्रेष्ठ है, मेरे धर्म को मानने वाले धर्मात्मा और मोमिन है तथा दूसरे धर्म को मानने वाले मलेच्छ व क़ाफ़िर हैं उन सबको मिटाना आवश्यक है, यह सोचने वाले इस प्राकृतिक सत्य को भूल जाते हैं कि सबके शरीर एक ही तत्व से बने हुए हैं व सबकी आत्माएं एक ही परम आत्मा (रूहे कुल) से निकली है।[71] स्पष्ट है कि इस चेतनागत एकता को अनुभव न करने एवं अपने धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानने तथा अन्य धर्मों की सत्यता व श्रेष्ठता को न मानना अहंवृत्ति एवं स्वार्थ है। इस वृत्ति के कारण अपनी नस्ल, वर्ण, जाति, लिंग आदि की श्रेष्ठता का भाव उत्पन्न होता है और वह बरबादी का कारण बन जाता है।[72] अतः सब धर्मों के सामान्य तत्व अथवा मूल तत्व को समझकर उनमें एकता स्थापित करनी चाहिये।

---

66. वही, पृ. 8
67. वही, पृ. 58
68. वही, पृ. 94
69. वही, पृ. 233
70. वही, पृ. 233
71. वही, पृ.357
72. वही, पृ. 4, 264-265

मूसा, बुद्ध, ईसा, मोहम्मद आदि ने जिन धार्मिक व नैतिक मूल्यों की शिक्षा दी है उनका पालन करने से परस्पर भेदभाव समाप्त होता है। स्वार्थ और परमार्थ का संघर्ष समाप्त हो जाता है और परस्पर समानता व उदारता का भाव उत्पन्न होता है। धर्म प्रेम हो जाता है और प्रेम धर्म हो जाता है।[73]

डा. भगवानदास ने विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का आश्रय लिया और उसके आधार पर धर्मों के बीच एकता तथा सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। वेदों की संध्या-उपासना, ईसाइयों की दुआ और मुसलमानों की नमाज़ तीनों में उसी एक सर्वशक्तिमान (ईश्वर, खुदा, अल्लाह) से प्रार्थना करते हैं कि हमें श्रेष्ठ ज्ञान दे, प्रकाश और मार्ग दिखा कि हम बुराईयों से बच सकें व अपने कर्त्तव्यों का सही पालन कर सकें।[74] इस प्रकार विश्व के सभी धर्मों में इस प्रकार की प्रार्थनाएं पायी जाती हैं।[75] इनके मतानुसार धर्मों में अनेक साधन-मार्गों का उल्लेख होता है और लोग अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न रीति अपनाते हैं लेकिन उन सबका लक्ष्य एक ही है। सभी का संबंध उस एक ही ईश्वर से है। उसी को विभिन्न भाषाओं में सभी याद करते हैं। सभी मानव आत्माएं उसी से समन्वित हैं। इसलिये विभिन्न धर्मों में अंतर्निहित इस सत्य को समझकर सबके साथ उदारता, समानता एवं प्रेम का व्यवहार करना चाहिये। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि उनके अनुसार सभी धर्मों का सार तत्व समान है और वे सब एक ही उद्देश्य-प्राप्ति के लिये संलग्न है-इस मूल तत्व के आधार पर विभिन्न धर्मों में एकता स्थापित की जानी चाहिये।

डा. भगवानदास सभी में आत्मा होने की बात स्वीकार करते हुए चेतनात्मक आधार पर सबके प्रति धर्म समभाव के अंतर्गत समानता व आदरभाव के विचार को मान्यता देते हैं। सभी धर्मों में एक जैसे सामान्य तत्व के होने की बात करते हुए उसके आधार पर सैद्धांतिक एकता की बात को स्वीकार करते हैं। इस एकता में वे उन्हें विवेकपूर्ण समझकर उनकी अच्छाईयों के समन्वय की बातों का समर्थन तो करते हैं परन्तु विवेक के अन्तर्गत वे धर्मों के आलोचनात्मक पक्ष को देखना आवश्यक नहीं समझते हैं। उनके अनुसार धर्मों की आलोचना-विश्लेषण की अपेक्षा अच्छाईयां देखना ही श्रेष्ठ है। अतः धर्म समभाव के संबंध में उनका चिंतन एक पक्षीय ही माना जाएगा। कारण कि धर्म के अच्छे पक्ष को ही देखना उचित मानते हैं।

डा. भगवानदास के द्वारा धर्मों के बुनियादी सिद्धांतों की एकता के आधार पर धर्म समभाव की धारणा को माना गया है। उनके द्वारा धर्म समभाव के संबंध में युगानुरूप कोई सार्वभौमिक धर्म अथवा

---

73. दास, भगवान, सब धर्मों की बुनियादी एकता पृ. 235

74. वही, पृ. 287

75. वही, पृ. 287

धर्म समभाव की ऐसी कोई क्रियात्मक योजना प्रस्तुत नहीं की गयी है जो सभी प्रकार की वृत्तियों वाले व्यक्तियों को दिशा-निर्देश दे सके। ऐसी स्थिति में उनका चिंतन केवल भाव प्रधान, आस्तिक (ईश्वर व आत्मा को मानने वाले) व्यक्तियों को ही मान्य हो सकता है। अनीश्वरवादी, नास्तिक एवं भौतिकवादियों के लिये नहीं। वे सभी धर्मों के आधार पर जिस मानव एकता की स्थापना के लिये ईश्वर व आत्मा के आधार पर बात करते हैं वह भौतिकवादियों को स्वीकृति नहीं होने के कारण उनका धर्मसमभाव संबंधी चिंतन एकांगी सिद्ध होता है। उनका धर्म समभाव केवल परंपरागत धर्मों की अच्छाईयों के अध्ययन के ही आधार पर स्थापित होने से सभी प्रकार की अवस्था वाले-आधुनिक, प्रगतिशील मानवीय दृष्टिकोण के लिये पूर्ण संतोषप्रद नहीं है। उनका चिंतन केवल आत्मवादी-आध्यात्मिक वृत्ति वाले व्यक्तियों को ही मान्य हो सकने वाला है तर्क, बुद्धि प्रधान व्यक्तियों को नहीं।

6.3 महात्मा गांधी (मोहनदास कर्मचंद गांधी-1869-1948)

भारतीय समकालीन चिंतन में महात्मा गांधी व्यावहारिक आदर्शवादी[76] नीति के प्रबल समर्थक एवं समाज उद्धारक चिंतक के रूप में माने जाते हैं। उनके द्वारा स्वीकार किये गये एकादश व्रतों (सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, सर्वधर्म-समभाव, कायिक श्रम, अस्पृश्यता निवारण और स्वदेशी) में सर्वधर्म समभाव को महत्वपूर्ण व्रत के रूप में माना गया है।[77] अतः यहां उनके सर्वधर्म समभाव/धर्म समभाव संबंधी विचारों की चर्चा करना आवश्यक है।

महात्मा गांधी के द्वारा पहले सहिष्णुता के नाम से स्वीकार किये गये व्रत को ही बाद में सर्वधर्म-समभाव नाम दिया गया है।[78] उन्हें एवं काका कालेलकर को सहिष्णुता शब्द पसंद न होने से तथा महात्मा गांधी को 'सर्वधर्म आदर' शब्द भी उचित न लगने के कारण-इन दोनों शब्दों के स्थान पर सर्वधर्म-समभाव नाम रखा गया।[79]

यहां सहज ही यह प्रश्न उठ सकता है कि महात्मा गांधी सर्वधर्म सहिष्णुता एवं सर्वधर्म आदर के स्थान पर सर्वधर्म-समभाव को क्यों उचित और पर्याप्त मानते हैं, और सर्वधर्म समभाव से उनका क्या

---

76. Diwakar, R.R., Gandhi; A Practical Philosophy, P. 23

77. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ. 38

78. वही, पृ. 38

79. वही, पृ. 38

आशय है? इसका उत्तर उनका यह स्पष्टीकरण माना जा सकता है कि सहिष्णुता में दूसरे धर्मों को सहने की भावना होती है और आदर में कृपा का भाव आता है। अतः ये दोनों शब्द अहिंसा की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है।[80] उनके अनुसार अहिंसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है। दूसरों के प्रति समभाव रखने के मूल में अपने धर्म को अपूर्ण स्वीकार करने का भाव भी आ ही जाता है।[81] अपने धर्म को पूर्ण मानने का अहंकार नहीं रहता है और उसे भी अन्य धर्मों की भांति अपूर्ण माना जाता है। पूर्व पृष्ठों में हमने देखा कि महात्मा गांधी सब धर्मों के प्रति समान आदरभाव को स्वीकार करते हैं क्योंकि वे मूलतः एक हैं।[82] स्पष्ट है कि महात्मा गांधी सर्वधर्म समभाव का आशय सब धर्मों के प्रति समान आदर भाव रखना मानते हैं और इसके द्वारा सब धर्मों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है, ऐसा विश्वास करते हैं।

अब प्रश्न है कि सर्वधर्म समभाव क्यों होना चाहिये? इसके लिये उनका मानना है कि सभी धर्म अपूर्ण हैं अतः किसी एक द्वारा पूर्ण सत्य होने का आग्रह करना उचित नहीं है। इस संदर्भ में वे कहते हैं कि संपूर्ण सत्य का ज्ञान यदि हमें (मनुष्यों को) हो गया होता तो फिर सत्य के आग्रह की बात ही क्यों थी? तब तो हम परमेश्वर ही हो गये होते; क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर हैं। हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिये उनका आग्रह करते हैं।'[83] इसे अन्य शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि मनुष्य को संपूर्ण सत्य का ज्ञान नहीं है। यदि उसे संपूर्ण सत्य का ज्ञान होता तो फिर वह ईश्वर ही हो जाता। चूंकि मनुष्य को संपूर्ण सत्य का ज्ञान नहीं है, वे उसे नहीं पहचानते हैं, इसलिये वे अपने अपूर्ण ज्ञान के भी पूर्ण सत्य होने का आग्रह करते हैं। उनके अनुसार इसमें मानव की अपूर्णता की स्वीकृति भी आ गयी है। वे मानते हैं कि यदि हम (मनुष्य) अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा (मनुष्यों द्वारा) कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतंत्र धर्म संपूर्ण है।[84] 'हमने उसे देखा नहीं, वैसे ही जैसे ईश्वर को नहीं देखा है।'[85] आगे कहते हैं कि 'सभी धर्म ईश्वर दत्त हैं, पर मनुष्य कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है।'[86] उनका विश्वास था कि मानव द्वारा माने हुए धर्म अपूर्ण हैं और उनमें सदैव परिवर्तन होते रहते हैं और होते रहेंगे यह मानने से ईश्वर और सत्य की ओर

---

80. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ. 38

81. वही, पृ. 38

82. Gandhi M.K., Young India, Dece, 6, 1928, Harijan, Nov., 28, 1936; Sept., 28, 1935

83. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ. 38

84. वही, पृ. 38-39

85. वही, पृ. 39

86. वही, पृ. 39

उत्तरोत्तर प्रगति कर सकते हैं।[87]

महात्मा गांधी के इन विचारों का अर्थ है कि केवल वही धर्म संपूर्ण है जो मानव कल्पित, मानव निर्मित या मानव प्रचारित नहीं है। इस दृष्टि से एकमात्र ईश्वरीय धर्म जो मूल धर्म है वही पूर्ण सत्य है। हमने उसे देखा नहीं का अर्थ है कि अब तक हम लोगों ने धर्म और ईश्वर की पूर्णता को अनुभव नहीं किया है। वे ईश्वर शब्द का प्रयोग सत्य के लिये भी करते हैं। अतः इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि हम लोगों ने धर्म और सत्य को पूर्णता में अनुभव नहीं किया है।

सभी धर्म ईश्वर प्रदत्त हैं परंतु मनुष्य उसे अपनी भाषा में अपने अर्थ से प्रकट करता है अतः प्रश्न है कि किसके अर्थ को सत्य माना जाए? सभी अपनी-अपनी दृष्टि से जब तक वह दृष्टि बनी रहती है तब तक वे सत्य हैं। परंतु उनका झूठ (असत्य) होना भी असंभव नहीं है। इसलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिये। वे तर्क देते हैं कि सभी धर्म ईश्वर प्रदत्त होते हुए भी मानव भाषा द्वारा अभिव्यक्त किये जाने के कारण अपूर्ण हैं और यदि मानव निर्मित या अभिव्यक्त सभी धर्म अपूर्ण है तो फिर तुलनात्मक रूप से किसी एक धर्म को सत्य कहने या उसके गुणी होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। वे सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य हैं। इसके अतिरिक्त सभी धर्म सत्य अथवा ईश्वर की अभिव्यक्तियां हैं परंतु अपूर्ण होने के कारण उनके असत्य होने की संभावना है। अतः सभी धर्मों के प्रति समभाव रखने से अपने धर्म के प्रति उदासीनता उत्पन्न नहीं होती है बल्कि स्वधर्मविषयक प्रेम अंधा प्रेम न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक निर्मल और सात्विक बनता है।[89] धर्म-ज्ञान होने पर भेद या अंतर समाप्त हो जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है।[90] इस प्रकार समभाव से हम स्वधर्म अर्थात अपने धर्म को और अधिक पहचान सकते हैं। अतः सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं। दिव्य दर्शन हो सकता है।

धर्म समभाव के अंतर्गत वे मानते हैं कि जब मानव निर्मित अथवा मानव कल्पित सब धर्म अपूर्ण मान लेते हैं तो फिर किसी भी धर्म को ऊँच-नीच के रूप में मानने की बात नहीं रहती है।[91] सभी धर्म महत्वपूर्ण हैं, परंतु सभी धर्म अपूर्ण होने के कारण दोष-पात्र भी हैं।[92] धर्म में दोषों को स्वीकार करते हुए भी वे

---

87. वही, पृ. 39

88. वही. पृ. 39-40

89. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ. 40

90. वही, पृ. 40

91. वही, पृ. 39

92. वही, पृ. 39

विश्लेषण को महत्व नहीं देते हैं। उनके अनुसार समभाव होने पर उनमें और अपने धर्म में भी दोष देख सकते हैं। उन दोषों के कारण धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये वरन् उन्हें (दोष को) दूर करना चाहिये।[93] महात्मा गांधी के अनुसार इस प्रकार के समभाव रखने से अन्य धर्मों के ग्रहण योग्य अश को अपने धर्म में लेने का संकोच न होगा।[94] अर्थात् समभाव रखने से अन्य धर्मों के गुणों को अपने धर्म में मिलाना भी धर्म हो जाएगा।[95] इस प्रकार सर्वधर्म समभाव के अंतर्गत महात्मा गांधी दूसरे धर्मों के अच्छे गुणों को अपने धर्म में मिलाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य मानते हैं।[96] इससे धर्मों को स्वीकार कर उसमें से दोषों को दूर करने का भाव रहता है। जिस प्रकार दूसरे धर्म अपूर्ण हैं वैसे ही मेरा धर्म भी अपूर्ण है अतः उसके दोषपूर्ण मानने का भाव भी रहता है।

सर्वधर्म समभाव से धर्म-अधर्म का भेद समाप्त नहीं होता। यहां तो उन धर्मों की बात है जिन्हें हम निर्धारित धर्म के रूप में जानते हैं।[97] इस कथन से महात्मा गांधी का तात्पर्य है कि सभी धर्मों के प्रति समभाव रखने का अर्थ यह नहीं है कि धर्म-अधर्म (गुण-दोष) का अंतर समाप्त हो जाता है। वह अंतर तो रहता है। परंतु जिन्हें मनुष्य समाज में धर्म के रूप में माना जाता है (हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, यहूदी, इस्लाम आदि) उनके समादर में भेद नहीं रहता है। कारण कि इन सभी धर्मों के मूल सिद्धांत एक ही हैं। इन सभी धर्मों में संत स्त्री-पुरुष हुए हैं और इनमें कई संत स्त्री-पुरुष आज भी हैं।[98] इसलिये धर्मों के प्रति समभाव में और धर्मियों–मनुष्य के प्रति जिस समभाव की बात है, उसमें कुछ अंतर है। मनुष्य मात्र में जो दुष्ट और श्रेष्ठ हैं उन्हें धर्मी और अधर्मी कहते हुए उनके प्रति समभाव की अपेक्षा को माना गया है परन्तु धर्म में जो दोष अथवा अधर्म है उसके प्रति महात्मा गांधी को समभाव रखना स्वीकार्य नहीं है।[99] उनके अनुसार धर्माधर्म का (गुण-दोष) निर्णय करने में समभाव की शृंखला टूटती नहीं है। वास्तविक अहिंसा भाव के होने पर हम वैरभाव से बच जाते है; क्योंकि अधर्म (दोष) देखते हुए भी उस अधर्म आचरण करने वाले के प्रति तो प्रेमभाव ही होगा।[100] इससे या तो वह हमारी दृष्टि (अहिंसा की दृष्टि) स्वीकार कर लेगा या हमारी त्रुटि हमें दिखायेगा या फिर दोनों एक-दूसरे के मतभेदों को सहन करेंगे। अंत में

---

93. वही, पृ. 39
94. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ. 39
95. वही, पृ. 39
96. Narayan, Shriman, (Edi.), the Selected Works of Mahatama Gandhi, Vol. IV, P. 240
97. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ. 40
98. वही, पृ. 40
99. वही, पृ. 40
100. वही, पृ. 43

जब विपक्षी अहिंसक न हुआ तो वह कठोरता से कार्य (व्यवहार) लेगा तब भी हमारे अहिंसक होने से हमारी मृदुता उसकी कठोरता को अवश्य दूर कर देगी।[101] हमें दूसरों की भूल के लिये भी पीड़ा न पहुंचाकर स्वयं ही कष्ट सहन करना है। इस स्वर्ण सिद्धांत का पालन करने वाला सभी संकटों में से बच जाता है।[102] उनके अनुसार धार्मिक क्षेत्र में अहिंसा की भावना सर्वधर्म समभाव में ही आकर साकार हो सकती है।

महात्मा गांधी का विश्वास है कि समभाव का अभ्यास करने से अनेक गुत्थियां अपने-आप सुलझ जाती हैं और जहां दोष ही दिखाई दे, वहां उन्हें दरसाने में नम्रता और विवेक होने के कारण किसी को दुःख नहीं होता।[103] वे अपने धर्म समभाव के अनुभव के विषय में कहते हैं कि मैंने ईसा इस्लाम, जरथुस्त, यहूदी और हिन्दू धर्म पुस्तकों का परिचय (अध्ययन) अपने संतोष भर के लिये कर लिया था। इस अध्ययन के समय सभी धर्मों के प्रति मेरे मन में समभाव था। मुझे याद नहीं आता कि उन धर्मों के संबंध में टीका-टिप्पणी करने की इच्छा तक हुई हो।[104] उनके ग्रंथों को धर्मग्रंथ मानकर आदरपूर्वक पढ़ा और सबमें मूल नैतिक सिद्धांत एक जैसे ही पाता था।[105] यहां ऐसा प्रश्न हो सकता है कि यदि सभी धर्मों के मूल सिद्धांत एक ही है और नैतिक सिद्धांत भी एक जैसे ही हैं तो फिर भिन्न-भिन्न धर्मों की क्या आवश्यकता है, उन्हें मिलाकर एक क्यों नहीं कर देते हैं? महात्मा गांधी इस संबंध में स्पष्ट करते हैं कि धर्म अनेक हैं – यह वैसे ही है जैसे आत्मा एक है पर मनुष्य देह अगणित हैं। देह की असंख्यता टाले नहीं टल सकती, तथापि आत्मा की एकता को हम पहचान सकते हैं। धर्म का मूल एक है जैसे वृक्ष का; पर उसके पत्ते असंख्य हैं।[106] वे भिन्न-भिन्न धर्मों को एक ही वाटिका के भिन्न-भिन्न पुष्पों के रूप में मानते हैं।[107] वस्तुतः महात्मा गांधी सब धर्मों को मिलाकर एक धर्म बनाना पसंद नहीं करते हैं और न ही धर्मों की तुलना करना या उनके दोष निकालकर आलोचना करना स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार समर्पित भाव से उनके गुणों की प्रशंसा करनी चाहिये।[108]

---

101. वही, पृ. 43-44
102. वही, पृ. 44
103. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ. 44
104. वही, पृ. 43
105. वही, पृ. 42-43
106. वही, पृ. 40; Harijan, January 26, 1934
107. Gandhi, M.K., Hindu Dharma, P. 261
108. Ibid, Fellowship of Faith and Unity of Religions (Edi.), P. 9, 13-14

महात्मा गांधी मानते हैं कि धर्म व्यक्तिगत चीज है।[109] परंतु वह व्यक्ति धर्म समभाव के द्वारा दूसरे धर्मों के शुभ तत्वों को ग्रहण कर सकता है। परंतु यह सोचना कि सभी व्यक्ति एक ही धर्म को माने यह गलत है। वे धर्म-परिवर्तन की आलोचना करते हैं।[110] उनकी दृष्टि से किसी भी धर्म में कितनी ही बुराईयां क्यों न हों उसे अस्वीकार कर धर्म-बदलना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।[111] उनके अनुसार स्वधर्म में चाहे जैसा हो (बुराइयां होने पर भी) उसका (स्वधर्म) त्याग नहीं करना चाहिये। व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करना चाहिये। इसका यह अर्थ है कि एक हिन्दू को हिन्दू धर्म का पालन करना चाहिये। एक मुसलमान को मुस्लिम धर्म का और एक ईसाई को जीसस धर्म (ईसाई धर्म) का पालन करना चाहिए।[112] महात्मा गांधी अपने आपको सनातनी हिन्दू कहते हैं क्योंकि उन्हें वेद, उपनिषद्, पुराण, अवतार, पुनर्जन्म, वर्णाश्रम धर्म, गौरक्षा, मूर्तिपूजा आदि में विश्वास है।[113] हिन्दू धर्म को महात्मा गांधी अपनी पत्नी के समान निष्ठा का विषय मानते हैं।[114] वे हिन्दू धर्म को संप्रदाय के रूप में नहीं मानते हैं वरन् उसका व्यापक अर्थ करते हैं।

गांधी हिन्दू धर्म का अर्थ उस धर्म से लेते हैं जो अहिंसक साधन के द्वारा सत्य की खोज करता है।[115] हिन्दू धर्म के अनुसार संसार के सभी प्राणियों की उत्पत्ति एक ही सार्वभौमिक सत्ता से होती है जिसे हिन्दू धर्म में ईश्वर, इस्लाम में अल्लाह और ईसाई में परमेश्वर कह सकते हैं।[116] यह धर्म विश्व के सभी मानवों से ही भ्रातृभाव की नहीं वरन् सभी जीवों से प्रेम करने की शिक्षा देता है।[117] इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने विश्वासों के अनुसार ईश्वर-पूजा कर सकता है और दूसरे धर्मों के साथ शांतिपूर्वक रह सकता है।[118] महात्मा गांधी के अनुसार सहिष्णुता इसका सार है। यह बहिष्कारक नहीं

---

109. Gandhi, M.K., Hindu Dharma, P. 260

110. Ibid, P, 261

111. Ibid, P. 260

112. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ. 49; Harijan, March 13, 1937

113. Gandhi, M.K., Young India, Oct. 6, 1921; Hindu Dharma, P. 7

114. Ibid, Hindu Dharma, P. 260; Young India, Oct., 6, 1921, Harijan, August 12, 1933

115. Ibid, P. 4 Harijan, April 30, 1938

116. Ibid, P. 39; Harijan, May 14, 1938

117. Ibid, P. 38

118. Ibid, P. 38

25—259 Min. of H.R.D./2005

वरन् समन्वयात्मक है।[119] यह अपने में ईसाई, यहूदी, पारसी सभी को आदरपूर्वक स्थान दे सकता है। अर्थात् एक सच्चा हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम, यहूदी और पारसी सभी को समान रूप से श्रद्धा-आदर देने में हिन्दूत्व का कोई विरोध नहीं पाता है।[120] स्पष्ट है कि महात्मा गांधी हिन्दू धर्म को मानवता का धर्म मानते हैं एवं सभी धर्मों से उत्कृष्ट बातें जिन्हें वे जानते हैं, इसमें अंतर्निहित मानते है।[121] हिन्दू धर्म का पालन स्वधर्म है, वह संकुचित नहीं है और न ही इसमें किसी से द्वेष है।[122]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि महात्मा गांधी हिन्दू धर्म का समर्थन अन्य धर्मों से उत्कृष्ट और उदार होने के कारण करते हैं। इसका अन्य धर्मों से कोई द्वेष या विरोध नहीं है। हिन्दू धर्म समन्वयकारी धर्म है। अतः यह मानवता का धर्म है और अन्य धर्मों के साथ समान रूप से आदरभाव रख सकता है। इसमें अन्य धर्मो की अपेक्षा श्रेष्ठ बातें समाहित हे।

वे हिन्दू धर्म में वर्णाश्रम धर्म को अनवरत रूप से सत्य की खोज का भव्य परिणाम मानते हैं।[123] परंतु वर्तमान समय में स्वीकृत अर्थ में जो वर्णाश्रम-धर्म अथवा जातीयता है उसमें विश्वास नहीं करते हैं अपितु वैदिक अर्थ में करते हैं।[124] वे मानते हैं कि यद्यपि वर्ण का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है, फिर भी अंतिम रूप से इसका निर्धारक कर्म ही है।[125] यह नीति सम्मत जीविकोपार्जन का सूचक है जिसे व्यक्ति कर्त्तव्य भावना से किसी परिवार विशेष में जन्म लेने के कारण विशिष्ट गुणों के रूप में पूर्वजों से ग्रहण करता है। यद्यपि शूद्र के लिये भी वे वैश्य कर्म करना संभव मानते हैं परंतु उसे वैश्य का लेबल लगाने की आवश्यकता नहीं है, यह भी मानते हैं।[126] महात्मा गांधी के अनुसार वर्णव्यवस्था मानव निर्मित संस्था नहीं है वरन् मानव जीवन के शाश्वत नियमों द्वारा संचालित संस्था है। अतः इसकी सार्थकता न केवल हिन्दू समाज के लिये है वरन् विश्व समाज के लिये भी है।[127] इससे यह स्पष्ट होता है कि

---

119. 'Hinduism is nothing if it is not tolerant and generous to every other faith'. - Gandhi, M.K., Hindu Dharma, P. 35

120. Ibid, P. 257

121. गाँधी, मो. क., संक्षिप्त आत्मकथा; पृ. 51; Radhakrishanan and Murehead Contemparary Indian Philosophy, P. 2

122. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ 49, 32

123. Gandhi, M.K., Hindu Dharma, P. 6

124. 'I believe in the varanashram Dharam in a sense, in my opinion strictly vedic but not in its present popular and crude sense'. -Ibid, P. 7

125. Young India, April 23, 1925, P. 145

126. Ibid, P. 145; Sept, 29, 1927

127. Narayan, Shriman, (Edi.), The Selected Works of Mahatama Gandhi, Vol. VI, P. 476

महात्मा गांधी वर्ण-धर्म को सार्थक, शाश्वत और सार्वभौमिक धर्म मानते हैं। परंतु वर्तमान समय में जो वर्णाश्रम धर्म का रूप है, वह वैदिक मूल वर्णाश्रम धर्म से कोसों दूर है, मखौल है।[128] महात्मा गांधी वर्णाश्रम धर्म के आधार पर इस अस्पृश्यता एवं जातिगत भेद-भाव का अर्थ नहीं करते हैं।

उनके अनुसार सभी वर्णों में आपस में ऊँच-नीच का भेदभाव न मानकर समानता का भाव माना जाता है। शूद्रों के प्रति दंड विधान में जो क्रूरता अपनायी गयी है[129] और वेद पढ़ने से वंचित किया गया है[130], उसके गांधी सख्त विरोधी हैं। उनके अनुसार जो शूद्र अपना धर्म समझकर सेवा-कार्य करता है वह हजारों में वंदनीय है और सर्वोपरि है।[131] वे सभी धर्मों में धर्म समन्वय के द्वारा व्यवहार में अस्पृश्यता अथवा छूआछूत जैसी सामाजिक बुराई का विरोध करते हैं और उसका निवारण करना आवश्यक समझते हैं। अस्पृश्यता धर्म को कलुषित करती है। यदि सभी का आत्मा एक है, सबका ईश्वर एक ही है और हम सभी एक ही ईश्वर की संतान है तो फिर उस ईश्वर की संतान में छूआछूत करना किस प्रकार उचित हो सकता है? ईश्वर जो सत्यप्रिय एवं न्यायी है वह किस प्रकार अपनी संतान में भेद कर सकता है? ईश्वर अपनी संतान में कोई अंतर नहीं करता है।[132] महात्मा गांधी समस्त मनुष्यों को एक ही ईश्वर की संतान मानते हैं।[133] वे सब मनुष्यों की मूलभूत एकता और समानता में विश्वास करते हैं।[134] अर्थात् मूल चेतना के आधार पर सभी मनुष्यों के प्रति समान आदर व्यवहार को महत्व देते हैं। धर्म, जाति, संप्रदाय आदि के आधार पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिये और सभी की अच्छाइयों को ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार राग-द्वेष से परे व्यवहार ही उनके अनुसार सर्वधर्म समभाव है।

इस सर्वधर्म समभाव का व्यावहारिक रूप उनके आश्रम में होने वाली प्रार्थना-सभा को माना जाता है जिसमें हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी आदि विभिन्न धर्मानुयायी सम्मिलित होते थे। उसमें 'वैष्णव जन' नामक भजन को विभिन्न धर्मों से संबद्ध कर गाया जाता था।[135] वे वेद, गीता, बाइबिल, कुरान, जेंद

---

128. गाँधी, मो.क., धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ. 49, 52

129. मनु., 1/93

130. वही, 8/270, 271, 279, 282, 359, 379

131. मशरूवाला, कि. घ., गाँधी विचार दोहन, पृ. 38

132. Gandhi, Harijan, Nove. 17, 1933; Feb, 2, 1934

133. Ibid, April, 18, 1936

134. Ibid, Feb. 16, 1934

135. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ. 42

अवेस्ता आदि में अपने धर्म के समान विश्वास करने की बात कहते हैं और उनके प्रति समान आदर होना मानते हैं।[136] उनका कहना था कि यद्यपि मैं हिन्दू धर्म का अनुयायी हूं परंतु मुझ पर ईसाई और इस्लाम धर्म की शिक्षा का भी प्रभाव है।[137]

सर्वधर्म समभाव के विषय में प्रस्तुत महात्मा गांधी के इस चिंतन से यह स्पष्ट होता है कि सहिष्णुता शब्द के स्थान पर प्रयुक्त किया गया सर्वधर्म समभाव शब्द उनके व्रतों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वे सर्वधर्म समभाव के अंतर्गत सारतः मानते हैं कि सभी धर्म मूलतः एक हैं, सत्य हैं एवं समान हैं क्योंकि वे ईश्वरदत्त हैं परंतु मानवनिर्मित होने से वे अनेक हैं।

मानवनिर्मित सभी धर्म पूर्ण सत्य ज्ञान के अभाव में अपूर्ण हैं अतः उनके पूर्ण सत्य होने का आग्रह करना उचित नहीं है। पूर्ण सत्य एकमात्र ईश्वरीय धर्म है जिसे मूल धर्म भी कहा जा सकता है। यह मूल धर्म अगम्य और अनिर्वचनीय है। मानवनिर्मित अथवा मानव कल्पित सभी धर्म अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य हैं। वे उनके असत्य होने की संभावना को स्वीकार करते हैं पर उनकी तुलना कर किसी भी धर्म को सत्य अथवा गुणी कहने का कोई औचित्य नहीं मानते हैं। महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तुत सर्वधर्म समभाव संबंधी विचारों का उल्लेख करने के पश्चात् समीक्षात्मक रूप से चिंतन प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। अतः यहां इस संबंध में चर्चा की जा रही है।

कुछ विद्वानों ने महात्मा गांधी के द्वारा संज्ञिप्त सर्वधर्म समभाव को 'सर्वधर्म समादर' या 'सर्वधर्म सम्मान' कहा है।[138] कारण कि वे धर्मों की सत्यता के संबंध में केवल संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हैं। विश्लेषणात्मक अथवा तुलनात्मक दृष्टिकोण को उनके द्वारा स्वीकार ही नहीं किया गया है। जबकि पूर्ण सत्य ज्ञान में संश्लेषण और विश्लेषण-दोनों की अनिवार्यता होती है।[139] धर्मों में श्रद्धा के साथ-साथ मेधा (विवेक, वितर्क, संश्लेषण) के आधार पर शुचितापूर्ण समन्वय होना चाहिये।[140] समन्वय अथवा धर्म समभाव का अभिप्राय तर्कसंगत विवेकपूर्ण एकता माना जाना चाहिये। महात्मा गांधी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। द्वितीय सोपान (अध्याय) में हम इस संदर्भ में पयाप्त चर्चा कर चुके हैं अतः पुनरावृत्ति से बचते हुए यह कहना पर्याप्त होगा कि महात्मा गांधी केवल गुणों के आधार पर समन्वय को

---

136. Gandhi, Young India, Oct. 6, 1921; Jan. 29, 1927; Harijan, Dec. 19, 1936

137. Gandhi, Speeches and Writings, Feb., 14, 1916; Harijan, Oct., 28, 1939

138. सत्यभक्त, सुलझी हुई गुत्थियाँ, वर्धा (1941), पृ. 31, 20; सिंह, दशरथ, गाँधीवाद को विनोबा की देन, पृ. 275

139. सिंह, दशरथ, गाँधीवाद को विनोबा की देन, पृ. 108

140. वही, पृ. 76-81, 86-91, 108

स्वीकार करते हैं। धर्मों की समीक्षा, समालोचना, तुलना, विश्लेषण आदि उन्हें स्वीकार्य नहीं है। इसलिये उनके विचार को सर्वधर्म समभाव के अंतर्गत सर्वधर्म समादर का विचार कहना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

सर्वधर्म सहिष्णुता, सर्वधर्म समादर या सर्वधर्म सन्मान और सर्वधर्म समभाव ये तीनों साधारणतः एक जैसे मालूम होते हैं परंतु इन तीनों में पर्याप्त अंतर है। स्वामी सत्यभक्त के अनुसार सर्वधर्म सहिष्णुता में अन्य धर्मों को अपनी और दूसरों की शांति बनाये रखने के लिये सहन कर लेना पड़ता है।[141] इसमें द्वेष नष्ट नहीं होता है केवल अवसर देखकर दूसरों को खराब समझते हुए भी निभाया जाता है। यह निम्न श्रेणी का भाव है।[142] महात्मा गांधी सर्वधर्म समन्वय के लिये इसे पर्याप्त नहीं समझते हैं यह उचित है।

सर्वधर्म समादर या सर्वधर्म सन्मान में किसी धर्म से द्वेष या घृणा नहीं होती है उसके प्रति सच्चा आदर रहता है।[143] इसमें 'यह विचार रहता है कि जैसा हमारा धर्म हमारे लिये अच्छा है उसी प्रकार दूसरे का धर्म दूसरे के लिये अच्छा है। सबको अपने-अपने धर्म का ही पालन करना चाहिये और दूसरे धर्मों की इज्जत करनी चाहिये। इसमें किसी के धर्म को अपनाया नहीं जाता है।[144] सर्वधर्म समादर या सन्मान रखने वाला अपने देव व अपने शास्त्र का प्रतिदिन उपयोग करेगा परंतु दूसरे धर्म के देव या शास्त्र का नहीं।[145] कभी-कभी कोई दूसरे धर्म, देव या शास्त्र का नाम या उपयोग करे तो वह उसके लिये आतिथ्य सम (मेहमान के समान सन्मान का विषय) होगा, आदरणीय होगा। और अपने ही समान अन्य को भी इस प्रकार के व्यवहार, उपयोग की स्वतंत्रता देगा।[146] अर्थात् जैसे मैं अपने देव, शास्त्र धर्म आदि का उपयोग करता हूँ उसी प्रकार दूसरों को भी अपने शास्त्र, धर्म आदि का उपयोग करना चाहिये। वह उनकी आलोचना नहीं करेगा वरन् सन्मान करेगा। यह सर्वधर्म-समादर का भाव सर्वधर्म सहिष्णुता की अपेक्षा अधिक अच्छा है, ऊँचा भाव है। महात्मा गांधी इसका ही समर्थन करते हैं।

'पूर्ण सर्वधर्म समभाव में अन्य धर्मों के प्रति परायेपन का भाव नहीं रहता है। वह सबको अपना ही

---

141. स्वामी सत्यभक्त, सुलझी हुई गुत्थियाँ, पृ. 18

142. वही, पृ. 18-19

143. वही, पृ. 19

144. वही, पृ. 19

145. वही, सुलझी हुई गुत्थियाँ, पृ. 20

146. वही, पृ. 20

समझता है और योग्यता के अनुसार विवेकपूर्वक सबका उपयोग करता है।'[147] पूर्ण सर्वधर्म समभावी न हिन्दू होता है न मुसलमान या ईसाई। वह तो मानव होता है और एकमात्र मूल धर्म से संबद्ध मानवता धर्म को स्वीकार करता है या फिर सभी को समान रूप से अपने जीवन में स्थान देता है–वह हिन्दू होने के साथ मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि भी होता है (सभी धर्मों की श्रेष्ठताओं का पालन करता है)। सब धर्मों के महापुरुषों के साथ एक जैसी आत्मीयता रखी जाती है।[148] किसी एक धर्म या महापुरुष को सर्वाधिक महत्ता नहीं दी जाती है। अर्थात् उनके प्रति आदर में मन, वचन और कर्म से थोड़ा सा भी भेद नहीं करता है।

महात्मा गांधी के उपलब्ध ग्रंथों की सामग्री के आधार पर विचारों व व्यवहार का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि उनके जीवन, व्यवहार व शिक्षा में हिन्दू धर्म का सर्वाधिक प्रभाव लक्षित होता है। वे मूलतः अपने को सनातनी हिन्दू मानते हैं। हिन्दू धर्म के परंपरागत विश्वासों यथा-वेद, उपनिषद्, पुराण, अवतार, पुनर्जन्म, वर्णाश्रम धर्म, गौरक्षा, मूर्तिपूजा आदि में विश्वास रखते हैं। उन्होंने हिन्दू धर्म को पत्नी के समान निष्ठा रखने का विषय मानकर उसके संबंध में, विशेषतः प्रगतिशील रूप में चिंतन करने के द्वार बंद कर दिये हैं। हिन्दू धर्म के प्रति यह एक प्रकार की भावुकता और आसक्ति ही है। इससे उनका परपरावादी दृष्टिकोण अपनाना ही स्पष्ट होता है।[149] विवेक के अंतर्गत तुलनात्मक व विश्लेषणात्मक चिंतन को उचित स्थान नहीं दिया है। उन्होंने गीता व रामचरित मानस (तुलसीकृत रामायण) के समक्ष हिन्दू धर्म के सभी दोषों व संकुचितताओं को नगण्य (कुछ नहीं) माना है।[150] वे हिन्दू धर्म को रूढ़िवादी धर्म के रूप में न मानते हुए उसकी उदारवादी व्याख्या प्रस्तुत कर सभी धर्मों में परस्पर समन्वय करना चाहते हैं। महात्मा गांधी द्वारा यह स्वीकार करना कि हिन्दू धर्म अपने में सभी धर्मों को आदरपूर्वक स्थान दे सकता हैं, उसका सभी धर्मों को समान रूप से श्रद्धा-आदर देने में कोई विरोध नहीं है, सभी धर्मों से अधिक उत्कृष्ट बातें इसमें हैं, जैसे कथनों के द्वारा हिन्दू धर्म को अन्य धर्मों से श्रेष्ठ एवं अप्रत्यक्षतः सार्वभौमिक धर्म मानने की वृत्ति को स्पष्ट करता है।

यद्यपि गांधी सार्वभौमिक प्रेम की बात कहते हैं परंतु उनके इस सार्वभौमिक प्रेम में हिन्दू धर्म या स्वदेशी का प्रभाव ही विशेष है। स्वधर्म का पालन करना स्वदेशी का पालन करना मानते हैं। हिन्दू धर्म के चातुर्वण्य् वर्णाश्रम धर्म को स्वदेशी, शाश्वत और सार्वभौमिक मानते हैं। अर्थ की दृष्टि से उनके विचारों

---

147. वही, पृ. 21

148. वही, पृ. 26; तुलना-विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 151; सप्तम खं., पृ. 257-259, 267

149. सिंह, दशरथ, गाँधीवाद को विनोबा की देन, पृ. 219

150. Gandhi, Young India, August 11, 1927

में अस्पष्टता पायी जाती है। एक अर्थ में वे इसे व्यक्ति के जन्म से एक जाति विशेष कुटुंब (परिवार) में रहने के कारण उसके द्वारा वंश परंपरा के आधार पर जीविकोपार्जन अपनाने का धर्म मानते हैं। इस दृष्टि से वर्ण अथवा जाति का आधार जन्म और आजीविका बन जाता है। द्वितीय अर्थ में वे कर्म को ही अंतिम रूप से वर्ण का निर्धारक मानते हैं परंतु इस कर्म के आधार पर वर्ण परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि वे पारंपरिक जन्म जाति को ही विशेष महत्व देते हैं। इस रूप में जन्म ग्रहण करने वाले को अर्थात् जन्मजाति के आधार पर ब्राह्मण को ब्राह्मण, क्षत्रिय को क्षत्रिय एवं वैश्य को वैश्य कहना ही पसंद करते हैं उनके कर्म के आधार पर वर्ण परिवर्तन को मान्यता नहीं देते हैं। यद्यपि वे वर्ण जाति के आधार पर मनुष्यों में भेद करने का दृढ़तापूर्वक विरोध करते हैं। वे सभी मनुष्यों को एक ही ईश्वर की संतान मानते हुए उनमें चेतनात्मक एकता को स्वीकार करते हैं। इससे उनके चिंतन में सैद्धांतिक व व्यावहारिक असंगतता दृष्टिगत होती है। उनके वर्ण धर्म का आधार कर्म है या जन्म है यह अस्पष्टता बनी रहती है।

वर्णाश्रम धर्म की संगतता का आधार वे चाहे जिसे भी माने परंतु इस शृंखला में ऐतिहासिक व सामाजिक रूप से यह तो स्पष्ट है कि वर्णधर्म का आवश्यक परिणाम जातिवाद का विकास है, जिसके आधार पर व्यवहारतः भेद दृष्टि उत्पन्न होती है। महात्मा गांधी ने इस दृष्टि से इस पर अधिक चिंतन नहीं किया है। दादा धर्माधिकारी भी वर्ण व्यवस्था के आधार पर कार्य विभाजन को उचित नहीं मानते हैं। उनके अनुसार वर्ण जातिनिष्ठ रह सकता है व्यवसाय निष्ठ नहीं।[151] समन्वयात्मक समाज का आधार व्यवसायनिष्ठता नहीं हो सकता।[152] महात्मा गांधी द्वारा सर्वधर्म के रूप में वर्णाश्रम धर्म को वंश परंपरा के रूप में मान्यता देना उनकी धर्म संबंधी पारंपरिक संस्कार निष्ठा का परिणाम मानी जा सकती है। अपने सर्वधर्म समभाव के अंतर्गत सभी धर्मों के प्रति समान आदरभाव के क्रम में हिन्दू धर्म के विश्वासों को भावनावश विशेष महत्व प्रदान करते हैं। विवेक एवं सत्यान्वेषण के रूप में संश्लेषणात्मक आधार पर ही अपने निष्कर्ष देते हैं। निष्कर्षों की स्थापना में तुलनात्मक अथवा विश्लेषणात्मक विधि पर ध्यान नहीं दिया है।

महात्मा गांधी की प्रार्थना सभा में विभिन्न धर्मों के व्यक्तियों के उपस्थित होते रहने के कारण सर्वधर्म समभाव की प्रार्थना सभा मानी जाती है। उनकी प्रार्थना सभा के संबंध में दृष्टिगत होता है कि-यद्यपि वे प्रार्थना सभा में अलग-अलग धर्मों की प्रार्थना या कुरान व बाइबिल के प्रस्तुत अंशों के प्रति आदरभाव

---

151. धर्माधिकारी, दादा, सर्वोदय दर्शन पृ. 80

152. वही, पृ. 76

रखते थे। तथापि उनकी दैनिक प्रार्थना सभा के बहुभाग में वैष्णव भजन, संस्कृत गीता, तुलसीकृत रामायण को विशेष महत्व दिया जाता था, ऐसा स्पष्ट होता है।[153] व्यक्तिगत प्रार्थना में हर सांस के साथ अंत में राम का नाम निकले[154] व सामूहिक प्रार्थना में संस्कृत न आती हो तो भी अर्थ तो जान ही लेना और उसका मनन करना चाहिये[155] यह महात्मा गांधी के द्वारा माना गया है।

उनके समकालीन चिंतक स्वामी सत्यभक्त ने उनकी प्रार्थना सभा के संबंध में अपना अनुभव स्पष्ट करते हुए महात्मा गांधी को पत्र लिखा कि 'आपकी प्रार्थनाओं में' राम और कृष्ण की ही प्रार्थनाएं रहती हैं यह ठीक है कि अगर उस समय कोई महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद की प्रार्थना पढ़ दे तो आपको आपत्ति न होगी, फिर भी क्या यह उचित न होगा कि सर्वधर्म-समभाव को व्यावहारिक बनाने के लिये कभी-कभी समयानुसार अन्य महात्माओं (अन्य धर्मों के महापुरुषों) का भी स्मरण किया जावे या कुछ ऐसी कविताएं प्रार्थनाएं हों जिनमें सभी के नामों का निर्देश हो।'[156]

तत्कालीन लिखे गये पत्रांश से यह स्पष्ट होता है कि महात्मा गांधी की प्रार्थना सभा में बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद आदि के प्रति और इन धर्मों की प्रार्थना पढ़े जाने के प्रति सम्मान रखा जाता था। परंतु नियमित रूप से या क्रम से उनका पढ़ना आवश्यक नहीं समझा जाता था। दिनचर्या में नियमित रूप से पढ़े जाने वाले-हिन्दू धर्म से संबंद्ध अंश ही प्रमुख होते थे[157] ऐसा ज्ञात होता है। पूर्ण धर्म समभावी की वृत्ति किसी एक धर्म के प्रति झुकी नहीं होती है। परंतु महात्मा गांधी के विचारों से यह स्पष्ट है कि उनकी वृत्ति स्वधर्म के प्रति झुकी हुई थी और प्रथम दृष्टया स्वधर्म का अर्थ अपना धर्म-जो वंश परंपरा से संस्कारों के रूप में प्राप्त हुआ है-होता है। इस अर्थ में उनका तात्पर्य प्रायः यह है कि व्यक्ति को स्वधर्म के रूप में उस धर्म का पालन करना उचित है जो उसे बाल्यावस्था में संस्कारों के रूप में मिला है (माता-पिता गुरु आदि द्वारा दिया गया है)। ऐसी स्थिति में स्वधर्म एवं परधर्म का भेद बना रहता है।

महात्मा गांधी के संबंध में प्रस्तुत विचार और समीक्षा के आधार पर स्पष्ट होता है कि महात्मा गांधी ने सर्वधर्म समभाव की धारणा पर विचार तो किया पर उसका सामाजिक, व्यावहारिक स्तर पर समाज

---

153. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, आश्रमवासियों से, पृ. 55, 62; मंगल प्रभात, पृ. 41-42; स्वामी सत्यभक्त, सुलझी हुई गुत्थियाँ, पृ. 29-32; अनमोल पत्र, पृ. 35-36, 38

154. गाँधी, मो. क., धर्मनीति, आश्रमवासियों से, पृ. 53

155. वही, पृ. 45

156. सत्यभक्त, अनमोल पत्र, 1.10.37 (गाँधी को पत्र), पृ. 35

157. वही, सुलझी हुई गुत्थियाँ, पृ. 30-31

निर्देश के लिये व्यवस्थित योजनाबद्ध किसी युगधर्म का स्वतंत्र स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया है जैसा कि स्वामी विवेकानंद आदि करते हैं। धर्म को वे व्यक्तिगत विषय मानते हुए आत्मा को शुद्ध करने वाला हृदयगम्य तत्व मानते हैं, उसे बुद्धिगम्य नहीं मानते है।[158] उनके विचार भाव प्रधान वृत्ति वाले को तो स्वीकार्य हो सकते हैं परंतु बुद्धिवादी, तार्किक वृत्ति वालों को नहीं। वे अपने सर्वधर्म समभाव में हिन्दू धर्म को उदार रूप में प्रस्तुत करते हुए उसकी अद्वैत भावना और समन्वय भावना पर विशेष बल देते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि उनके समक्ष तत्कालीन समय में देश, राष्ट्रीय एकता और सांप्रदायिक सामंजस्य स्थापित करने की समस्या थी। वे सभी धर्मावलंबियों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिये सौहार्दभाव एवं प्रेम के सूत्र में बंधा हुआ देखना चाहते थे और उनके अनुसार यह तभी संभव हो सकता था जब एक धर्मावलंबी दूसरे धर्मावलंबी को अपने ही धर्म के समान आदर दे सके। अतः उन्होंने धर्मों में तुलना, समीक्षा एवं विश्लेषण आदि को महत्व न देते हुए उनके संश्लेषण व गुणों को ही अपने सर्वधर्म समादर का विषय बनाया है सर्वधर्म समभाव में किसी भी एक धर्म पक्ष पर अधिक बल नहीं दिया जाता है और उसमें ज्ञान भाव तथा क्रिया का पूर्ण संतुलन रखा जाता है। परंतु महात्मा गांधी के वैयक्तिक जीवन और आश्रम जीवन पर स्वधर्म के रूप में हिन्दू धर्म का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। यद्यपि सिद्धांततः परिभाषा के रूप में वे अपने धर्म के समान ही (संश्लेषणात्मक विधि से) अन्य धर्मों के प्रति आदरभाव रखना मानते हैं। अतः उनके विचार को-जो साधारणतः सर्वधर्म समभाव की तरह दिखाई देता है वास्तविक अर्थ में 'सर्वधर्म समादर' का विचार कहना अधिक संगत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि निःसंदेह महात्मा गांधी के धर्म सबंधी विचारों को सर्वधर्म समभाव की संज्ञा दी गयी है। परंतु पूर्व विवेचित संदर्भ में शब्द कोशीय एवं परिभाषात्मक अर्थ निरूपण के आधार पर वे सर्वधर्म समभाव की अपेक्षा 'सर्वधर्म समादर' के विचार के पोषक थे। अन्य स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि उनका मत सर्वधर्म समादर का मत है न कि सर्वधर्म समभाव का। यह ठीक है कि वे सब धर्मों को सत्य मानते हैं और उनके प्रति अपने ही धर्म के समान आदर रखने की बात कहते हैं परंतु जैसा कि स्पष्ट है कि सत्यता के निर्धारण के लिये वे संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को ही मान्यता प्रदान करते हैं; विश्लेषणात्मक/तुलनात्मक दृष्टिकोण को नहीं। उनकी वैयक्तिक व आश्रम की धार्मिक वृत्ति हिन्दू धर्म या स्वधर्म की ओर ही झुकी हुई स्पष्ट होती है। वे परंपरागत धर्म के आधार पर ही अपना चिंतन प्रस्तुत करते हैं। जबकि पूर्ण सर्वधर्म समभावी की वृत्ति किसी एक धर्म की ओर विशेष रूप से झुकी हुई नहीं होती है। वह अपने जीवन व्यवहार में ज्ञान, भाव एवं क्रिया आदि सबको संतुलन के रूप में स्वीकार करता है। अतः उनके विचार को पारिभाषिक व

---

158. सुमन, रामनाथ (संपा.) नीति धर्म दर्शन, पृ. 31

अर्थ संगतता की दृष्टि से 'सर्वधर्म समादर' का विचार कहना अधिक उचित है।

6.4 डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (1888-1975)

डॉ. राधाकृष्णन् भारतीय आधुनिक समकालीन चिंतन में अद्‌वैतवाद एवं धार्मिक अध्यात्मवाद के समर्थक हैं। इन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य धर्मों तथा दर्शनों का व्यापक और गहन अध्ययन कर धर्म समन्वय की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किया है।[159] अतः सर्वधर्म समभाव के अंतर्गत उनके विचारों की चर्चा करना संगत होगा।

डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार सभी धर्मों का मूल आध्यात्मिक अनुभव है।[160] इसमें ईश्वर और मनुष्य दोनों के प्रतिबिंब मिलते है।[161] मनुष्य के समक्ष उसके अंतःकरण में छिड़ी दैवी और आसुरी वृत्तियों के संघर्ष की समस्या है।[162] 'धर्म का लक्ष्य है इस संघर्ष में मानव-मन को विजयी बनाना-अर्थात् उसे कल्याण पथ पर अग्रसर करना और उसके व्यक्तित्व को संपूर्ण बनाना।'[163] धर्म एक ऐसा अनुभव है जो हमारे समस्त अस्तित्व को प्रभावित करता है, हमारी अशांति, व्यग्रता और वेदना को वह समाप्त करता है; हमारे क्षणभंगुर और अल्पकालिक जीवन में जो उद्‌देश्यहीनता है, उसको यह मिटा डालता है।[164] डा. राधाकृष्णन् के अनुसार धर्म मानव का एक आध्यात्मिक परिवर्तन, अंतर्मुखी रूपांतरण है। यह अंधकार से प्रकाश की ओर, आत्मोद्‌धारहीनता से आत्मोद्‌धार की स्थिति में पहुंचना है। यह एक जागरण है, एक प्रकार का पुनर्जन्म है। हमारे पूर्व जन्म के जो संस्कार हम पर पड़े हुए हैं और उनके कारण जो बंधनों की जकड़न है उसे छिन्न-भिन्न करके अपनी मौलिक अपूर्णता से ऊपर उठना है।[165]

डॉ. राधाकृष्णन् धर्म का प्रयोजन मानव प्राणी के मानस का विकास और उसका विस्तार मानते हैं। यह विकास प्रज्ञा स्तर से आध्यात्मिकता के स्तर तक होना माना गया है।[166] इस संबंध में वे कहते हैं

---

159. राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार पृ. 335-383; हमारी संस्कृति, पृ. 17, 40
160. वही, धर्म और संस्कृति पृ. 8
161. वही, पृ. 20
162. वही, पृ. 20; तुलना - ऋग., 1/12
163. वही, पृ. 20
164. वही, पृ. 45
165. राधाकृष्णन्, धर्म और संस्कृति, पृ. 45
166. वही, पृ. 42

कि धर्म का प्रयोजन है-इस प्रज्ञा-जगत् से, इस विभक्त चेतना वाले (पार्थिव से जीव, जीव से प्राणी-चेतना और प्राणी-चेतना से मानवीय प्रज्ञा की दशा में विकास) जगत् से, जिसमें विभेद है, द्वित्व है-सामरस्यमय, स्वांतत्र्यमय एवं प्रेममय जीवन में विकसित होने में हमारी मदद करना।[167] इससे स्पष्ट है कि यदि मनुष्य को स्थूल बौद्धिकता की स्थिति से आध्यात्मिकता की स्थिति तक ऊपर उठना है तो इसके लिये मनुष्य को अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। डा. राधाकृष्णन् के अनुसार यह प्रयत्न धर्म द्वारा ही संभव है क्योंकि वह आंतरिक रूपांतरण अथवा आध्यात्मिक परिवर्तन से मानव स्वभाव के विसंवादी (विरोधी) स्वरों में सामंजस्य लाने की क्रिया है-और उसका यह रूप इतिहास के आरंभ से मिलता आया है, यही उसका मूल स्वरूप है।[168]

डॉ. राधाकृष्णन् धर्म के सामंजस्यवादी इस मूल स्वरूप के आधार पर सर्वधर्म समभाव की धारणा को स्वीकार करते हैं। वे इसके अंतर्गत सभी धर्मों के प्रति सम्मान का भाव एक ही परमतत्व के स्वरूप से प्रकट होना मानते हुए उस परमतत्व के प्रति निष्ठा व श्रद्धा का होना मानते हैं।[169] लोकतंत्र में वे धर्म निरपेक्षता-जो उनके अनुसार गलती से दिया गया नाम है-या सभी धर्मों के प्रति सम्मान का भाव और मनुष्यों में परस्पर बंधुत्व या भाइचारे का भाव[170]– इन दो को महत्वपूर्ण मानते हैं। इस भावना से ही यह स्पष्ट होता है कि हम एक ही राष्ट्र के सदस्य हैं; ऊँच-नीच, अमीर-गरीब के भेदभाव को मिटाना व सभी राष्ट्रों से मैत्री संबंध हेतु सतत् प्रयत्नशील रहना ही हमारे जीवन का आदर्श होना चाहिये।[171] इस संदर्भ में वे भारतीय धर्म-निष्ठा के आदर्श 'स्वदेशी भुवनत्रयम' अर्थात् त्रिभुवन ही हमारा देश है-को उद्धृत करते हैं।[172] इससे इनका तात्पर्य है कि संपूर्ण विश्व ही हमारा राष्ट्र है। यह भाव सभी धर्मों व मनुष्यों मे परस्पर सामंजस्य व आदर का विचार उत्पन्न कर सकता है।

डॉ. राधाकृष्णन् अपने धर्माध्ययन के आधार पर सभी धर्मों के प्रति आदरभाव एवं भाईचारे का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार सभी धर्म चाहते हैं कि मनुष्य (हम) अपने जीवन को आत्मज्ञान-आत्मनस्तु कामायं-के लिये एक अवसर माने। ईश्वर सार्वभौम सत्य, विवेक और प्रेम है तथा सभी मनुष्य उसके बच्चे

---

167. वही, पृ. 43, 42

168. वही, पृ. 43

169. वही, रचनात्मक जीवन, पृ. 16

170. वही, पृ. 16-17

171. वही, पृ. 17

172. वही, पृ. 17

हैं, चाहे उनकी नस्ल, मज़हब आदि कुछ भी क्यों न हो। प्रत्येक देहधारी के भीतर ईश्वरीय चेतना विद्यमान रहती है। जब मानव जाति सत्य के प्रति चैतन्य हो जाएगी, तब उसमें सार्वभौम भ्रातृत्व का विकास होगा और समस्त सृष्टि के महान् मूल स्रोत के प्रति उसे ऐक्यानुभूति होने लगेगी।[173] अन्य पुस्तकों में भी वे इस आत्मिक अथवा चेतनात्मक एकता का समर्थन करते हैं।[174]

उनके अनुसार जिस व्यक्ति का जीवन ईश्वरानुभूति से ओत-प्रोत है, उसमें सारी सृष्टि के प्रति प्रेम का सोता फूट पड़ता है। उसके हृदय में किसी व्यक्ति के प्रति घृणा, क्रूरता, आतंक, अन्याय नहीं रहता। वह किसी भी व्यक्ति को गैर जिम्मेदार व स्वार्थ-सिद्धि का साधन नहीं समझता है। वह एक ऐसे समाज की रचना करने के लिये प्रयत्नशील रहेगा जिसमें मनुष्य स्वतंत्र और निर्भय रह सकें।[175] इस अर्थ में डा. राधाकृष्णन् के अनुसार धर्म एक ऐसी योजक (जोड़ने वाली) शक्ति है जो मानव-समाज की एकता को सुदृढ़ करती है और भविष्य में करेगी।[176] ईश्वर अपने सूर्य को भले और बुरे सभी पर समान रूप से चमकने देता है और मानव-जाति की सभी संतानों पर अपनी स्नेहपूर्ण दयालुता की वर्षा समभाव से करता है।[177] डा. राधाकृष्णन् के अनुसार विभिन्न बड़े धर्मों के साक्ष्य से इस मत की और भी पुष्टि होती है। अतः वे मानते हैं कि धर्म मानव जाति की आशा है और वह नई दुनियां को भी सहारा देने में समर्थ है।[178] इससे स्पष्ट है कि डा. राधाकृष्णन् सर्वधर्म समभाव के अंतर्गत सब धर्मों के प्रति आदरभाव को स्वीकार करते हुए चेतनात्मक आधार पर सभी मनुष्यों के प्रति एकात्मता बोध को मान्यता प्रदान करते हैं। यह एकात्मभाव विकसित होने पर मनुष्यों के प्रति सभी प्रकार के विभेद, वैमनस्य, घृणा आदि का तिरोभाव हो जाता है। समाज में राग-द्वेष से परे भ्रातृत्व-भाव व एकता की स्थापना होती है। सभी धर्म निष्पक्ष, सार्वभौमिक सत्य एवं विवेक को स्वीकार करते हैं। अतः धर्मों का यह दृष्टिकोण चेतनात्मक आधार पर सर्वधर्म समभाव की स्वीकृति है।

विभिन्न धर्मों के संबंध में उनकी मान्यता है कि विश्व के सभी धर्म सामान्य धरोहर पर बल देते हैं और परस्पर आदरभाव तथा समझ-बूझ के मार्ग पर बढ़ने की विनय करते हैं।[179] वे एक ही भावना से

---

173. वही, धर्म और संस्कृति, पृ. 12
174. वही, रचनात्मक जीवन, पृ. 32; भारतीय संस्कृति कुछ विचार, पृ. 21
175. डॉ. राधाकृष्णन्, धर्म और संस्कृति, पृ. 12
176. वही, पृ. 12
177. वही, पृ. 38
178. वही, पृ. 38
179. डॉ. राधाकृष्णन्, आधुनिक युग में धर्म, पृ. 91

शासित होकर मनुष्य और विश्व दोनों की मुक्ति के लिये काम करते हैं। सब धर्मों का उद्देश्य ऐहिक उद्धार है।[180] ये मनुष्य से अपेक्षा करते हैं कि वे एक दूसरे को विनम्रता और मैत्री की भावना में समझे।[181] मनुष्य में जो दिव्यता का मूल सत्य विद्यमान है उसी को विभिन्न धर्म सिद्धांत विभिन्न रूप देकर प्रस्तुत करते हैं।[182] उनके अनुसार सबमें इस दिव्यता का मूल एक ही परमतत्व ईश्वर है।

वे मानते हैं कि 'हम हिन्दू, बौद्ध, ईसाई या मुसलमान-किसी भी धर्म से अपनी यात्रा क्यों न प्रारंभ करें, यदि हम अपने इरादों के बारे में ईमानदार व निष्ठावान हैं तो हम परमेश्वर तक पहुँच सकते हैं। हम सब ईश्वर के एक अप्रकट धार्मिक संघ (चर्च) के सदस्य हैं अथवा एक ही आध्यात्मिक बिरादरी से संबंधित हैं, भले ही इस या उस प्रकट धार्मिक संघ (चर्च) का अनुसरण करते हों।'[183] डा. राधाकृष्णन् के अनुसार सब धर्म विश्वास ससीम मन द्वारा असीम को ग्रहण करने का प्रयत्न हैं। जहां तक ये लक्ष्य पहुंचाने में सहायता करते हैं वहां तक ये मूल्यवान हैं। वे विभिन्न इसलिये हैं कि वे लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं के, उनकी जाति और इतिहास के, उनके लिंग और स्वभाव के अनुकूल ढले हैं। परंतु वे सब परीक्षणात्मक हैं इसलिये असहिष्णुता को किसी प्रकार से उचित नहीं ठहराया जा सकता। धर्म का व सत्ता का उन नियत बौद्धिक धारणाओं (अनेकत्व, प्रतीकात्मक विन्यास, हृदय विचार और मन द्वारा गढ़ी धारणाओं) के साथ घपला नहीं किया जाना चाहिये, उन्हें ठीक से समझ लेना चाहिये।[184] अर्थात् प्रतीक व आकृति मात्र को ही आध्यात्मिक सत्ता न समझ लेना चाहिये क्योंकि आध्यात्मिक सत्ता तो एक है और रूप अनेक हैं। उनके अनुसार धर्ममत स्वयं धर्म नहीं वरन् धर्म तक ले जाने वाले साधन हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् के इन विचारों से स्पष्ट होता है कि वे सर्वधर्म समभाव को स्वीकार्य करते हुए विभिन्न परंपरागत धर्मों के प्रति आदरभाव को मान्यता देते हैं क्योंकि सभी धर्म मूलतः समान है। उनका लक्ष्य एक है और वह है ईश्वर तक पहुंचना। सभी धर्म मानव जाति के स्वभाव और इतिहास के अनुकूल इस लक्ष्य की प्राप्ति में सलंग्न है। डा. राधाकृष्णन् वस्तुतः सर्वधर्म समभाव को स्वीकार करते हुए चेतना के उद्देश्य को पहचान कर ही मानव जाति की वास्तविक आत्मिक एकता को आवश्यक समझते हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् के इन विचारों का यह अर्थ नहीं है कि व्यवहारतः भी विश्व में एक ही धर्म या एक

---

180. वही, पृ. 91

181. वही, पृ. 91

182 वही, धर्म और समाज, पृ. 50

183. वही, धर्म और संस्कृति, पृ.15

184. डॉ. राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, पृ. 51; भारतीय-संस्कृति कुछ विचार, पृ. 21

ही धर्म संघ है। वे विश्व में व्यवहारतः अनेक धर्मों के संघों को स्वीकार करते हुए उनकी विशिष्टताओं को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। इस संदर्भ में वे लिखते हैं कि यदि मानव जाति के धार्मिक अनुभवों में समानता है, तो इसका यही अर्थ है कि ईश्वर के साथ मनुष्य के साक्षात्कार की प्रतिक्रिया समस्त मानवता पर न्यूनाधिक रूप से एक जैसी ही होती है।[185] विभिन्न नामधारी धर्मों या मज़हबों में कुछ बातें समान रूप से मिलती हैं; लेकिन इससे हमें यह नहीं सोच बैठना चाहिये कि वे बातें हर मज़हब (प्रत्येक धर्म) में एक ही तरह से समाविष्ट हुई हैं। प्रत्येक धर्म सिद्धांत, आराधना और साधना का एक जीवंत संगठन होता है, उसमें अपना कुछ अनूठापन और निजी वैशिष्ट्य होता है और युग की आवश्यकताओं के अनुसार उसमें समग्ररूप से परिवर्तन हो जाते हैं। इसलिये जब हम विभिन्न धर्मों में पाये जाने वाले समान अविरोधी तत्वों की बात करते हैं, तब यह नहीं भूलते हैं कि उनमें कुछ बुनियादी विचार ऐसे हैं जिनके कारण उनको अलग-अलग विशिष्टता प्राप्त हैं।[186]

डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि हम विभिन्न धर्मों में पाये जाने वाले विभेदों पर, जो कुछ अर्थों में महत्वपूर्ण और बुनियादी हैं, पर जोर दें।[187] उनके अनुसार यद्यपि धर्म का प्रत्येक संप्रदाय यह दावा करता है कि वह उसके (उस धर्म) विशिष्ट धार्मिक संदेश का सच्चा प्रतिनिधि है, तथापि सभी संप्रदायों के सभी अनुयायी यह अनुभव करते हैं कि वे एकता के सूत्र में आबद्ध हैं।[188] स्पष्ट है कि डॉ. राधाकृष्णन् सर्वधर्म समभाव में विभिन्न धर्मों में समानता के साथ-साथ उनकी विशिष्टता को भी स्वीकार करते हैं। परंतु जिन विशिष्टताओं के कारण एकता खंडित होती हो और विभेद की स्थापना होती हो उस विशिष्टता पर बल देना आवश्यक नहीं समझते हैं। उनके अनुसार सत्य के प्रति उनके एकांतिक आग्रह एवं अंतर्विरोधों को दूर न करने के प्रयास से धर्म-मात्र से लोगों की आस्था उठ जाने का संकट उत्पन्न हो गया है। अतः भिन्न-भिन्न धर्मों के बीच पाये जाने वाले विरोधों को भी मिटाना आवश्यक है।[189]

डॉ. राधाकृष्णन् परंपरागत विभिन्न धर्मों के संबंध में कहते हैं कि हठधर्मिता, अतिबद्धता, असहिष्णुता और दूसरों की जीवन पद्धति के प्रति आक्रामक हो उठने की भावना ने सभी धर्मों के इतिहास को भ्रष्ट

---

185. वही, धर्म और संस्कृति, पृ. 37

186. राधाकृष्णन्, धर्म और संस्कृति, पृ. 37

187. वही, पृ. 37

188. वही, पृ. 37

189. वही, पृ. 37

कर दिया है।[190] हम ऐसे संसार में जी रहें हैं जिसमें विषाद् सर्वव्यापी है।[191] संसार गलतफहमियों और कटुताओं से विदीर्ण हो गया है।[192]

यहां सहज ही यह प्रश्न उठता है कि डा. राधाकृष्णन् के अनुसार यदि मानव के आंतरिक परिवर्तन से इन विसंवादी स्वरों में सामंजस्य लाने की क्रिया अपनाना धर्म का मूल स्वरूप है, तो फिर प्रवर्त्तकों, तीर्थंकरों एवं पैगंबरों द्वारा-दिये गए एक विश्व, पृथ्वी पर शांति, परस्पर सद्भावना, प्रेम, एकात्मता बोध की व्यावहारिक परिणति में कौन सी बाधाए वर्तमान में उत्पन्न हो रही हैं कि जिनसे कटुता और असहिष्णुता पनप रही है। इस संदर्भ में एक अन्य प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि विभिन्न धर्मों में परस्पर जो संघर्षात्मक/द्वंदात्मक स्थितियां उत्पन्न हो रही हैं क्या ये समाप्त हो सकती हैं और सभी धर्म साथ-साथ रह सकते हैं, या उनमें से कोई एक धर्म औरों/अन्य धर्मों पर प्रभुता प्राप्त कर लेगा?

इनके उत्तर में वे कहते हैं कि धर्म द्वारा एकता/सामंजस्य स्थापित करने में तीन प्रबल बाधाएं हैं: प्रथम-मनुष्य में विकसित होता हुआ वैज्ञानिक चिंतन और आलोचना की प्रवृत्ति; द्वितीय-जागरूक सामाजिक चेतना जो संसार में व्यवहृत असमानताओं का विरोध करती है; और तृतीय-धर्मों की संकीर्णता, जिसके कारण विभिन्न धर्म व्यवहारतः एक दूसरे की सहायता करने के स्थान पर एक-दूसरे से प्रतियोगिता कर रहें हैं।[193] ये तीनों बाधाएं समझदार (विवेकपूर्ण) लोगों के मन में धर्म के महत्व और औचित्य के विषय में संदेह उत्पन्न कर रही हैं।[194] इसके अतिरिक्त संसार में धर्म निरपेक्षता या 'ऐहिकता' (सांसारिकता) की भावना भी बढ़ती जा रही है।[195]

डॉ. राधाकृष्णन् इन समस्याओं अथवा बाधाओं का निराकरण कर सभी धर्मों के परस्पर सहकार[196] अर्थात् समन्वय की आवश्यकता मानते हैं। उनके अनुसार यदि हम मानव जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों की पुनःस्थापना करना चाहते हैं तो हमें इन बाधाओं अथवा चुनौतियों को समझना होगा जो आज विभिन्न

---

190. राधाकृष्णन्, धर्म और संस्कृति, पृ. 37, 12

191. वही, धर्म और समाज, पृ. 6

192. वही, पृ. 6; तुलना-विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 125

193. राधाकृष्णन्, धर्म और संस्कृति, पृ. 42

194. वही, पृ. 42,

195. वही, पृ. 42

196. वही, पृ. 42

धर्मों के समक्ष उपस्थित है।[197] वे मानते हैं कि जो धर्म आत्मबोध, आत्म-शोध और आत्मालोचन की प्रक्रिया से गुजर रहें हैं वे इन चुनौतियों का उचित रूप से सामना करेंगे।[198] उनके अनुसार धर्मनिष्ठा तर्कबुद्धि से संबद्ध होनी चाहिये। धर्म और विज्ञान (नवीन अन्वेषण, तर्क, युक्ति, बुद्धि आदि) ने धर्म और उच्चतम सामाजिक नैतिकता में, धर्म और धर्मों के पारस्परिक सहकार में कोई विरोध नहीं है।[199]

डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार किसी समाज का विघटन साधारणतः इस कारण से होता है कि वह नई चुनौतियों का सामना करने के लिये पर्याप्त सक्षम नहीं हो पाता।[200] जो शक्तियां इस समय सक्रिय हैं और जब तक धर्म इन युगानुरूप शक्तियों के साथ रचनात्मक विधि से नहीं निपटते, तब तक उनके विलुप्त हो जाने की संभावना बनी रहेगी।[201] हम अन्वेषणकारी वैज्ञानिक और मानववाद के युग में रहते हैं।[202] अतः 'हमसे (मनुष्य से) यह आशा नहीं की जानी चाहिये कि हम अविश्वसनीय मतों या ऐकांतिक दैवी संदेशों (इल्हामों) को स्वीकार कर लेंगे। जो धर्म मानवीय बुराइयों और सामाजिक अपराधों के प्रति संवेदनशील नही हैं, वे आधुनिक मनुष्य को स्वीकृत नहीं हो सकते हैं।'[203] जो धर्म विभेद, वैमनस्य और अनेकता को बढ़ावा देते हैं तथा एकता, सद्भाव और सामंजस्य को प्रोत्साहित नहीं करते, वे धर्म द्रोहियों के हाथों में खेलते हैं। ऐसे में लोगों की यह धारणा कि विज्ञान की प्रकृति धर्म के विरुद्ध है, दुर्भाग्यपूर्ण और मिथ्या है।[204] उनके अनुसार विज्ञान की मूल प्रवृत्ति धर्म का भी संस्कार करती है। धर्म न तो कोई जादू-टोना, टोटकेबाजी है और न ही नीम-हकीमी या अंधविश्वास। मानव-प्रगति के मार्ग में बाधक, अवरोधक तथा आध्यात्मिक जीवन की सहजता तथा सादगी को नष्ट-भ्रष्ट कर देने वाली जीर्ण-शीर्ण, निरर्थक रूढ़ियों तथा अविश्वसनीय, अंधविश्वासों को गलती से धर्म नहीं समझ लेना चाहिये। केवल परंपरा के दाय रूप में प्राप्त आप्त वाक्यों का ही नहीं, अपितु बौद्धिक आप्त चिंतन का भी समादर किया जाना चाहिये।'[205]

---

197. वही, पृ. 42
198. वही, पृ. 42
199. वही, भारतीय संस्कृति कुछ विचार, पृ. 15; धर्म और संस्कृति, पृ. 42
200. वही, धर्म और संस्कृति, पृ. 6
201. वही, पृ. 6
202. वही, पृ. 6
203 वही, पृ. 6
204. वही, पृ. 6
205. डॉ. राधाकृष्णन्, धर्म और संस्कृति, पृ. 8

डॉ. राधाकृष्णन् के इन विचारों से स्पष्ट होता है कि वे धर्म को मूलतः परस्पर सामंजस्य व एकात्मबोध स्थापित करने वाला मानते हैं। उनके अनुसार परंपरागत धर्मों में युगानुरूप ज्ञान-विज्ञान और मानव कल्याण की दृष्टि से परिवर्तन आवश्यक है। धर्मों में जो एकता, सहजता व सादगी के भाव हैं वही उसका मूल रूप है। अतः जिन धर्मों के द्वारा रूढ़ियों, अंधविश्वासों, वैमनस्य एवं परस्पर असहयोग को बढ़ावा दिया जाता है वह वास्तव में धर्म विरोधियों का कार्य है। धर्म केवल परंपरा से प्राप्त आप्त वचन मात्र नहीं है वरन् विकासोन्मुख मानव एकता का प्रयास भी है। अतः वे वर्तमान के बौद्धिक चिंतन से भी उसका सामंजस्य होना आवश्यक मानते हैं। अर्थात् वर्तमान में परंपरा से प्राप्त धर्म एवं बौद्धिक चिंतन दोनों ही मानव कल्याण के लिये महत्वपूर्ण हैं। इसलिये दोनों का समादर करना चाहिये।

यहां तक यह स्पष्ट किया गया है कि डॉ. राधाकृष्णन् परंपरावादी धर्मों को सामंजस्यपूर्ण मानते हैं। परंतु विश्व की वर्तमान स्थिति का अवलोकन करते हुए वे यह भी कहते हैं कि औद्योगिक और तकनीकी विकास (प्रगति) के पश्चात् भी व्यक्ति अपने को असुरक्षित एवं असहाय अनुभव कर रहा है। विभिन्न धर्मानुयायियों में परस्पर द्वंद छिड़ा हुआ है। इसके कारणों को स्पष्ट करते हुए द्वितीय प्रश्न के संदर्भ में कहते हैं कि-

अपने इतिहास के प्रत्येक काल मे मानव-जाति यह भ्रम पालती रही हैं कि एकमात्र वही धर्म है जो सत्य को अंतिम रूप से प्रस्तुत करता है, वही प्रामाणिक व सनातन है। उसके वर्तमान ज्ञान की प्रणाली ही अंतिम सत्य है तो उसका हर दावा तर्कसंगत नहीं माना जाएगा। इस भ्रम के कारण असहिष्णुता और धर्मांधता उत्पन्न हुई है।[206] कोई भी धर्म तत्व, वह चाहे जितना बड़ा हो, सत्य से बड़ा नहीं हो सकता। सत्य सदा ही किसी भी धर्मशास्त्र से अधिक बड़ा और व्यापक होता है।[207] सत्य का समादर एक नैतिक मूल्य है वह ईसा, बुद्ध से भी अधिक महत्वपूर्ण है। विवेक तथा दूसरों की जीवन पद्धतियों के प्रति सहिष्णुता एवं आदर से रहित कोई भी आस्था ख़तरनाक बन जाती है।[208] अन्य शब्दों में वह मानव एवं समाज के आदर्शों के लिये हानिकारक हो जाती है। सच्चे अर्थों में धार्मिक व्यक्ति का धर्म बिल्कुल सीधा-सादा होता है जिसमें धर्म विश्वासों, धर्म सिद्धांतों के मनोभावों या आधिदैविक तत्वों की बेड़िया नहीं होती हैं। यह उस आत्मा की वास्तविकता का प्रतिपादन करता है जो काल और देश के ऊपर व्याप्त है।[209]

---

206. वही, पृ. 12-13

207. वही, पृ. 13; प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 321

208. वही, पृ. 13, 51

209. राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, पृ. 45

26—259 Min. of H.R.D./2005

सच्चे धार्मिक जीवन की अभिव्यक्ति प्रेम के रूप में होनी चाहिये और उसका उद्देश्य होना चाहिये मानव जाति की एकता।[210] संसार की एकता अर्थात् लोकसंग्रह अब केवल स्वप्न नहीं रह गया है। यह एक अनिवार्य व्यावहारिक आवश्यकता बन गया है।[211] प्राचीन काल में मानव सभ्यताएं समानांतर रूप से एक-दूसरे से अप्रभावित रहते हुए-विकसित होती रहीं लेकिन आज देश काल की दूरियां समाप्त होती जा रही हैं। प्रौद्योगिक तथा वैज्ञानिक आविष्कारों व विभिन्न प्रकार के विचारों के आदान-प्रदान से राष्ट्रों की मैत्री, निकटता व संपर्क बढ़ते जा रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापनाओं से इसके संकेत भी मिलते हैं किंतु दूसरी ओर विस्फोटक शक्तियों एवं प्रतियोगिताओं के चलते विश्व-एकता की स्थापना में कई रुकावटें भी दिखाई देती हैं।[212]

डॉ. राधाकृष्णन् स्पष्ट करते हैं कि व्यक्ति को नये सांचे में ढालने, उसकी दुष्टताओं व दुर्बलताओं से स्वच्छ करने, उसे उद्दात बनाने तथा महानता की ओर प्रेरित करने का कार्य धर्म अथवा धर्मानुशासन का माना जाता है परंतु उनके अनुसार विश्व के धर्म (परंपरागत धर्म) स्वयं आलोचना की मनोदशा से गुजर रहें हैं।[213] इस वैज्ञानिक युग में हम बुद्धि विरोधी अविश्वसनीय एवं निरर्थक रूढ़ियों, संदेहास्पद घटनाओं को स्वीकार नहीं कर सकते हैं। नई दुनियां (वैज्ञानिक रूप से विकसित) हमारे लिये एक आह्वान है कि हमें इसके साथ फिर से अपना तालमेल बिठाना है। पुराने घिसे-पिटे सामाजिक और आर्थिक ढांचे काम नहीं देंगे।[214] विश्व का लक्ष्य है एक घनिष्ठ आध्यात्मिक साहचर्य की उपलब्धि। परंपरागत धर्म जो आज आत्मान्वेषण कर रहें हैं उनमें दूसरे धर्मों के प्रति उदारता, सहानुभूति पायी जाती है परंतु कोई भी धर्म अपनी पूर्णता पर नहीं पहुंच पाया है। अतः कुछ लोगों की धारणा के अंतर्गत वे मानते हैं कि हमें अपने धर्म को तिलांजलि देने की आवश्यकता नहीं है और न इसकी कि हम एक प्रकार के संहतिवाद, शून्यवाद (सिंक्रेटिज्म) में जा पड़े। हम दूसरे धर्मों के प्रति आदर का भाव रखते हुए उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। जब हम दूसरे लोगों के धर्मों का आदर करेंगे तो वे भी हमारे धर्मों का आदर करेंगे। सत्य किसी भी रूप में हमारे लिये पराया नहीं होना चाहिये।[215] अन्य धर्मों में जो कुछ न्यायसंगत और उचित है उसको स्वीकार करके धर्मों में परिपक्वता आयी है। आस्थाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया से

210. वही, धर्म और संस्कृति, पृ. 21

211. वही, पृ. 5

212. वही, पृ. 40-41

213. वही, पृ. 41, 54

214. वही, पृ. 41

215. वही, पृ. 54-55

संशोधन होता है और कठोरता कम होती है, मिथ्या का स्थान सत्य ले लेता है इससे नवीन धार्मिक स्थिति उत्पन्न होगी। वह एकधर्मिता की नहीं होगी वरन् समन्वित एकता की होगी जिसमें दूसरे धर्मविश्वासों को सहानुभूतिपूर्वक समझने की कोशिश करेंगे और उनकी अच्छी बातों की सराहना करेंगे। सभी धर्म ज्ञान और प्रेम के सार्वभौम रूप में अपने को अभिव्यक्त करेंगे।[216] परंतु डा. राधाकृष्णन् किसी भी परंपरागत धर्म को सार्वभौमिक धर्म के रूप में नहीं मानते हैं क्योंकि इनमें से कोई भी पूर्ण समभाव तक नहीं पहुंच पाया है।

अतः डॉ. राधाकृष्णन् एक ऐसी संस्था[217] व ऐसी धार्मिक आस्था[218] की तलाश करना आवश्यक समझते हैं, जिसको आज मनुष्य समझ सके, जो उसके तर्क एवं विवेक की कसौटी पर कसी जा सकें।[219] वे स्पष्टतः कहते हैं कि वर्तमान के नये समाज में हमें एक नूतन सार्वदेशिक धर्म की आवश्यकता है, इससे हमारा तात्पर्य एक ही सांचे में ढले धर्म का नहीं है वरन् जागरूकता एवं प्रेम के, प्रज्ञा एवं करुणा के, सत्य एवं स्नेह के धर्म से है।[220] उस धर्मनिष्ठा को मानव के आज के स्वाभाविक ज्ञान से सामंजस्यपूर्ण होना ही चाहिये।[221] यह संसार युद्धप्रिय राष्ट्रों का युद्धक्षेत्र बनने के लिये नहीं रचा गया है, अपितु एक ऐसा राष्ट्र मंडल बनने के लिये रचा गया है, जिसमें विभिन्न समूह सबके लिये गौरव, अच्छा जीवन और समृद्धि प्राप्त करने के लिये रचनात्मक प्रयत्न में एक दूसरे के साथ सहयोग करें।[222] वे कट्टर राष्ट्रवाद को एक रोग मानते हैं जो युद्ध नहीं भड़काता है तब भी विश्वपरिवार को भ्रष्ट बनाता है और उनके संबंधों में जहर घोल देता है।[223] इसका अर्थ यह नहीं है कि वे राष्ट्रीयता का समर्थन नहीं करते हैं। डा. राधाकृष्णन् राष्ट्रीयता को विश्वजनीनता के अंतर्गत महत्व देते हुए विश्वशांति के लिये एक विश्वधर्म की महती आवश्यकता अनुभव करते हैं।[224] उनके अनुसार संयुक्तराष्ट्र या अंतर्राष्ट्रीयतावाद[225] में प्रत्येक राष्ट्र अपना वैशिष्ट्य व प्रतिभा बनाये रखते हुए रह सकता है।[226] परंतु इसके लिये हमें ऐसी परिस्थितियों का

216. वही, धर्म और संस्कृति, पृ. 55
217. राधाकृष्णन्, आधुनिक युग में धर्म, पृ. 11
218-219. वही, भूमिका, पृ. ग; धर्म और संस्कृति, पृ. 41; प्राच्य धर्म पाश्चात्य विचार, पृ. 321
220. वही, भारतीय संस्कृति कुछ विचार, पृ. 20
221. वही, पृ. 15
222. वही, पृ. 9; तुलना-स्वामी सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 168 II
223. वही, रचनात्मक जीवन, पृ. 62; तुलना- वही, पृ. 163 II; व्यवहारकांड, पृ. 590, 647
224. वही, पृ. 54-55
225. वही, पृ. 93
226. वही, पृ. 93; तुलना-स्वामी सत्यभक्त, सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. 717-719

निर्माण करना होगा जो शांति की स्थापना में सहायक होती हैं, शांति की बातों से कुछ नहीं होगा।[227] बौद्धिक निष्ठा, अंतर्राष्ट्रीयतावाद, मानवता और सत्य से प्रेम जैसे सिद्धांतों को समझना आवश्यक है। इससे एक नये मनुष्य का निर्माण करना होगा जो मानवता का हमदर्द हो।[228] हमें अपने आपको विश्व का सच्चा नागरिक समझना चाहिये।[229] कारण कि हम सभी लोग एक ही स्रोत से उद्भूत हैं।

इस प्रकार वे एक आध्यात्मिक लोकतंत्र[230] की स्थापना के लिये, मानव के सचेतन सहयोग के लिये प्राकृतिक अपेक्षा को स्वीकार करते हैं। यद्यपि वे मानते हैं कि काल के प्रभाव से नवीन का आविर्भाव होता है और वह नवीन पुरातन से पग-पग पर नवीन प्रकार से संबद्धता स्थापित करता चलता है।[231] धर्म भी समयानुकूल अपने में आत्मशोधन अर्थात् संशोधन-संवर्द्धन कर रहें हैं। तथापि वे आधुनिक युग के अनुरूप, परस्पर एकता व सामंजस्य की स्थापना करने वाले किसी सार्वदैशिक नवीन धर्म और धर्मसंस्था का होना महत्वूर्ण मानते हैं। अन्य शब्दों में यह माना जा सकता है कि वे पुराने या परंपरागत सांचे में ढली विधियों को एवं धर्मों को आज युगानुरूप नहीं समझते हैं। अब ऐसे धर्म का होना आवश्यक मानते हैं जो आधुनिक, वैज्ञानिक ज्ञान से भी मेल स्थापित कर सके और मानव एकता की स्थापना को भी दिशा दे सके। सद्भावना व विश्वशांति की स्थापना में वे राष्ट्रसंघ जैसी अंतर्राष्ट्रीयतावाद वाली संस्थाओं की स्थापना पर बल देते हैं जिसमें राष्ट्रों की स्वतंत्रता भी रह सकेगी। डॉ. राधाकृष्णन् धर्मों की लक्ष्यहीन एकता के लिये काम करना उचित नहीं मानते हैं। वे पारिवारिक, राष्ट्रों के या आध्यात्मिक जीवन में सब भेदों के होते हुए भी समन्वय स्थापित करने वाले प्रयोगात्मक धर्म को भविष्य का धर्म मानते हैं; जिसमें प्रत्येक की सत्यनिष्ठा रह सके।[232] डॉ. राधाकृष्णन् के द्वारा चेतनात्मक आधार, राग-द्वेष से परे निष्पक्ष एवं बौद्धिकता, विवेक तथा तर्क सम्मत आधार पर स्थापित किये गये सामंजस्य भाव को सर्वधर्म समभाव के अंतर्गत मान्यता प्रदान की गयी है। उनके इन विचारों की प्रस्तुति के पश्चात् उन पर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार करना संगत होगा।

डॉ. राधाकृष्णन् ने अपनी विभिन्न पुस्तकों के माध्यम से धर्मों की आपसी एकता, धर्मों का सम्मिलन, आधुनिक युग में धर्म आदि के द्वारा धर्म समन्वय अथवा सर्वधर्म समभाव के विचारों को स्पष्ट किया है।

---

227. वही, पृ. 93

229. वही, पृ. 93

230. Radhakrishanan, Idealistic View of Life, P. 249

231. Ibid, P. 257

232. राधाकृष्णन्, आधुनिक युग में धर्म पृ. 94

वे धर्मों के समन्वय अथवा एकता की स्थापना के लिये एक ही मूल धर्म तत्व ईश्वर विचार को विभिन्न प्रकार से अपने आधार के रूप प्रस्तुत करते हैं। इसलिये कई विद्वानों ने उनके मत को एक धर्म तत्व सिद्धांत कहकर आलोचना की है।[233] इनके अनुसार एक तत्व के रूप में ब्रह्म/ईश्वर को सर्वोच्च आत्मा के रूप में अपने धर्म का विषय मानने का विचार शून्यवादी बौद्ध, ईश्वरवादी और जैन धर्म को मान्य नहीं हो सकता है। यद्यपि डा. राधाकृष्णन् इसे सब धर्मों के साथ लागू करते हैं।[234] परंतु उनके द्वारा प्रायः वही धर्म सत्य माना गया है जिसमें परमतत्व अर्थात् सर्वोच्च आत्मा को माना गया है। इस आधार पर स्पष्टतः उनके अनुसार वे धर्म स्वीकृत नहीं किये जा सकते हैं जिनमें सर्वोच्च आत्मा का विचार अंतर्निहित नहीं है। सर्वोच्च आत्मा से उनका अभिप्राय प्रायः ईश्वरात्मा से है। जबकि सर्वधर्म समभाव में उन धर्मों के प्रति भी सम्मान अथवा आदरभाव होना चाहिये जो ईश्वर तत्व को या सर्वोच्च आत्मा को स्वीकार नहीं करते हैं। डा. राधाकृष्णन् के अद्वैतवादी अध्यात्मवाद में इसे कोई स्थान दिया गया प्रतीत नहीं होता है। अतः उनका सर्वधर्म समभाव संबंधी विचार ईश्वरात्मा को परमतत्व मानने के कारण एकांगी हो जाता है जो स्वीकार्य नहीं हो सकता।

डॉ. राधाकृष्णन् विभिन्न धर्मों के सामंजस्य को स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि परंपरागत धर्मों में भी युगानुरूप परिवर्तन हो रहें हैं; आत्मशोधन के द्वारा वर्तमान विकास के साथ संबद्ध होने का वे प्रयास कर रहे हैं। इस दृष्टि से वे पाश्चात्य धर्म परंपरा के परिप्रेक्ष्य में हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता विभिन्न उद्धरणों का वर्णन व समर्थन करते हैं।[235] वे हिन्दू धर्म को सर्वधर्म समन्वय का सुंदर उदाहरण मानते हुए परमात्मा के विषय में निरंतर विकासमान मानवीय विचार मानते हैं और किसी भी उद्यान में खिले गुलाब की सुंदरता से उसकी तुलना करते हैं और उसे श्रेष्ठ मानते हैं।[236] उनके द्वारा आधुनिक युग के अनुरूप हिन्दू धर्म का मानवतावादी, अद्वैत का विश्लेषण उसके सार तत्वों के साथ कुशलतापूर्वक प्रस्तुत कर सभी धर्मों के परमतत्व संबंधी मान्यताओं में एकता एवं समन्वय स्थापित करने का जो कार्य किया गया है वह हिन्दू धर्म को विश्वव्यापी या सार्वभौमिक सहनशील धर्म मानने की प्रछन्न वृत्ति को अभिव्यक्त करता है। इस संबंध में कुछ विद्वानों ने भी इस प्रकार की सम्मति प्रस्तुत की है।[237] परंतु इसे उचित नहीं माना जा सकता क्योंकि वे सभी परंपरागत धर्मों में आवश्यक संशोधन को स्वीकार करते

233. मसीह, याकूब, तुलनात्मक धर्म-दर्शन, पृ. 268; सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृ. 256

234. मसीह, याकूब, तुलनात्मक धर्म-दर्शन, पृ. 268-269

235. राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 337, 342, 372-373, 376, 332, 368

236. Radhakrishanan, Religion and Society, P. 53

237. सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, धर्मदर्शन की रूपरेखा, पृ. 253, 256

हैं एवं आधुनिक मानव के लिये किसी नये समन्वयवादी युक्तिपूर्ण धर्म की स्थापना करना आवश्यक समझते हैं। हिन्दू धर्म की उदारता का जो तर्कपूर्ण प्रतिपादन उनके द्वारा किया गया है वह अन्य धर्मों के तुलनात्मक आधार पर प्रस्तुत किया गया है, न कि भविष्य के भावी धर्म के रूप में। वस्तुतः वे किसी भी परंपरागत धर्म को सार्वभौमिक धर्म नहीं मानते हैं वरन् इसके लिये एक नवीन धर्म की स्थापना पर बल देते हैं। उनके अनुसार अब किसी नये धर्म की स्थापना के द्वारा और उसे मान्यता देने से ही समग्र विश्वशांति व मानव एकता स्थापित हो सकती है।

डॉ. राधाकृष्णन् मानव के विश्व समुदाय एवं विश्वशांति की स्थापना के लिये नवीन संस्था या धर्म के होने की बात तो सिद्धांततः स्वीकार करते हैं परंतु मानव मन को उस विश्व-समुदाय की ओर सक्रिय रूप से प्रेरित करने वाली अर्थात् एक पृथ्वी पर संपूर्ण मानव जाति को केंद्रीभूत करने वाली कोई व्यावहारिक योजना प्रस्तुत नहीं करते हैं और न ही किसी ऐसी संस्था की स्थापना करते हैं जो धर्म समन्वय को क्रियात्मक रूप देती हो। यदि केवल शब्दों व भावनाओं से ही विश्वशांति, मानव कल्याण, विद्वेष की समाप्ति, समन्वय एवं सभी में एकात्मता की भावना की स्थापना हो जाती तो अब तक यह सर्वधर्म समभाव या धर्म समन्वय हो जाना चाहिये था। परंतु मानव जाति की उत्पत्ति के हजारों वर्षों बाद भी अनेक धर्मों द्वारा, पैगंबरों द्वारा एकात्मता और विश्वैक्यता का संदेश देने के पश्चात् भी आज भी पृथ्वी पर विभेद, अशांति, कट्टरता एवं असहिष्णुताएं व्याप्त हैं। अतः वेद, उपनिषद्, कुरआन, गीता, निकाय, पिटक आदि के अध्ययन कर उनकी व्याख्याएं प्रस्तुत करने से एकात्मता, विश्वशांति, सर्वधर्म समभाव आदि की स्थापना नहीं हो सकती है। पृथ्वी पर वास्तविक आचरणात्मक सर्वधर्म समभाव के लिये मानव मन, बुद्धि और क्रिया के अनुरूप एक ऐसे नये धर्मतीर्थ, धर्मसंस्था रूप की स्थापना व उसकी विवेकाधारित, तर्कमूलक व्याख्या करने की आवश्यकता है जो मानव की ज्ञान, भाव एवं क्रिया इन तीनों वृत्तियों को संतुष्ट कर सकती हों। जो आस्तिक व नास्तिक, कर्मवादी व योगवादी, आध्यात्मवादी और भौतिकवादी सभी को समान रूप से स्वीकार्य हो। आवश्यकता है ऐसी व्याख्या की जो विश्व के सभी स्तर के मनुष्यों के मन, प्राण, व बुद्धि को आंदोलित कर सकें। स्पष्ट है कि यह नवीन परंपरागत धर्मों से हटकर किसी धर्म अथवा संस्था द्वारा ही संभव हो सकता है। नई दुनियां के नवीन धर्म और धर्म संस्था के लिये व्यवस्थित एक विश्व सरकार, एक विश्वराष्ट्र, एक सामंजस्यपूर्ण धर्मालय, आदि की व्यावहारिक योजना और उसकी परिणति होनी चाहिये। डॉ. राधाकृष्णन् के विचारों से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि वे सर्वधर्म समभाव के संबंध में वैचारिक व्याख्यात्मक दृष्टिकोण ही प्रस्तुत करते हैं। कोई योजना, या अपना धर्म सिद्धांत प्रस्तुत नहीं करते हैं। अतः सर्वधर्म समभाव के विषय में उनका दृष्टिकोण सैद्धांतिक, एकांगी एवं दृष्टिकोण मात्र ही माना जाएगा।

6.5 स्वामी सत्यभक्त (पं. दरबारी लाल-1899-1998)

वर्तमान में युगदृष्टि पर आधारित सर्वधर्म समभावपूर्ण धर्म चिंतन की व्यावहारिक परिणति महात्मा गांधी के समकालीन चिंतक स्वामी सत्यभक्त के दर्शन में भी उपलब्ध होती है। अतः दार्शनिकों व विद्वानों की दृष्टि से ओझल एवं उपेक्षित रहने वाले इस चिंतक के धर्म समभावपूर्ण चिंतन का समग्र किंतु संक्षिप्त परिचय दार्शनिक शोध स्तर पर प्रथम बार प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वामी सत्यभक्त ने धर्म और धर्म समभाव के विभिन्न पक्षों पर चर्चा करते हुए उसका व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया है। वे मानव वृत्ति के तीनों पक्षों यथा-ज्ञान, भाव एवं क्रिया के समन्वय को महत्वपूर्ण मानते हुए कालमोह, स्वत्वमोह आदि का त्याग कर, तुलना व निष्पक्षतापूर्वक समीक्षा कर धर्मों की सत्यता को ग्रहण करना एवं इनके (धर्मों के) विषय में योग्य शिष्टाचार/आदर का पालन करना-धर्म समभाव मानते हैं। व्यक्ति व समाज को सुखी बनाने के लिये मानव जीवन के लिये चौबीस संदेश/जीवन सूत्र[238] निर्देशित करते हैं ये है 1. विवेक 2. सर्वधर्म समभाव 3. सर्वजाति समभाव 4. नर-नारी समभाव 5. अहिंसा 6. सत्य 7. ईमान/अचौर्य 8. शील पालन 9. दुर्व्यसन त्याग 10. श्रमशीलता 11. निरतिग्रह (अतिसंग्रह न करना) 12. निरतिभोग (संयमित उपभोग) 13. बलशीलता 14. स्वतंत्रता व गौरवशीलता 15. सभ्यता/शिष्टाचार 16. पुरुषार्थ (प्रयत्नशील) 17. अंधविश्वास का त्याग 18. निःस्वार्थ सेवाभाव की वृद्धि 19. न्यायशीलता 20. नैतिक रूप से सुख-साधन की वृद्धि 21. मानवों की एक भाषा व लिपि 22. एक मानवराष्ट्र 23. विश्वकौटुंबिकता और 24. निःस्पृह कर्मयोग। इन जीवन सूत्रों से स्पष्ट होता है कि स्वामी सत्यभक्त के चिंतन में विवेक एवं समभाव को पर्याप्त महत्व देते हुए सर्वधर्म समभाव को स्वतंत्र सिद्धांत सूत्र के रूप में विशिष्ट स्थान दिया गया है।

वर्धा (बोरगांव) में महात्मा गांधी के समकालीन इस चिंतक ने धर्म समभाव/सर्वधर्म समभाव को न केवल सैद्धांतिक शब्द-आदर्श के रूप में ही प्रस्तुत किया है अपितु इस आधार पर एक नवीन/युगानुरूप सत्यसमाज व युगधर्म की स्थापना करने का प्रयत्न भी किया है। अतः लेबनान के भूतपूर्व मंत्री एवं नेता डा. जमाल जुम्लाट, जोसेफ सरकिस, सामी नामोर[239]; रूसी विद्वान वारान्निकोव[240], सत्यदेव विद्यालंकार (दिल्ली)[241] थियोसॉफिकल सोसायटी के अध्यक्ष जार्ज अरुंडले[242], नवाब मुहम्मद इस्माइल (अध्यक्ष, यू.

---

238. सत्यभक्त, जीवनसूत्र, सत्येश्वर गीता, 4-5, 6, 7, 8, 9, 10
239. बोहरा, संतोषचन्द, संस्मरणिका, पृ. 73
240. वही, पृ. 103, 104, 108; संगम, जून 1989, पृ. 103, 104
241. वही, पृ. 107
242. संगम, मई व जून 1941

पी. मुस्लिम लीग)[243], श्री मंज़र अली सोख्ता[244] आदि विद्वानों ने स्वामी सत्यभक्त के सर्वधर्म समभाव के आधार पर प्रस्तुत व्यवहारपूर्ण चिंतन को विश्व एकता का सर्वोत्तम प्रयत्न, मानवतावादी तर्कसंगत धर्म, सभी धर्मों को आदर प्रदान करने वाला, भेदभाव से रहित सार्वभौमिक भ्रातृत्वभाव उत्पन्न करने वाला मिशन/धर्म माना है। प्रो. ठाकुरदास बंग स्वामी सत्यभक्त को आधुनिक महर्षि, सर्वतोन्मुखी क्रांति के प्रवर्त्तक, सत्यधर्म/युगधर्म के रूप में विश्व-धर्म एवं सत्यसमाज के सफल संस्थापक कहते हैं।[245] जातिपांति तोड़क मंडल के संचालक संतराम एवं कई पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों ने अपने संपादकीय वक्तव्य में, स्वामी सत्यभक्त द्वारा संस्थापित धर्म को किसी अन्य धर्म की व राजनीति संस्था की शाखा-संप्रदाय के रूप में न मानते हुए भेदभाव रहित, मौलिक, युगानुरूप ऐसा सत्यधर्म कहा है जिसमें सभी धर्मों के प्रति आदर अपनाया गया है और आस्तिक व नास्तिक दोनों की गुज़र हो सकती है।[246] अतः सर्वधर्म समभाव/धर्म समभाव की दृष्टि से उनका धर्म समभावयुक्त चिंतन-विवेचन उपादेय प्रतीत होता है।

रविंद्रनाथ टैगोर, शरतचंद बोस, डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, सेठ राजमल ललवानी, सर मिर्ज़ा मोहम्मद इस्माईल (भुतपूर्व दीवान, मैसूर स्टेट) आदि ने स्वामी सत्यभक्त के द्वारा सत्यसमाज के रूप में सर्वधर्म समभाव की विवेकपूर्ण व्यावहारिक परिणति तथा भेद रहित मानव एकता के सक्रिय प्रयासों को बधाईपूर्ण एवं शुभ माना है।[247] अतः समसामयिक दृष्टि से स्वामी सत्यभक्त के धर्म समभाव के चिंतन पर चर्चा करना और भी अधिक आवश्यक प्रतीत होता है।

धर्म समभाव की परिभाषा, अर्थ, स्वरूप/विशेषताएं आदि के विषय में उनके विचारों की स्पष्ट चर्चा द्वितीय सोपान में की जा चुकी है। इसलिये इनकी पुनरावृत्ति न करते हुए संक्षेप में यह कहना पर्याप्त होगा कि स्वामी सत्यभक्त धर्म समभाव[248] के अंतर्गत सत्यशोधकता, धार्मिक द्वंद परिहार, अनेकांत दृष्टिलब्धि, स्वत्वमोह विजय, इतिहास प्रकाश, कृतघ्नता परिहार, धर्म मर्मज्ञता और सामाजिकता वृद्धि-इन आठ तत्वों को आवश्यक मानते हैं।[249] वे सर्वधर्म समभाव में चेतनात्मक आधार पर सर्वभूत

---

243. वही, मई व जून 1941

24. वही, मई व जून 1941

245. बोहरा, संतोषचंद, संस्मरणिका, पृ. 147-149; संगम (मासिक) नव. 1947

246. संतराम, संगम, मार्च 1947; भारती, काश्मीर, उद्धृत-संगम 1989, पृ. 149; कर्वे (संपा.), मराठी समाज स्वास्थ्य, सम्पादकीय टिप्पणी, उदधृत-संगम, अगस्त 1989, पृ. 152; जननी (मासिक इलाहाबाद), उद्धृत-संगम, अगस्त 1989, पृ. 152

247. संगम, मई व जून 1941 (धर्म समभाव अधिवेशन)

248. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 125।।

249. वही, पृ. 126।।

समता/विश्वप्रेम, राग-द्वेष से परे निष्पक्षता एवं अनासक्ति तथा सभी धर्मों के प्रति विवेकपूर्ण दृष्टि अपनाते हुए उनके प्रति समभावपूर्ण व्यवहार/आदरभाव रखना मानते हैं।[250] वे स्पष्ट करते हैं कि धर्म समभाव में धर्म का अर्थ मानव जीवन के लिये कल्याणकर सच्ची योजना[251] एवं विश्व में सुखवर्धन करना है।[252] यह सुखवर्धन व कल्याण देश व काल के अंतर्गत माना है।

अतः वर्तमान युगदृष्टि व विकास के परिप्रेक्ष्य में युग सत्य के अनुरूप सत्यधर्म होना चाहिये, जिससे मानव के ज्ञान, भाव व क्रिया में समन्वय हो सके। धर्मों के पूर्ण सत्य ज्ञान एवं धर्म समभाव के लिये वे परंपरागत धर्मों की विवेकपूर्ण समीक्षा[253] करना आवश्यक मानते हैं। यह समीक्षा करते समय निष्पक्ष परीक्षकता (बुद्धि, तर्क, प्रमाण, संश्लेषण, विश्लेषण, आलोचना, युक्ति) एवं समन्वयशीलता का ध्यान रखना चाहिये।[254] इस प्रकार से अच्छे-बुरे/कल्याण-अकल्याण/सत्य-असत्य का उचित निर्णय करना ही विवेक है। इस समीक्षा के आधार पर वे विभिन्न धर्मों/पंथों के उस चिंतन से बचने का निर्देश देते हैं, जिनसे व्यक्ति व समाज भ्रमित होते हैं, उनमें असमानता, असहिष्णुता, मिथ्या अहंकार, अंधविश्वास, मिथ्या दृष्टिकोण आदि उत्पन्न होते हैं।[255] उनके अनुसार सर्वधर्म समभाव के लिये धर्मों के उचित गुणदर्शन (गुणों को देखना व उन पर विचार करना) के साथ-साथ उचित दोषदर्शन (दोषों को देखना व उन पर विचार करना) करना चाहिये।[256] इस समीक्षा के अंतर्गत वे विभिन्न धर्मों की मान्यताओं के आधार पर विकसित जातिवाद, वर्गवाद, युद्ध-संघर्ष, पापोत्तेजक भक्ति, अंधविश्वास, कर्मकांड, बलि, नारी-निंदा, संकुचितता, परलोक की भ्रमित करने वाली मान्यताएं, सर्वज्ञतावाद, मंत्र-तंत्र, चमत्कार आदि का उल्लेख करते हैं तथा इन्हें वे समाज के लिये हानिकारक मानते हैं। वर्तमान युग विकास के अनुरूप न होने के कारण इनके प्रति अंधश्रद्धालु न होते हुए इनका त्याग करने एवं धर्मों में पाये जाने वाले गुणों का दर्शन कर उनके एवं उनके महामानवों के प्रति कृतज्ञतापूर्वक सन्मान/आदरभाव रखना मानते हैं।[257]

---

250. वही, पृ. 129।। - 130।।; इसी पुस्तक का द्वितीय सोपान – धर्म समभाव की अवधारणा
251. वही, पृ. 130।।
252. सत्यभक्त, धर्म मीमांसा, पृ. 35-45; सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 125 I-II, 42-49; तुलना-विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, द्वि. खं., पृ. 254, षष्ट खं., पृ. 272
253. सत्यभक्त, धर्म समीक्षा, पृ. 5
254. वही, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 111
255. वही, धर्म समीक्षा; संतपंथ समीक्षा
256. सत्यभक्त, धर्म समीक्षा, पृ. 5
257. वही, पृ. 7-8, 37-38; 40, 48, 64-65, 66-67; 68-69, 90-91; 92, 100-101; सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 125।। - 126।।

उनकी मान्यता है कि राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा (जीसस), मुहम्मद आदि महामानवों के युग व्यतीत हो गये हैं उनके सभी संदेश व कार्यों के संदर्भ में वर्तमान युग की समस्याओं, व जिज्ञासाओं का निराकरण नहीं किया जा सकता हैं, परंतु अपने युग में उन्होंने मानव समाज के लिये हितकर पथप्रदर्शन किया अतः आज भी कृतज्ञतापूर्वक वंदनीय हैं, आदरणीय हैं।[258] वे यह भी मानते हैं कि परंपरागत सभी धर्म वर्तमान आधुनिक एवं वैज्ञानिक युगदृष्टि के आधार पर युगबाह्य[259] एवं अपूर्ण हैं[260] अतः उनमें देश-काल के अनुसार सुधार एवं परिवर्तन कर उनकी नीति व संदेश को व्यापक और उदार बनाया जाना चाहिये।[261] प्रत्येक धर्म सामयिक सत्य[262] अर्थात् अपने समय का सत्य होता है, उनसे वर्तमान में प्रेरणा ली जा सकती है किंतु उन्हें आज के युगानुरूप सर्वधर्म समभावी युगधर्म नहीं माना जा सकता है। इसलिये स्वामी सत्यभक्त आधुनिक युग विकास के अनुरूप सर्वधर्म समभाव के लिये नये सत्यधर्म (युगधर्म)[263] एवं आदर्श धर्म समाज के रूप में सत्यसमाज (जो इस सर्वधर्म समभावी सत्यधर्म का पालन व्यवहारतः करता है)[264] की स्थापना करते हैं। उनके द्वारा स्थापित युगधर्म को युवाधर्म भी कहा गया है।[265] उन्होंने सर्वधर्म समभाव की दृष्टि से 17 सितंबर 1934 को सत्यसमाज (बंबई में) एवं 2 मई 1936 को वर्धा में सत्याश्रम[266] की शृंखला के क्रम में 1938 में सर्वधर्म समभावी धर्मस्थान/धर्मालय की स्थापना की। इस धर्मालय को सत्यमंदिर एवं मानवभाषा (स्वामी सत्यभक्त द्वारा रचित नई भाषा) में 'सत्यार'[267] भी कहा गया है। 'सत्यार' का अर्थ है 'सत्य की प्रेरणा देने वाला।'[268]

स्वामी सत्यभक्त अपने द्वारा स्थापित धर्मालय को मंदिर/मस्ज़िद/चर्च/गुरुद्वारा/अगयारि

---

258. सत्यभक्त, धर्म समीक्षा, पृ. 126, 128, 131; दिव्य दर्शन, पृ. 191-192

259. वही, पृ. 129; सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 131।

260. वही, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 154

261. वही, पृ. 154।।; धर्म समीक्षा, पृ. 128

262. वही, पृ. 125।।

263. वही, कैसा धर्म चाहिये? पृ. ।।

264. वही, सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. 630।।; दृष्टिकांड, पृ. 131।।

265. वही, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 131।

266. बोहरा, संतोषचंद, संस्मरणिका, पृ. 25; सत्यभक्त, आत्मकथा, पृ. 268-270

267. सत्यभक्त, संगम, अगस्त 1989, पृ. 156; सत्यार परिचय, पृ. 1

268. सत्यार परिचय, पृ. 1

(पारसी धर्म स्थान) आदि नाम से विभूषित नहीं करते हैं। इसका प्रथम कारण यह माना जा सकता है कि इन नामो के द्वारा परंपरागत धर्म के धर्मस्थान होने का अर्थबोध होता है। द्वितीय कारण यह है कि सामान्यतया जनमानस इन्हें किसी प्रचलित परंपरागत धर्म विशेष से संबद्ध कर संकुचित दृष्टिकोण से ही देखता है और एक धर्म का अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायी के धर्म स्थान पर जाने में प्रायः हिचकिचाता है। तृतीय कारण यह है कि मंदिर, मस्ज़िद, चर्च, गुरुद्वारा आदि धर्म स्थान सर्वधर्म समभाव/अनेक धर्म समन्वय का नहीं वरन् एक-एक धर्म विशेष के धर्म स्थान होने का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः स्वामी सत्यभक्त सर्वधर्म समभाव की दृष्टि से अनेक धर्मों का समन्वय करते हुए व्यापक अर्थ में सत्यधर्म/सत्यसमाज के धर्मालय को 'सत्यार' नाम देते हैं। जिससे इसके मात्र हिन्दू धर्म स्थान होने का या जैन धर्म स्थान होने का या पारसी धर्म स्थान होने का या चर्च होने का भ्रम उत्पन्न न हो और सभी प्रकार की धर्मवृत्ति वाले व्यक्ति निःसंकोचपूर्वक उससे सत्य प्रेरणा प्राप्त कर सकें।[269]

धर्मालय 'सत्यार' में भावनात्मक स्तर पर मूल धर्म के प्रतीक रूप में परमपिता-भगवान सत्य अथवा सत्येश्वर (सत्येशा)[270] एवं मातामही भगवती अहिंसा (मम्मेशी)[271] की प्रतीक मूर्तियाँ-प्रधानता की दृष्टि से मध्य में रखी गयी हैं और इनके बाजुओं की ओर विभिन्न धर्मों के प्रमुख महामानवों (पैग़ंबरों) की मूर्तियाँ रखी गयी हैं। जैसे : हिन्दू धर्म के राम व कृष्ण, जैन धर्म के महावीर, बौद्ध धर्म के बुद्ध, ईसाई धर्म के ईसा, पारसी धर्म के जरथुस्त और इस्लाम धर्म के प्रतीक रूप मक्का व मदीना के चित्र आदि हैं। स्वामी सत्यभक्त के अनुसार सत्यसमाज के 'सत्यार' में इस्लाम धर्म का प्रतिनिधित्व मक्का और मदीना के चित्र करते हैं।[272] इसका प्रथम कारण यह दिया गया है कि 'सन् 1938-39 में जब 'सत्यमंदिर' अर्थात् 'सत्यार' बना तब हिन्दू-मुस्लिम तनावों के कारण मुहम्मद साहब की मूर्ति रखना क्षोभ का कारण हो जाता।'[273] द्वितीय यह कि तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए स्व. मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद ने भी अनुरोध किया कि मुहम्मद सा. की मूर्ति न रखी जाए और मक्का-मदीना के चित्र ही रखे रहने दिये जाए।[274] तृतीय कारण यह है कि इस्लाम धर्म में मूर्ति पूजा का विरोध किये जाने से मुहम्मद की कोई मूर्ति या

---

269. सत्यार परिचय, पृ. 1

270. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 12।।

271. वही, पृ. 14।।; व्यवहारकांड, पृ. 650।।

272. बोहरा, संतोषचंद, संस्मरणिका, पृ. 62; सत्यार परिचय, पृ. 11-12

273. सत्यभक्त, 'मुस्लिम धर्म समीक्षा', धर्म समीक्षा, पृ. 40

274. वही, पृ. 40; बोहरा, संतोषचंद, संस्मरणिका, पृ. 62

चित्र उपलब्ध नहीं होता है अतः सर्वधर्म समभाव की दृष्टि से उपलब्ध मक्का और मदीना के चित्रों को ही इस्लाम धर्म के प्रतीक प्रतिनिधि मान लिया गया है। देश-काल एवं परिस्थिति के आधार पर महामानवों की इन मूर्तियों अथवा चित्रों में वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार सर्वधर्म समभाव के धर्मालय में एक ही वेदी पर विभिन्न धर्मों के अवतार, तीर्थंकर, पैग़ंबर, संस्थापक आदि के रूप में स्वीकृति महामानवों की मूर्तियों एवं चित्रों का रहना स्वीकार किया गया है।[275]

धर्मालय 'सत्यार' में मूर्तियाँ रखने के कारण विद्वानों द्वारा प्रश्न उठाये गये हैं कि सत्यसमाज के धर्मालय में मूर्तियाँ रखने से मूर्तिपूजा का प्रचलन ही बढ़ेगा और मूर्तिपूजा तो एक प्रकार की अज्ञानता या बचपना है।[276] मूर्ति का आदर्श सामने रख देने से लोग अपना मूल उद्देश्य भूल जाते हैं और मूर्ति (मूर्तिपूजा) में ही फंस कर रह जाते हैं अतः मूर्ति रखना उचित नहीं है[277]। बंबई के तत्कालीन दैनिक उर्दू पत्र-'हिलाले नो' के द्वारा स्वामी सत्यभक्त के विचारों पर टिप्पणी करते हुए प्रश्न उठाया गया है कि इस्लाम धर्म में मूर्तिपूजा को नहीं माना गया है, उनका विरोध किया गया है, तब सत्यसमाज में सर्वधर्म समभाव के अंतर्गत इसे मान्यता देना आश्चर्य का विषय है। इसे मुसलमान किसी भी कीमत पर स्वीकार न कर सकेंगे।[278]

स्वामी सत्यभक्त द्वारा इन प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं। उनके अनुसार-मनुष्य में जब तक हृदय अथवा भावना है तब तक मूर्ति या चित्र उसके लिये प्रभावकारी मौन भाषा रहेंगे। धर्म के क्षेत्र में ही नहीं अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव के इस भाव-स्वभाव का परिचय मिलता है। किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय झंडे व धार्मिक झंडे का विशेष रूप से आदर करना, अच्छे स्मारक, चित्र आदि का आदर करना, घरों में शोभा बढ़ाने हेतु व आदरणीय व्यक्तियों के चित्र लगाने का भाव प्रत्येक समाज के अधिकांश व्यक्तियों (प्रोटेस्टेंट व इस्लाम के लोगों में भी) के स्वभाव में न्यूनाधिक रूप से सम्मिलित है।[279] इस दृष्टि से बालक, युवा, वृद्ध, शिक्षित, अशिक्षित, गरीब-अमीर आदि में कोई भेद नहीं है। अंतर सिर्फ कलाकृति के आकार प्रकार का है। जब तक मनुष्य के इस स्वभाव में परिवर्तन नहीं हो जाता और कला-भाव से

---

275. सत्यभक्त, सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. 650।।, 655।।; अनमोल पत्र, पृ. 25-26

276. वही, पृ. 652।

277. वही, सुलझी हुई गुत्थियाँ, पृ. 9

278. वही, पृ. 70-71; सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. 652।

279. वही, पृ. 652।

उसे आनंद की प्राप्ति होती रहती है तब तक उसके जीवन में मूर्ति/चित्र की उपयोगिता रहेगी।[280] उनके अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव के इस स्वभाव को नष्ट नहीं किया जा सकता है।[281]

इसके अतिरिक्त वे स्पष्ट करते हैं कि सत्यसमाज का प्रमुख उद्देश्य सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिये सर्वधर्म समभाव को व्यावहारिक बनाना है।[282] शिक्षित और अशिक्षित, बच्चों, युवकों-युवतियों, वृद्धों, देशी-विदेशी आदि सभी में सर्वधर्म समभाव के विचार उत्पन्न करना है। सत्यसमाजी को सभी धर्मों के धर्मस्थानों के उपयोग का व्यवहारतः अभ्यास करना है। अतः धर्मालय का यह अभ्यास उसे निःसंकोच भाव से सभी धर्मों के धर्मस्थलों में जाने की प्रेरणा देगा।[283] अशिक्षित व्यक्ति के मन में भी धर्मालय की मूर्तियों के माध्यम से अर्थात् उन्हें देखकर सर्वधर्म समभाव के विचार उत्पन्न हो सकेंगे।[284] अतः सत्यसमाज के धर्मालय में सर्वधर्म समभाव के लिये वे मूर्ति रखना आवश्यक समझते हैं।

उनके अनुसार मनुष्य कलाप्रिय है, वह मूर्ति, चित्र आदि कलाओं के द्वारा भी सुख व आनंद प्राप्त करता है, विश्वकल्याण एवं सुख की दृष्टि से वह मूर्ति का उपयोग करता है और करना भी चाहिये।[285] वे स्पष्ट करते हैं कि मानव जीवन से मूर्ति का बहिष्कार कर पाना असफल हुआ है। इस्लाम धर्म ने यद्यपि मूर्तिपूजा के बहिष्कार पर सर्वाधिक बल दिया है परंतु मुसलमानों में क़ब्रों, ताज़ियों के विधि-विधान आदि मूर्तिपूजा से कम नहीं है।[286] मुस्लिमों का 'संगे-असवद' (क़ाबा में स्थित पवित्र पत्थर) के प्रति आदरभाव रखना, उसे पूज्य समझना एक प्रकार से मूर्ति पूजा का चिह्न रूप ही है।[287] वे स्पष्ट करते हैं कि यदि क़ाबा (क़िब्ला) की ओर मुँह करके नमाज़ पढ़ना क़ाबा पत्थर की इबादत (प्रार्थना, पूजा) नहीं है, अल्लाह की इबादत है तो मूर्ति की ओर मुँह करके पूजा करना भी मूर्ति की पूजा करना नही वरन् ईश्वर की पूजा, प्रार्थना करना है।[288] इस प्रकार मूर्ति के प्रयोग में भाव महत्वपूर्ण कारक है इससे स्पष्ट होता है कि स्वामी सत्यभक्त मूर्ति की पूजा करने को मान्यता नहीं देते हैं, अपितु मूर्ति के माध्यम से ईश्वर की

---

280. वही, सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. 652।-।।; तुलना-विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 149
281. वही, पृ. 652।।
282. वही, पृ. 652।।
283. वही, पृ. 652।।
284. वही, पृ. 652।।
285. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 652।।
286. वही, पृ. 653।
287. वही, पृ. 655।।; सुलझी हुई गुत्थियाँ, पृ. 76
288. वही, पृ. 655।; वही, पृ. 78

पूजा करना स्वीकार करते हैं।

स्वामी सत्यभक्त के अनुसार मूर्ति का उपयोग दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो मूर्ति की पूजा के रूप में दूसरा मूर्ति से पूजा के रूप में।[289] मूर्ति की पूजा के रूप में मूर्ति ही मुख्य होती है तथा मूर्ति को ही देवता/ईश्वर समझकर पूजा जाता हैं। जबकि मूर्ति से पूजा में मूर्ति की पूजा नहीं है अपितु परमसत्ता के प्रतीक रूप में माने गये ईश्वर/देवता की पूजा है, मूर्ति तो पूजा के लिये प्रयुक्त किया गया एक अवलंबन/सहारा मात्र है।[290] मूर्ति से पूजा/मूर्ति के द्वारा की जाने वाली पूजा में उपासक या प्रार्थना करने वाला पत्थर की मूर्ति के गुणों जैसे-उसके चिकनेपन, चमकीलेपन, भारीपन आदि का वर्णन नहीं करता है। वरन् वह ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता, हितोपदेशकता आदि भाव-गुणों का वर्णन करता है। अतः मूर्ति का उपयोग करने वालों की आलोचना या हंसी न उड़ाकर मूर्ति के आगे की जाने वाली प्रार्थना में निहित अर्थ को समझना चाहिये।[291] उनके अनुसार मूर्तिपूजा के इन दोनों रूपों के अंतर को समझ लेने पर मूर्ति के द्वारा या मूर्ति के सहारे पूजा करने पर विरोध नहीं रहता है।[292] वे स्पष्ट करते हैं कि मूर्ति की पूजा और मूर्ति से पूजा-इन दोनों के लिये प्रायः एक ही शब्द-मूर्तिपूजा का प्रचलन होने से समस्या उत्पन्न होती है।[293] अतः शब्द के भाव अर्थ का ग्रहण किया जाना चाहिये।

स्वामी सत्यभक्त इस्लाम धर्म में किये गये, मूर्तिपूजा के विरोध के संबंध में उठाये गये प्रश्नों का युक्तिपूर्वक स्पष्ट उत्तर देते हैं कि पैग़ंबर मुहम्मद के समय में अरब में मूर्तिपूजा के रूप में मूर्ति की पूजा की जाती थी और उसके कारण देश में विभाजन (छोटे-छोटे टुकड़े) हो गये थे अतः उन्हें वहाँ मूर्तिपूजा का विरोध करना पड़ा।[294] उनके अनुसार पैग़ंबर मुहम्मद ने जिस मूर्तिपूजा का विरोध किया वह मूर्ति की पूजा (बुतपरस्ती) का है। इस विरोध को मूर्ति से पूजा के अर्थ में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिये। कारण कि इस्लाम धर्म में स्पष्टतः माना गया है कि 'हर क़ौम के पूजा-पाठ के तरीके जुदा-जुदा है। इस्लाम किसी के तरीके में बाधा नहीं डालना चाहता है।' इस्लाम धर्म में अन्य धर्मों के प्रति उदारता, सम्मान आदि के विचारों का उल्लेख[295] करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि इस्लाम धर्म प्रत्येक राष्ट्र, जाति और समुदाय में

289. वही, पृ. 654।; वही, पृ. 75

290. वही, पृ. 654।

291. वही, पृ. 655।

292. वही, सुलझी हुई गुत्थियाँ, पृ. 80

293. वही, पृ. 75

294. सत्यभक्त, सुलझी हुई गुत्थियाँ, पृ. 75; सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 155।; व्यवहारकांड, पृ. 654।।; कुर. शरीफ़, सूरा 2/164-165, फुटनोट पृ. 59; सूरा 103 (360 देवता)

295. वही, सुलझी हुई गुत्थियाँ, पृ. 71, 72-73, 78, 84

पैग़ंबर मानता है प्रत्येक दिशा में ख़ुदा को देखता है, किसी से भी व क़िताब वाले से झगड़ा नहीं करना चाहता है, यह सब कहे जाने पर भी यदि अन्य धर्मों व क़िताब वालों के प्रति इस्लाम धर्म के अनुयायी असहिष्णु होकर धर्म के नाम पर संघर्ष और विभाजन करने की ओर उन्मुख होते हों, अन्य धर्म स्थानों को नापाक़ कहते हों तो इसका मुख्य कारण यही है कि इस्लाम धर्म के अधिकांश अनुयायी इस्लाम का और मूर्तिपूजा के विरोध का अर्थ सही रूप में नहीं समझ सकें हैं।[296] जो इस अर्थ को समझते हैं वे परस्पर समभावपूर्ण व्यवहार करते हैं।

अतः स्वामी सत्यभक्त एक धर्म के अनुयायियों द्वारा दूसरे धर्म के अनुयायियों पर अनाचार, हिंसा, विरोध आदि को अनुचित मानते हुए धर्म के मूल उद्देश्य को पूरा करने के लिये धर्म सिद्धांतों में निहित अर्थ को सही रूप में समझने पर बल देते हैं।[297] वे अपने व्यावहारिक अनुभव के आधार पर स्पष्ट करते हैं कि कोई मुसलमान अपने घरों में अपने वंश, परिवार के सदस्यों, नवाबों, बादशाहों, मक्का-मदीना आदि के चित्रों का प्रयोग करते हैं परंतु इस्लाम के सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति/पैग़ंबर का चित्र बनाना व लगाना पसंद नहीं करते हैं, क्यों? सिर्फ इसलिये कि मुहम्मद सा. ने अपना चित्र और क़ब्र बनाने के लिये मना किया था। मुहम्मद सा. का यह त्याग, उदारता, नम्रता, सरलता व सच्चाई आदि प्रशंसनीय है। वे जानते थे कि चित्र, क़ब्र, मूर्ति पूजा आदि बनाने पर व्यक्ति प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से या जाने अनजाने में मूर्तिपूजा/चित्र पूजा, अहंकार आदि के आडंबर की ओर अग्रसर हो सकता है। अतः मानव-मन की इस वृत्ति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इनका निषेध किया था। परंतु विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या मुसलमानों ने वास्तव में उनके आदेशों का पालन किया है?[298] इस संबंध में वे तर्क देते हैं कि यदि इस्लाम धर्म के सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति/पैग़ंबर ने अपना चित्र व क़ब्र बनाने के लिये मना किया था इसलिये उनका चित्र और क़ब्र नहीं बनायी गयी तो फिर मुहम्मद सा. से अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति कौन हो सकता है जिसका कि चित्र और क़ब्र बनायी जा सके, और यदि दूसरों के चित्र या क़ब्र बना सकते हैं तब मुहम्मद सा. के क्यों नहीं।[299] कहने का अर्थ है कि यदि मुहम्मद सा. से कम महत्वपूर्ण व्यक्तियों को सम्मान देने की दृष्टि से चित्र का उपयोग किया जाना अनुचित नहीं माना जाता है तो फिर मुहम्मद सा. जैसे महत्वपूर्ण व्यक्ति के चित्र का उपयोग भी किया जाना अनुचित नहीं माना जाना चाहिये।

उपर्युक्त सन्दर्भ में स्वामी सत्यभक्त स्पष्टतः कहते हैं कि इसका कारण यही है कि मुसलमानों ने

---

296. वही, पृ. 80-81

297. वही, पृ. 82

298. वही, पृ. 89

299. वही, पृ. 89-90

इस्लाम के अर्थ व मूल आदर्श को विस्मृत कर मात्र शाब्दिक आधार पर बुतपरस्ती अथवा मूर्ति बहिष्कार को माना है।[300] इसका अर्थ यह है कि बहुत से मुसलमान कुरआन, क़ाबा स्थित पवित्र पत्थर और कई चित्रों का सम्मान बुत (मूर्ति) की तरह करते हैं, दरग़ाह, मज़ार आदि की पूजा, धूप, अगरबत्ती, फूल-माला आदि करते हैं, चढ़ावा चढ़ाते हैं जो एक प्रकार से मूर्ति पूजा की भांति ही है। इस प्रकार इस्लाम में मूर्ति पूजा का बहिष्कार करने का प्रयास पूर्ण सफल नहीं हुआ है, वह किसी न किसी रूप में प्रचलित रहा है। इसलिये वे इस्लाम धर्मावलंबियों से मज़हब की रूह (धर्म की आत्मा) को समझने की बात करते हुए सच्चे मुसलमान बनने का निवेदन करते हैं।[301] उनके अनुसार इस्लाम धर्म के मूल आदर्श, शब्दों के पालन से नहीं वरन् असहिष्णुता का त्याग कर अधिक से अधिक भाईचारा बढ़ाने, अन्य धर्म वाले मुस्लिमों पर विश्वास कर सकें-ऐसे कार्य करने, परस्पर धर्म समभाव और जाति समभाव बढ़ाने से ही प्राप्त हो सकते हैं।[302] अतः स्वामी सत्यभक्त सर्वधर्म समभाव की दृष्टि से इस्लाम धर्मावलंबियों (मुस्लिमों) से यह आशा करते हैं कि-वे मूर्ति या पत्थर को-परमेश्वर समझने का अर्थ न करें और सभी धर्मों के पैग़ंबरों के प्रति सम्मान का भाव रखें एवं व्यवहारतः उनको भी अल्लाह के रसूल/पैग़ंबर समझे।[303]

वस्तुतः स्वामी सत्यभक्त धर्मालय 'सत्यार' में धर्म समभाव की दृष्टि से एवं अधिकांश व्यक्तियों की अवलंबन लेने की मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुए ही, इसका (मूर्ति/चित्र) समर्थन करते हैं। जो व्यक्ति ज्ञानप्रधान हैं या मूर्ति रखने में रुचि नहीं रखते हैं; बिना मूर्ति का अवलंबन लिये ही परमसत्य/ईश्वर, सत्य, सदाचार, नम्रता, विश्व-कल्याण आदि की ओर अग्रसर हो सकते हैं उन्हें मूर्ति का अवलंबन लेने की या उसका उपयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है।[304] मनुष्य जब बौद्धिक व भावनात्मक रूप से इतना सशक्त हो जाए कि वह बिना अवलंबन के भी अपना उद्देश्य प्राप्त कर सके तो फिर नैतिकता व धर्म के लिये या आत्मविकास के लिये किसी भी सहारे/अवलंबन की आवश्यकता नहीं होगी। परंतु वर्तमान युग में अधिकांश भाव प्रधान व्यक्तियों को आत्मविकास के लिये और सर्वधर्म समभाव के लिये प्रतीक रूप में अवलंबन की आवश्यकता है।[305] अतः वे इसका (मूर्ति का) समर्थन करते हैं।

---

300. सत्यभक्त, सुलझी हुई गुत्थियाँ, पृ. 91; सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. 653।

301. वही, पृ. 93

302. वही, पृ. 93

303. वही, पृ. 93-94, 95

304. सत्यभक्त, सुलझी हुई गुत्थियाँ, पृ. 9-10; सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. 655 ।-।।; तुलना-विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 155-156, 157-159

305. वही, सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. 655।।

स्वामी सत्यभक्त द्वारा सत्यसमाज के सर्वधर्म समभाव के लिये व्यावहारिक रूप से स्थापित धर्मालय 'सत्यार' में रखी गयी मूर्तियों के संबंध में उठाये गये प्रश्नों के समाधान के बाद सर्वधर्म संमभाव एवं युगानुरूप धर्म की दृष्टि से किये गये चिंतन का अवलोकन आवश्यक है। यहाँ यह विशेष ध्यान में रखने योग्य है कि स्वामी सत्यभक्त धर्म एवं धर्म समभाव के विषय में सिद्धांत व व्यवहार के समन्वय को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार सत्य धर्म का अर्थ विवेकपूर्वक सबके प्रति कल्याणमय एवं समभावपूर्ण होना है। अतः उनके अनुसार इस आदर्श के वर्णन/ व्याख्या आदि के लिये भी यथासंभव ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिये कि उससे निष्पक्ष समत्वभाव दृष्टिगत होता हो तथा पक्षपातपूर्णता या विषमभाव के होने का भ्रम/संदेह न होता हो। वे इन सभी दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए परमसत्ता का विवेचन प्रस्तुत करते हैं और सर्वधर्म समभाव की व्यवहार्य दृष्टि से एक ही वेदी पर परमसत्ता के साथ विभिन्न धर्मों को आदरपूर्ण प्रतिनिधित्व/स्थान भी देते हैं। अतः इनके संबंध में संक्षिप्त चर्चा करना यहाँ आवश्यक है।

स्वामी सत्यभक्त परमसत्ता के सबंध में दो दृष्टियों यथा-ईश्वरवादी दृष्टि और अनीश्वरवादी दृष्टि से विचार करते हैं।[306] उनके अनुसार हजारों वर्षों से कई विद्वत्जन उसे परमसत् या ईश्वर के रूप में जानने का प्रयास करते रहे हैं और फिर भी उसे अगम, अगोचर और रहस्मय माना गया है।[307] ईश्वरवादी उस सृष्टिकर्त्ता व सृष्टि का मूल, रक्षक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, न्यायप्रिय एवं परम शुभमय मानते हैं तो अनीश्वरवादी के अनुसार ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो सृष्टिकर्त्ता हो। इनके (अनीश्वरवादी) अनुसार सृष्टि के समस्त कार्य प्रकृति के अनुसार होते हैं। अतः इनके द्वारा माना गया है कि ईश्वरवाद द्वारा वर्णित सभी गुण असिद्ध व युक्ति विरोधी हैं।[308] दोनों पक्ष ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद तर्क-वितर्क द्वारा एक दूसरे का खंडन व स्वमत का मंडन करते हैं। किंतु दोनों पक्षों का उद्देश्य सत्योपलब्धि करना है स्वामी सत्यभक्त के अनुसार इन दोनों की मान्यता है कि सत्य के बिना कल्याण-अकल्याण, शुभ-अशुभ, सुपथ-कुपथ आदि का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते हैं और न ही किसी प्रकार के स्वपर कल्याण की ओर अग्रसर हो सकते हैं।[309] अर्थात् दोनों के अनुसार सत्य के अभाव में न स्वयं आनंदित, सुखी हो सकते हैं और न ही समाज एवं विश्व को आनंदित और सुखी कर सकते हैं। इस प्रकार ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों ही सत्य को एवं मानव कल्याण या भलाई को स्वीकार करते हैं। अतः स्वामी 'सत्यभक्त' ईश्वर के

---

306. सत्यभक्त, सत्यामृत-(व्यवहारकांड), पृ. 12।।, 13।

307. वही, पृ. 12।।

308. वही, पृ. 12।।

309. वही, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 12।।

27—259 Min. of H.R.D./2005

स्थान पर सत्य को प्रतिष्ठित करना अधिक उपयोगी समझते हैं।[310] कारण कि सत्य किसी एक ही धर्म विशेष या मत विशेष का प्रतीक तत्व नहीं है। सत्य को ईश्वरवादी, एवं अनीश्वरवादी एवं भौतिकवादी, आत्मवादी एवं अनात्मवादी सभी स्वीकार करते हैं और उसकी उपलब्धि करना ही मूल उद्देश्य माना गया है। ईश्वरवादी सत्य को परमतत्व, चिद्ब्रह्म, ईश्वर या भगवान आदि से संबोधित करते हैं और उसे न्यायप्रिय एवं शुभ मानते हैं। अनीश्वरवादी सत्य में नियम व्यवस्था और प्रकृति को देखते हैं और उसे ही उचित एवं शुभ मानते हैं। अर्थात् दोनों ही उससे आनंद की प्राप्ति करते हैं।[311]

स्वामी सत्यभक्त के अनुसार ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी (जिनमें अनुभववादी व वैज्ञानिक प्रमुख हैं)–दोनों ही सत्, चित् और आनंद अर्थात् सच्चिदानंद[312] को स्वीकार करते हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि अनीश्वरवादी व वैज्ञानिकों के अनुसार सत् में से चित् (चैतन्य) की सृष्टि और चित् में से आनंद की सृष्टि हुई है।[313] धार्मिक ईश्वरवादियों की विचारधारा भी मानती है कि सत् में से चित् की सृष्टि हो या न हो पर यह असंदिग्ध है कि सत् का सार अर्थात् उसका उत्तम अंश चित्त् है औ चित् का सार आनंद है।[314] इस प्रकार अनीश्वरवाद और ईश्वरवाद-दोनों ही मूल में सत् को मानते हैं।[315] अतः दोनों ही मत सच्चिदानंद के साधक है।[316]

स्वामी सत्यभक्त इस सच्चिदानंद को बौद्धिक स्तर पर सत्य एवं भावनात्मक स्तर पर भगवान सत्य या सत्येश्वर (सत्येशा) कहते हैं।[317] भावनात्मक स्तर पर यह ईश्वरवाद को पुष्ट करता है और बौद्धिक स्तर पर सत्य की प्रतिष्ठा के रूप में अनीश्वरवाद को पुष्ट करता है।[318] उनके अनुसार जो व्यक्ति भाव प्रधान हैं वे ईश्वरवादी होकर ईश्वर सत्य अर्थात् सत्येश्वर की-सच्चिदानंद स्वरूप (सत् का सार चित् और चित् का सार आनंद) की साधना करें और जो बुद्धि प्रधान हैं, तर्क प्रधान हैं वे अनीश्वरवादी होकर सत्य

---

310. वही, पृ. 12।।

311. वही, पृ. 12।।

312. वही, पृ. 13, 12।।

313. वही, पृ. 12।। - 13।

314. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 13।

315. वही, पृ. 12।।

316. वही, पृ. 13।

317. वही, पृ. 13।

318. वही, पृ. 13।

की-जिसके अनुसार मूल में सत् प्रकृति है और वह स्वयं सच्चिदानंद स्वरूप है (सत् में से चित् की अर्थात् चैतन्य की सृष्टि और चित् में से आनंद की सृष्टि) – की साधना करें।[319] उनके अनुसार ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी अध्यात्मवादी और भौतिकवादी, धार्मिक और वैज्ञानिक सभी सत्य तत्व के रूप में सच्चिदानंद या सत्येश्वर को मान सकते हैं।

इससे स्पष्ट है कि स्वामी सत्यभक्त सर्वधर्म समभावी सत्यसमाजी धर्म में मूल तत्व के रूप में सत् अथवा सत्य की साधना को विशेष महत्व देते हैं। यही सत्य भावनात्मक स्तर पर सत्येश्वर है। उनके अनुसार सत्य अथवा सत्येश्वर की साधना चिन्मय जगत् को आनंदमय बनाना है, दुःख कम करना और सुख बढ़ाना है। जितने भी धर्म हैं वे सत्येश्वर की इसी साधना के विशेष कार्यक्रम है। अनंत क्षेत्र, अनंत काल और अनंत प्राणियों की दृष्टि से सत्य अथवा सत्येश्वर की साधना के रूप भी अनेक अथवा अनंत हैं।[320]

यहाँ परमसत्ता के रूप में स्वीकार किये गये सत्येश्वर की साधना का विवेचन करने से पूर्व परमसत्ता के स्वरूप के संबंध में स्वामी सत्यभक्त के विचारों का उल्लेख करना भी उचित होगा। वे सत्येश्वर के रूप में जिस एक ही चिद्ब्रह्म को मानते हैं, उसके दो पहलू (अंश) हैं। एक को वे विचार कहते हैं और एक को आचार[321]। उनके अनुसार 'विचार का अर्थ सब अनुभव, तर्क, विश्लेषण, विवेक आदि हैं और आचार का अर्थ समस्त यम-नियम और उनसे संबंध रखने वाली अंतःशुद्धि व बहिःशुद्धि है, जो जगत कल्याण के लिये उपयोगी है।[322] उस व्यापक विचार को वे भावनात्मक स्तर पर भगवान सत्य या सत्येश्वर और उस व्यापक आचार को भगवती अहिंसा या मम्मेशी अर्थात् विश्वप्रेम की ईश्वरी कहते हैं।[323] यह दो ईश्वर को मानना नहीं है वरन् एक ही ईश्वर की सत्येश्वर (सत्येशा) और भगवती अहिंसा (मम्मेशी) के रूप में उपासना करना है, एक ही ईश्वर के दो पहलुओं के दर्शन करना है।[324] उनके अनुसार ईश्वर या उसका रूप मूलतः अज्ञेय और अदृश्य है, मनुष्य अपनी बुद्धि, संस्कृति, भाव, समाज रचना के अनुसार उसके रूप की कल्पना किया करता है।[325] वे स्पष्ट करते हैं कि जिससे हृदय को, सद्भावनाओं को तृप्ति मिले, अवलंबन मिले, वही रूप अच्छा है। फिर भी इतना तो ध्यान रखना ही चाहिये कि हम न्यायोचित

---

319. वही, पृ. 13।

320. वही, पृ. 13।।

321. सत्यभक्त, सत्यामृत-आचारकांड, पृ. 16।

322. वही, पृ. 16।

323. वही, पृ. 16।

324. वही, पृ. 16।

325. वही, पृ. 16।

समाज-रचना का सहारा लेकर इस ईश्वर रूप की कल्पना करें जिससे हमारा मानवीय और सामाजिक आदर्श ऊँचा हो।[326]

उनके अनुसार ईश्वर लिंगातीत या उभयलिंगी है परंतु अधिकांश लोगों द्वारा विभिन्न धर्मों में अल्लाह, ख़ुदा, गॉड, अहुर्मज़्द, यहोवा, मुंगु आदि नामों से कहा गया ईश्वर पुरुष रूप ही माना गया है, कारण कि उनके समाज में पुरुष की ही प्रधानता, महत्ता, स्वामित्व आदि रहे।[327] परंतु केवल पुरुष रूप में माने ईश्वर से हृदय/भावना के संतुष्ट न होने के कारण हिन्दू धर्म चिंतन (पौराणिक दर्शन) में ईश्वर को दांपत्य रूप में और शिव को अर्द्धनारीश्वर (जिसमें नर व नारी दोनों के गुण/विशेषता के भाव अभिव्यक्त होते हैं और जो पूर्ण मनुष्य रूप है) को जगत्पिता एवं जगन्माता (ब्रह्मा, विष्णु, गायत्री, लक्ष्मी दुर्गा आदि) के रूप में देखा गया है।[328] ईश्वर को इस दांपत्य रूप में-जो कि पूर्ण एवं प्रगतिशील रूप है-मानते हुए भी सामाजिक विषमताओं के कारण व्यवहारतः नारी के प्रति उसमें (हिन्दू धर्म में) न्यायोचित रूप से पूर्णतः समता भाव का समावेश नहीं हुआ। उसके पुरुष/पति अंश को प्रधान या स्वामी के समान और नारी अंश को प्रायः सेविका या दासी के समान गौण माना गया है। यहां तक कि जैसे-विष्णु व लक्ष्मी के प्रतीक चित्रण में लक्ष्मी को विष्णु के चरण दबाते हुए माना गया है।[329], एक से अधिक भार्याओं का होना भी माना गया है। यह विषमता का भाव, वर्णन बाद में सामाजिक विषमता का पोषक बन गया।[330] जबकि ईश्वर मानव समाज का आदर्श है अतः उसका चित्रण एवं उसके लिये प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द भी आदर्श समता भाव के रूप में ही होने चाहिये, केवल पितावाचक/पुरुषवाचक अथवा मातावाचक/स्त्रीवाचक रूप में नहीं। सर्जन के लिये दोनों नर व नारी का सहयोग आवश्यक है अतः उसमें दोनों के गुण होना/अभिव्यक्त करना आवश्यक है। वह ईश्वर माता के समान केवल कोमल, वात्सल्ययुक्त, दयालु, क्षमाशील, प्रेमयुक्त ही नहीं है अपितु न्यायाधीश के समान निष्पक्ष और कठोर भी है (सामान्यतः भावनात्मक स्तर पर कठोरता प्रायः पिता या पुरुषवृत्ति का द्योतक मानी गयी है) इसलिये वह माता के समान पिता रूप भी है। इन दोनों भाव-वृत्तियों को स्पष्टतः अभिव्यक्त करने हेतु स्वामी सत्यभक्त ईश्वर के पिता रूप को सत्येश/सत्येश्वर और माता रूप को मम्मेशी/भगवती अहिंसा कहते हैं।[331] इस प्रकार स्वामी सत्यभक्त द्वारा निराकर और अज्ञेय विचार रूप ईश्वर को भगवान सत्य/सत्येश्वर

---

326. वही, पृ. 16।

327. वही, पृ. 16।।

328. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 232।।; व्यवहारकांड, पृ. 16।।

329. वही, सत्यामृत-आचारकांड, पृ. 16।।

330. वही, पृ. 17। - 17।।

331. वही, पृ. 17।।

और भगवती अहिंसा/मम्मेशी के रूप में साकार और ज्ञेय रूप में माना गया है। उनके अनुसार भावनात्मक स्तर पर इससे हमें न्याय और वात्सल्यपूर्ण प्रेम-दोनों की छत्र-छाया मिलती है।[332]

स्वामी सत्यभक्त के इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि प्रायः सभी परंपरागत धर्मों में परमसत्ता/ईश्वर के लिये पुरुषवाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। अतः यहां धर्म समभाव की दृष्टि से यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जो धर्म चेतनात्मक, निष्पक्ष विवेक के आधार पर समदृष्टि या समताभाव को सर्वोपरि मानते हैं उनके लिये इस प्रकार के एक पक्षीय भाव को दर्शाने वाले शब्दों का प्रयोग करना क्या उचित है? यहां यह प्रश्न भी उठाना स्वाभाविक माना जाएगा कि क्या वास्तव में ईश्वर शरीर वाला (व्यक्तित्वपूर्ण) है और वह भी पुल्लिंग रूप में? निःसंदेह धर्मों में ईश्वर के स्वरूप के लिये प्रयुक्त शब्द अमिधा (यथार्थ) के रूप में नहीं है। इस रूप को कल्पना मात्र माना जाना असंगत भी न होगा। संभवतः धर्मों में प्रायः पुरुषवाचक शब्दों का प्रयोग उस काल का अवशेष है जब पुरुष परिवार का मुखिया होता था। जो भी हो, पर यदि परमसत्ता या ईश्वर शरीरयुक्त नहीं हैं, निराकार है और सभी उससे ही सृष्ट है तो वह मात्र पुरुष नहीं हो सकता है, इसी प्रकार वह नारी भी नहीं है और न ही वह नपुंसक है। परंतु समस्या यह उत्पन्न होती है कि यदि इनमें से कोई भी वाचक शब्द उस (ईश्वर) पर लागू नहीं होता है तो किस शब्द का प्रयोग किया जाए। अन्य शब्दों में यदि किसी शब्द का प्रयोग करना व्यवहारतः आवश्यक ही हो तो किस आधार पर हम उस शब्द का चयन करें क्योंकि निष्पक्षता एवं समभाव की दृष्टि से परंपरागत धर्मों में प्रयुक्त कोई भी लिंगसूचक शब्द प्रायः उचित प्रतीत नहीं होता है। अतः ऐसी अवस्था में स्वामी सत्यभक्त द्वारा परमसत्ता/ईश्वर के विषय में शाब्दिक व व्यावहारिक समभाव के लिये प्रयुक्त सत्येश्वर व भगवती अहिंसा/मम्मेशी शब्द उचित प्रतीत होते हैं। इन दोनों की साकार भावनात्मक अभिव्यक्ति के लिये इन्हें युगल रूप में दर्शाने से ईश्वर के एक पक्षीय वर्णन की विषमता का आरोप नहीं रहता है और शाब्दिक वर्णन में भी समभाव झलकता है।

वस्तुतः स्वामी सत्यभक्त परमतत्व के अंतर्गत बौद्धिक-तार्किकता, विचारकता, विवेक और भावनात्मक प्रेम, सेवा, विनय आदि के समभावपूर्ण समन्वय को न केवल सिद्धांततः अपितु व्यवहारतः भी प्रमुखता देते हैं। इसके अंतर्गत वे मानते हैं कि शक्ति और सेवा, यथासाध्य कला और विज्ञान, काम और मोक्ष (ऐहिक सुख व आध्यात्मिक), उपार्जन और रक्षण का समन्वय प्रत्येक मनुष्य में होना चाहिये। पूर्ण सफलता व

---

332. वही, पृ. 17।।

आदर्श के लिये जीवन में इनमें से किसी भी एकांगी पक्ष को ही स्वीकार करना अपूर्णता है।[333] उनके अनुसार जिन गुणों को प्रायः पुरुषत्व के विशेष स्वभाव गुण जैसे वीरता, साहस, तार्किकता, विवेक आदि और नारीत्व के विशेष स्वभाव गुण जैसे प्रेम, सेवा, वात्सल्य, त्याग आदि माना गया हैं-इन सबका समन्वय हमें राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महापुरुषों के जीवन में दिखाई देता है।[334] इसे वे बुद्धि, शक्ति, सेवा और व्यवस्था का समन्वय भी कहते हैं। जिनके जीवन में इन गुणों (पुरुषत्व व नारीत्व के माने गये गुण) का समन्वय जितनी अधिक मात्रा में होता है उतने ही वे पूर्ण मनुष्य (मानवता के गुण से युक्त) होते हैं।[335] स्पष्ट है कि स्वामी सत्यभक्त के अनुसार पूर्ण मानव रूप में अकेला पुरुष/नर आधा मानव है और अकेली नारी आधा मानव है तथा इन दोनों के स्वभाव गुणों का समन्वय ही पूर्ण मानवता है।[336] इसलिये वे अपने समभाव के चिंतन में नर-नारी समभाव के अंतर्गत नर व नारी के प्रति शब्द व्यवहार में भी समान आदरभाव रखने को महत्व देते हैं। वे धर्म समभाव की दृष्टि से अपने द्वारा स्थापित युगधर्म में मूल अद्वैत चिदानंद को-'सत्यार' में मानव समझ व व्यवहार के लिये, आदर्श ईश्वर के साकार के ज्ञेय रूप के लिये सत्येश्वर व भगवती अहिंसा को युगल रूप (दांपत्य रूप)[337] में दर्शाते हुए उनका कुटुंबीकरण (पारिवारिक संबंध) करते हैं।[338]

स्वामी सत्यभक्त अपने सर्वधर्म समभावपूर्ण धर्म चिंतन में परमसत्ता/सत्येश्वर का दर्शन दो प्रकार से किया जाना संभव मानते हैं। एक तो रूप दर्शन के द्वारा और दूसरा गुण दर्शन के द्वारा[339], उनके अनुसार रूप दर्शन में रूपक, अलंकार आदि के द्वारा सत्येश्वर को और उनके सारे गुणों को पारिवारिक रूप व्यक्तित्व देकर (साकार रूप में) समझा जाता है।[340] जैसे-सत्य, अहिंसा, विवेक, न्याय, सरस्वती (ज्ञान), शक्ति, लक्ष्मी (ऐश्वर्य) आदि को दिव्य व्यक्ति रूप में मान लिया जाता है। इस दर्शन से व्यक्ति को अपने गुणों एवं मनोवृत्तियों की उपयोगिता, अनुपयोगिता, लघुता, महत्ता, आदि का बोध होता है और मन को आश्वासन तथा संतोष भी मिलता है। इससे अधिकांश भावप्रधान व्यक्तियों को संकट में धैर्य,

---

333. वही, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 245।। - 246।

334. वही, पृ. 246। - 247।

335. वही, पृ. 247। - 248।

336. 'नर आधा मानव, आधा मानव नारी। दोनों मिलकर पूरे मानव अवतारी।।' - सत्यभक्त, सत्येश्वर गीता, पृ. 115; दिव्य दर्शन, पृ. 193-194

337. वही, सत्येश्वर गीता, पृ. 13; सत्यामृत दृष्टिकांड, पृ. 14।।

338. वही, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 14।।

339. वही, पृ. 13।।

340. वही, पृ. 13।। - 14।

आशा, उत्साह, धर्मों के प्रति समभाव, विश्वबंधुता, कर्मयोग आदि की प्रेरणा भी मिलती है।[341]

स्वामी सत्यभक्त के अनुसार गुण दर्शन में बुद्धि प्रधान होती है और इससे बुद्धि को संतोष होता है।[342] परंतु उचित गुण दर्शन के मार्ग में तीन प्रमुख बाधाएं होती हैं। प्रथम-कुसंस्कार अथवा मोह के कारण उत्पन्न पक्षांधता, द्वितीय-अज्ञान के कारण उत्पन्न अंधविश्वास एवं तृतीय-सत्य के भिन्न-भिन्न रूपों की सही पहचान न होने के कारण एकांत आग्रह।[343] इन बाधाओं को दूर कर सत्यदर्शन के लिये स्वामी सत्यभक्त निष्पक्षता, परीक्षकता एवं समन्वयशीलता को आवश्यक मानते हैं।[344] उनके विचारानुसार इनके अभाव में सही गुण दर्शन नहीं हो सकता है। अतः गुण दर्शन का मार्ग अपेक्षाकृत कठिन अवश्य होता है पर सत्यज्ञान के लिये अंततः रूप दर्शन भी गुण दर्शन में मिलना चाहिये।[345] अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि रूप दर्शन का निर्धारण भी यथासंभव सत्यता के आधार पर किया जाना चाहिये। वह सामान्यतः निरा काल्पनिक लगने वाला एवं अतिश्योक्तिपूर्ण प्रतीत न हो। कारण कि गुणदर्शन के आधार पर ही रूप दर्शन में ईश्वर को दिव्य व्यक्तित्व रूप में मान लिया जाता है, अतः अंत में गुण दर्शन तो होना ही चाहिये।

स्वामी सत्यभक्त भावनात्मक स्तर पर रूपदर्शन के लिये कुटुंब रूप में सत्येश्वर को परमपिता, भगवती अहिंसा को विश्वप्रेमरूपा मातामही के रूप में प्रधानता देते हुए प्रत्येक शुभ-गुण को व्यक्ति रूप/गुण देव के रूप में मानते हैं। उन्हें परिवार के सदस्यों की तरह यथोचित क्रम स्थान प्रदान करते हैं।[346] इसका उद्देश्य सत्येश्वर का संपूर्ण रूपदर्शन कराना और जीवन में गुणों की उपयोगिता तथा उनका स्थान समझाना है।[347] सत्यार में व्यवहारतः प्रधानता की दृष्टि से सत्येश्वर व भगवती अहिंसा की प्रतीक रूप में मूर्तियाँ ही रखी गयी हैं। गुणदेव अनेक होने से और सत्येश्वर के अंतर्गत होने से उनकी मूर्तियाँ नहीं रखी गयी हैं।

'सत्यार' में इस रूप दर्शन के निर्धारण में यह विशेषता है कि समझने की दृष्टि से सत्य एवं अहिंसा

---

341. वही, पृ. 14।

342. वही, पृ. 14।

343. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 16।।

344. वही, पृ. 16।।

345. वही, पृ. 14।।

346. सत्यभक्त-सत्यामृत दृष्टिकांड, पृ. 14। - 15।।

347. वही, पृ. 14।

(जिन्हें भाव-दृष्टि से भगवत स्वरूप मानते हुए भगवान सत्य और भगवती अहिंसा भी कहा गया है) की मूर्तियों की मुद्राओं को प्रतीक रूप मे विशेष अर्थ रखने वाला माना गया है। सत्य/सत्येश्वर की मूर्ति का एक हाथ आकाश की ओर उठा हुआ है और दूसरा बायां हाथ भगवती अहिंसा की ओर इशारा करता हुआ है। स्वामी सत्यभक्त द्वारा इनकी ये दोनों हस्त मुद्राएं व्यक्ति व समाज को जीवन संदेश की ओर प्रेरित करने वाली मानी गयी हैं।[348] उन्होंने आकाश की ओर उठा हुआ हाथ रंगविहिनता में रंगों की स्थिति के भाव को स्पष्ट करने वाला माना है। आकाश स्वयं रंगविहिन है परंतु सूर्य-किरणों के विश्लेषण से वह सप्तरंगी है और जल के होने पर रसपूर्ण भी। अतः स्वामी सत्यभक्त के अनुसार दायां हाथ व्यक्ति को पाप रहित हो रंग, रस से पूर्ण ऐसा स्वच्छ जीवन व्यतीत करने को प्रेरित करता है जिसमें पाप रूपी कीचड़ का अभाव हो, जैसे-कि आकाश स्वच्छ होता है।[349] सत्येश्वर का बायां हाथ (जो भगवती अहिंसा/मम्मेशी की ओर इशारा करता हुआ है) स्पष्ट करता है कि रंग व रस से परिपूर्ण जीवन वही होता है जो दूसरों के आनंद में बाधा उत्पन्न नहीं करता है एवं दूसरों पर अन्याय नहीं करता है। सिद्धांत के अनुकूल होकर अहिंसापूर्वक कर्त्तव्यों का पालन करता है। जीवन को शुभ व आनंदमय बनाता है।[350]

स्वामी सत्यभक्त अहिंसा को 'सत्यार' में विश्वप्रेम की अधिष्ठात्री के रूप में प्रमुखता देते हैं। वे अहिंसा का अर्थ निषेधात्मक नहीं अपितु विधेयात्मक मानते हैं। उसमें समस्त दुराचारों की निवृत्ति और समस्त सदाचारों की प्रवृत्ति को सम्मिलित करते हैं।[351] उनके विचारों में निषेधात्मक अव्यय का प्रयोग दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो पर्युदास के रूप में और दूसरा प्रसज्य के रूप में।[352] पर्युदास में एक चीज/विचार का निषेध कर दूसरे का विधान किया जाता है, जैसे-असत्य का विध्यात्मक अर्थ है झूठ, न कि केवल सत्य का अभाव-प्रसज्य में मात्र निषेधपरक अर्थ ही होता है और इसका प्रयोग क्रियापद के साथ किया जाता है, जैसे-मेरे पास धन नहीं है। यहां धन का निषेध है, किसी चीज का विधि रूप/विध्यात्मक अर्थ नहीं है।[353]

अहिंसा में भी वे निषेधवाचक 'अ' को पर्युदास (एक का निषेध कर दूसरे का विधान करना) मानते हैं। उनके अनुसार यह दुराचारों के निषेध के साथ प्रेम, दया, सेवा, भक्ति, न्याय आदि सद्वृत्तियों का

---

348. वही, सत्यार परिचय, पृ. 7

349. वही, पृ. 7

350. वही पृ. 7

351. सत्यभक्त, सत्यामृत-आचारकांड, पृ. 17।।

352. वही, पृ. 17।।

353. वही, पृ. 17।।

प्रवृत्ति रूप भी है।[354] सामान्यतया अहिंसा को निषेधात्मक अर्थ में ही ग्रहण किया जाता है अतः वे इसके लिये विध्यात्मक शब्द के रूप में-अपनी नवीन रचित मानवभाषा में 'मम्मेशी' शब्द का प्रयोग करना उचित समझते हैं और इसका अर्थ है विश्वप्रेम की अधिष्ठात्री-भगवती।[355] स्वामी सत्यभक्त के द्वारा यह विश्वप्रेम का सूचक और सर्वहित की कामना प्रकट करने वाला शब्द माना गया है।[356] उनके अनुसार निषेध रूप शब्द के प्रयोग से प्रायः निवृत्ति की प्रधानता को बल मिलता है और धर्म का विध्यात्मक रूप/प्रवृत्ति रूप गौण हो जाता है। अतः प्रवृत्ति रूप के स्पष्ट अर्थभाव के लिये सामान्यतया प्रवृत्ति रूप शब्दों का प्रयोग करना अधिक उचित रहता है। यही कारण है कि उन्होंने 'मम्मेशी' को विधिपरक रूप में मानते हुए विश्वप्रेम की आधिष्ठात्री के साथ ही शांति, साहस (निर्भयता), वात्सल्य एवं शक्ति की देवी माना है।

'सत्यार' में इनका दायां हाथ 'अभय मुद्रा' में है जो शांति, प्रेम और निर्भयता का सूचक है। इनके बायें हाथ में 'गदा' है जो शक्ति का प्रतीक है।[357] शक्ति को तिरस्कृत नहीं माना गया है अपितु मानव जीवन के लिये आवश्यक माना है। इसके अभाव में सुख, शांति की वृद्धि नहीं हो पाती है तथा अन्याय का प्रतिकार भी नहीं हो सकता है।[358] स्वामी सत्यभक्त के अनुसार यह 'गदा' शक्ति के भौतिक प्रतीक के रूप में है अतः इसका प्रयोग मुख्य रूप में न कर आवश्यकता होने पर दुष्टता व अन्याय का प्रतिकार करने के लिये गौण रूप में करना माना गया है।[359] उनके अनुसार सबके हित में बाधक होने पर किसी अंश की हिंसा करनी पड़े तो वह भी विश्वप्रेम का अंश बन जाती है।[360]

स्पष्ट है कि स्वामी सत्यभक्त धर्मपालन में प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग दोनों की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार पुण्य में प्रवृत्ति पाप से निवृत्ति की प्रेरक बन जाती है।[361] अतः इन दोनों की साधना को सर्वधर्म समभाव के अंतर्गत स्वीकृत मम्मेशी/अहिंसा की साधना के लिये आवश्यक माना है।[362] स्वामी सत्यभक्त के ये विचार मानव स्वभाव के कभी प्रवृत्ति मार्ग और कभी निवृत्ति मार्ग को

---

354. वही, पृ. 17।।
355. सत्यभक्त, सत्यामृत-आचारकांड, पृ. 18।, दृष्टिकांड पृ. 14।।
356. वही, पृ. 18।
357. वही, सत्यार परिचय, पृ. 8
358. वही, पृ. 8
359. वही, पृ. 8
360. सत्यभक्त, सत्यामृत-आचारकांड, पृ. 18।।
361. वही, पृ. 8।।
362. वही, पृ. 18।।

अपनाने की धारणा को भी अभिव्यक्त करते हैं।[363] उनके अनुसार प्रवृत्ति और निवृत्ति आचाररूपी सिक्के के दो पहलू हैं।[364] मोक्ष व जगतकल्याण के लिये विवेकपूर्ण कर्म योग (प्रवत्ति मूलक) और ध्यान योग (निवृत्ति मूलक) दोनों की आवश्यकता है।[365] अतः सफल मानव जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का समन्वय करना वे आवश्यक मानते हैं।[366]

स्वामी सत्यभक्त अपने पूर्ण सर्वधर्म समभाव पूर्ण धर्म के अंतर्गत पहले निम्न साधना के चरणों को भी पूरा करना आवश्यक समझते हैं :

1. मन साधना-जिसमें व्यक्ति को अपनी मनोवृत्तियों को समझकर मन को पवित्र, स्वच्छ, पर कल्याण के लिये उपयोगी और ध्येय मार्ग के लिये अटल बनाना चाहिये।

2. जीवन साधना-इसके अंतर्गत व्यक्ति को अपने जीवन का ऐसा कलात्मक रूप से विकसित करना चाहिये कि उससे आत्मसंतोष और विश्वहित हो।

3. लोक साधना-इसके अंतर्गत दूसरे व्यक्तियों में सुधार करने का प्रयत्न कर उनके जीवन को स्वपर कल्याण के लिये उपयोगी बनाना चाहिये।[367]

इस प्रकार स्वामी सत्यभक्त क्रमशः इन तीनों साधनाओं के अंतर्गत व्यक्ति के स्वयं के सुधार व कल्याण (मन साधना), स्वयं के और दूसरों के अर्थात् दोनों के कल्याण (जीवन साधना) और अंततः दूसरों के सुधार व कल्याण का प्रयत्नकारी मार्गदर्शन (लोक साधना) जैसे-दुराचारियों को सदाचारी बनाना, न्याय व जीवन शुद्धि का प्रसार करना आदि को महत्व देते हैं।[368] स्पष्ट है कि वे जीवन साधना एवं लोक-साधना से पूर्व आत्म-साधना को आवश्यक समझते हैं तथा यह संयम और तपस्या से होती है[369] यह भी स्पष्ट करते हैं।

---

363. वही, पृ. 8।।

364. वही, पृ. 19।

365. वही, पृ. 18।।, 19।।, 20। - 21।।, 24 । -।।

366. वही, पृ. 19।

367. सत्यभक्त, सत्यामृत-आचारकांड, पृ. 47।।

368. वही, पृ. 47।, 103।।

369. वही, पृ. 103।।

स्वामी सत्यभक्त लोक साधना के दो प्रकार मानते हैं। प्रबोधिनी साधना और संहारिणी साधना।[370] प्रबोधिनी साधना में व्यक्ति का हृदय परिवर्तन कर उसे पाप से विरक्त किया जाता है। इसके छः प्रकार माने गये हैं।[371] प्रथम-आदर्श दर्शनी, जिसमें साधक आत्म साधना द्वारा अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करता है कि लोग उसे अपना आदर्श मानकर उसका अनुसरण कर सकते हैं।[372] द्वितीय आग्रहणी (सत्याग्रह/द्वेषरहित होकर सत्य का आग्रह करना)[379], तृतीय-वैफल्य दर्शनी, (अन्याय को निर्भयतापूर्वक सहन कर उसे विफल बनाना)[374] चतुर्थ-प्रेम दर्शनी (पापी व्यक्ति के प्रति ऐसी क्षमा, सहानुभूति व प्रेम भाव रखा जाए कि वह मित्र बन जाए और अपने पापों से लज्जित होकर उनसे विरक्त हो जाए)।[375], पंचम-उपेक्षणी (पाप के कार्य पर उपेक्षा करना/ध्यान न देना)[376] और षष्ठ-शिक्षणी (शिक्षा, उपदेश आदि के द्वारा पाप का दुष्फल समझना)[377] को माना गया है।

स्वामी सत्यभक्त स्पष्ट करते हैं कि जब प्रबोधिनी साधना से सफलता की संभावना न होकर उसके दुरुपयोग की संभावना अधिक हो, समाज पर जनमानस पर उसका अशुभ प्रभाव पड़ता हो, पापी के नाश से पाप का नाश होता हो वहां द्वितीय लोक साधना-संहारिणी साधना (शक्ति) का प्रयोग करना चाहिये।[378] इसमें अन्याय को दूर करने के लिये अन्यायी, या पापी को दंड दिया जाता है।[379] इसमें जान बूझकर मन, वचन एवं कर्म से किसी को अनावश्यक रूप से दंडित नहीं किया जाता है। इस प्रकार स्वामी सत्यभक्त अपने धर्म समभावपूर्ण सत्यधर्म के अंतर्गत स्वीकृत सत्येश्वर एवं मम्मेशी की साधना में प्रबोधात्मक साधना एवं आवश्यकता होने पर संहारात्मक साधना-दोनों को मान्यता प्रदान करते हैं। उनके अनुसार सर्वहित के लिये, अन्याय, दुष्टता, पाप आदि का शमन करने के लिये शक्ति का प्रयोग करना हिंसा नहीं है। अनावश्यक रूप से किसी को कष्ट पहुंचाना हिंसा है। मम्मेशी/भगवती अहिंसा की अभय मुद्रा एवं शक्ति रूप में गदा का धारण स्वविरोधी न होकर परस्पर पूरक माना है।

---

370. वही, पृ. 103।।, 107।-।।
371. वही, पृ. 104।
372. वही, पृ. 104।
373. वही, पृ. 105।
374. वही, पृ. 105।।
375. सत्यभक्त, सत्यामृत-आचारकांड, पृ. 105।।
376. वही, पृ. 106।
377. वही, पृ. 106।।
378. वही, पृ. 106।।, 107।।
379 वही, पृ. 106।।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हुआ है कि स्वामी सत्यभक्त अपने सर्वधर्म समभाव के चिंतन में परमसत्ता के आधार पर सभी धर्मों के प्रति विवेकपूर्ण आदरभाव रखना महत्वपूर्ण मानते हैं। इसकी व्यावहारिक परिणति हमें 'सत्यार' में दृष्टिगत होती है। इसमें सत्येश्वर और मम्मेशी/सत्य और अहिंसा के दोनों ओर विभिन्न धर्मों के महापुरुषों/पैग़ंबरों/तीर्थंकरों/अवतारों की मूर्तियाँ हैं जिन्होंने मानव समाज एवं विश्व को सद्विचार और सदाचार के संदेश दिये हैं। उनके अनुसार ये सभी भौतिक शरीर रूप में अपने माता-पिता की संतान होते हुए भी आध्यात्मिक-भावनात्मक रूप में सत्य और अहिंसा की संतान है।[380] कारण कि राम की मर्यादा पुरुषोत्तमता, महावीर एवं बुद्ध की तीर्थंकरता, मूसा का नबी रूप, ईसा का मसीह रूप, मुहम्मद की पैग़ंबरता आदि सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों एवं उनके पालन के कारण है; न कि जन्म देने वाले माता पिता के कारण। माता-पिता ने तो उन्हें शरीर दिया परंतु सत्यबोध तथा आत्मबोध तो उन्हें सत्य और अहिंसा के द्वारा ही हुआ है और इसलिये उन्हें जगत में जो वास्तविक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई वह सत्य और अहिंसा के कारण हैं। अतः इस रूप में यह माना/कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक धार्मिक दृष्टि से ये सब एक ही माता-पिता-सत्य और अहिंसा (सत्येश्वर व मम्मेशी) की संतान होने से परस्पर भाई-भाई भी हैं।[381] यदि कोई महापुरुष किसी एक धर्म विशेष का प्रवर्त्तक/अवतार/तीर्थंकर/पैग़ंबर/आदि है तो वह उस धर्म विशेष के अनुयायियों के लिये जगत में पिता के समान है।[382] इस दृष्टि से भी सभी धर्मानुयायी परस्पर भाई-भाई/चचेरे भाई हैं अतः उन्हें परस्पर प्रेम व सहृदयता से रहना चाहिये और सभी धर्मों तथा धर्मों के महामानवों का आदर करना चाहिये।[383] इन महामानवों को महात्मा, महापुरुष, तीर्थंकर, जिन, बुद्ध, पैग़ंबर, अवतार आदि किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। इनके जीवन के आदर्श व्यक्ति व समाज के लिये शिक्षणीय रहे हैं अतः इन महापुरुषों को एक प्रकार से तत्कालीन निष्णात् प्राध्यापक के रूप में भी समझा जा सकता है।[384] इन सबने अपने युग के अनुरूप धार्मिक व सामाजिक संदेश दिये। इनमें जो मतभेद हैं वे देश-काल एवं परिस्थितिजन्य माने गये हैं, उन्हें परस्पर विरोधी नहीं माना गया है।

सत्यार में सभी व्यक्ति (स्त्री-पुरूष) अपनी रुचि, योग्यता आदि के अनुसार शिष्टाचार, आदरभाव का पालन कर सकते हैं। क्रियाकांड के लिये किसी भी प्रकार के विधि-विधानों एवं आडंबर आदि की अनुशंसा

380.वही, सत्यार परिचय, पृ. 4, 10

381. वही, पृ. 10

382. वही, पृ. 4, 10

383. वही, पृ. 4, 10

384. वही, पृ. 11

नहीं की गयी है। शुचिता एवं व्यवस्था का ध्यान रखते हुए सभी को अपने-अपने ढंग से उपासना/ध्यान/साधना/पूजा-पाठ/प्रार्थना/नमाज़ आदि करने की स्वतंत्रता मानी गयी है।[385] स्पष्ट है कि स्वामी सत्यभक्त द्वारा सभी धर्मों को विवेक के आधार पर व्यवहारतः आदर प्रदान किया गया है।

वस्तुतः स्वामी सत्यभक्त सत्यसमाज/युगधर्म के समग्र चिंतन में सर्वधर्म समभाव के साथ-साथ सर्व जाति समभाव, व्यक्ति समभाव, अवस्था समभाव[386] एवं नरनारी समभाव[387] को विशेष मान्यता देते हैं और इनको (समभाव को) योगी का (पूर्ण धार्मिक) लक्षण मानते हैं। वे जाति समभाव में स्पष्ट करते हैं कि अन्य प्राणियों की भांति मनुष्य शब्द पशु शब्द की तरह नाना प्रकार के समुदाय का वाचक नहीं हैं वरन् एक ही तरह के प्राणियों का वाचक है।[388] यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति में अंतर होता है (रंग, गुण, स्वभाव) और उसके आधार पर उनका वर्गीकरण भी किया जा सकता है लेकिन इसे जातिभेद का कारण नहीं माना जा सकता है। जातिभेद के लिये सहज प्राकृतिक दांपत्य संबंध का अभाव और आकृति की अधिक विषमता आवश्यक है, जो कि मनुष्यों में नहीं पायी जाती है।[389] वे जीववैज्ञानिक तर्क देते हैं कि किसी भी जाति के पुरुष का संबंध किसी भी जाति की स्त्री से होने पर उसकी संतान मनुष्य होगी। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्यमात्र एक जाति है।[390]

वे स्पष्ट करते हैं कि प्रायः सभी धर्मशास्त्रों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि सभी मनुष्यों की जाति एक है। वैदिक शास्त्रों में मनुष्य को मनुसंतान कहा है। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म के अनुसार सब मनुष्य आदम की संतान है। जैन शास्त्रों के भोगभूमि युग के वर्णन से मनुष्यमात्र की एक जाति की मान्यता को स्वीकार करना स्पष्ट होता है। अतः प्राकृतिक दृष्टि एवं शास्त्रों की मान्यता के अनुसार सब मनुष्यों की क्रमशः एक जातीयता, एक कौटुंबिकता एवं परस्पर भाईचारा सिद्ध होता है।[391] स्वामी सत्यभक्त के अनुसार मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा प्रायः अधिक सामाजिक प्राणी है इसलिये उसमें सहयोग, प्रेम और समन्वय अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में और विशाल रूप में होना चाहिये।[392] परंतु जातिभेद

---

385. वही, सत्यार परिचय, पृ. 13-14

386. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 158।।, 178।, 180।।

387. सत्येश्वर गीता, पृ. 96; दिव्य दर्शन, पृ. 192

388. वही, पृ. 233; वही, पृ. 193-194; सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 158।।

389. वही, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 158।।

390. वही, पृ. 158।।

391. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 158।। - 159।

392. वही, पृ. 159।

की कल्पना ने मनुष्य को अनेक भागों में विभक्त कर दिया है। इससे उसके सहयोग के तत्व नष्ट प्रायः हो गये तथा जीवन में अनेक अन्यायों, दुःखों और हानियों की सृष्टि हुई है।[393] जहां जातिभेद नहीं हैं वहां रंगभेद के रूप में भूरी, पीली, काली, लाल जातियों का भेद उत्पन्न हुआ है तथा इस रंगभेद की जातीयता के कारण कई राष्ट्रों के कानूनों में विषमता व्याप्त हुई है।[394] इनके द्वारा न्याय की चिंता न करते हुए एक रंग के लोगों द्वारा दूसरे रंग के लोगों पर अत्याचार कर मनुष्यजाति एवं मानवता को विभक्त किया जाता रहा है।[395]

अतः स्वामी सत्यभक्त स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य की जो मौलिक विशेषताएं यथा-दयालुता, क्रूरता, ईमानदारी, बेईमानी, अच्छा-बुरा, प्रेम-घृणा, नम्रता-अहंकार, नैतिकता-अनैतिकता आदि सभी रंग व जाति के मनुष्यों में पायी जाती है।[396] अतः उनके दर्शन/चिंतन के अनुसार सेवा, न्याय, प्रेम, कानून व मानवता आदि के लिये रंगभेद व जातिभेद के आधार पर किसी भी मनुष्य में अंतर करना अनुचित।[397] इसका अर्थ यह है कि सभी मनुष्यों में जातिगत दृष्टि से एकता पायी जाती है। वर्ण, रंग, स्वभाव के आधार पर उनमें जाति भेद करना अस्वाभाविक अंतर उत्पन्न करना है।

स्वामी सत्यभक्त जातिभेद व रंगभेद की निरर्थकता को स्पष्ट करने के साथ-साथ राष्ट्रभेद[398] और राष्ट्रीयता[399] के संबंध में भी स्पष्ट चिंतन प्रस्तुत करते हैं। वे विश्व शांति और मनुष्य की उन्नति के लिये एक मानवराष्ट्र[400] (जिसमें सभी राष्ट्र अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए अंततः मानवता से संबद्ध होंगे) की आवश्यकता समझते हैं और उसके संबंध में योजना प्रस्तुत करते हैं।

उनके अनुसार राष्ट्र के नाम पर भी गिरोह भेद/जातिभेद निर्मित किये जाते हैं तथा यह राजनीति के साथ (देशप्रेम, देशभक्ति, देशसेवा के रूप में) साक्षात् संबंध रखता हैं और सीमा से घिरे हुए देश के

---

393. वही, पृ. 159।-।।

394. वही, पृ. 160।

395. वही, पृ. 160।-।।

396. वही, पृ. 160।।

397. वही, पृ. 160।। -161।

398. वही, पृ. 162।।

399. वही, पृ. 163।, 164। -।।

400. वही, पृ. 168।।

नाम पर व्यक्ति अहंकार युद्ध एवं संघर्ष आदि करता है, तथा मानवता को नष्ट करता है।[401] स्वामी सत्यभक्त के अनुसार साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता के उन्माद से सभी स्वतंत्र राष्ट्र अशांत है। राज्य की जो शक्तियाँ व अर्थ मानव जाति की सुख शांति की वृद्धि करने में उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, उनका अधिकांश भाग सेना संहार सामग्री व युद्ध की तैयारी में खर्च होता है और आजकल वैज्ञानिकों की अधिकांश शक्ति भी मनुष्य संहार/युद्ध शस्त्रों के आविष्कार आदि में लगी हुई रहती है।[402]

स्वामी सत्यभक्त का मानना है कि जिन राष्ट्रीयता के भावों से मानवता का उल्लंघन होता है, अत्याचार व मानव का संहार होता हो, मानव जीवन की शांति व प्रेम के लिये उसका त्याग कर देना चाहिये। परंतु जिस राष्ट्रीयता से मानव में पवित्रता, आत्मरक्षण और मानवता के भाव उत्पन्न होते हों, अत्याचार का विरोध होता हो, मानव जाति एक होती हो उसकी एकता के लिये कोई विरोध न किया जाता हो ऐसी राष्ट्रीयता की उपासना को वे उचित और आवश्यक मानते हैं।[403] उनके अनुसार राष्ट्र को किसी विशेष धर्म, जाति और रंग का रूप देना अनुचित है।[404] देश-काल एवं परिस्थितियों के आधार पर अपने जीवन में युगानुरूप दूसरों को कष्ट न पहुंचाने वाली सभ्यता, संस्कृति व धर्म को स्वीकार करने से मनुष्यता का नाश नहीं होता है।[405] वे मानते हैं कि सभ्यता और संस्कृति की रूढ़ियों के अंधानुकरण से कोई संबंध नहीं है। रूढ़ियों के अधानुकरण से सभ्यता और संस्कृति का नाश होता है क्योंकि उसमें समयानुसार (युगानुसार) विवेक के आधार पर व्यवहार नहीं किया जाता अपितु रूढ़िगत व्यवहार किया जाता है।[406] उनके अनुसार देश की सभ्यता और संस्कृति के नाम पर मनुष्य को राष्ट्र की जो विशेषताएं मानवता के लिये सुखकर हैं, कल्याणकारक व शुभ हैं उनका सब राष्ट्रों में सामान्य रूप में प्रचार करना चाहिये जिससे वह अच्छाई अपनाकर अन्य सभी राष्ट्र/देश एक सार्वभौमिक कौटुंबिक रूप ग्रहण कर लें।[407]

उनके अनुसार सर्वधर्म समभाव में चेतनात्मक एकता के अंतर्गत वैश्विक स्तर पर मानव एकता (समष्टि) महत्वपूर्ण है। मानव समाज में प्रचलित किये गये अनेक भेद (जाति, रंग, धर्म, पृथ्वी पर प्रकृति का सार्वजनिक विभाजन, साम्राज्यवाद आदि) उग्र रूप होने पर युद्ध का कारण बन जाते हैं।[408] इनके

---

401. वही, पृ. 163। - ।।
402. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 163।।
403. वही, पृ. 164।- ।।
404. वही, पृ. 164।।
405. वही, पृ. 165।।
406. वही, पृ. 165।।, 166।
407. वही, पृ. 167।
408. वही, सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. प्रस्ताविक पूर्व एवं 590, 647, 698, 722

कारण मानव जीवन में युद्ध व अशांति नहीं होनी चाहिये।[409]

स्वामी सत्यभक्त विश्व को युद्धमुक्त रखने के लिये एवं परस्पर सद्भावपूर्ण विकासोन्मुख व्यवहार के लिये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सब राष्ट्रों की स्वतंत्रता बनाये रखते हुए उन्हें योग्य प्रतिनिधित्व देने का समर्थन करते हैं।[410] उनका मानना है कि सर्वधर्म समभाव होने पर मनुष्य धीरे-धीरे राष्ट्र समभाव[411] की ओर उन्मुख होने लगता है। वे राष्ट्र समभाव के लिये एक व्यवस्थित मानवराष्ट्र (विश्वराष्ट्र)[412] विश्वनागरिकता[413] और एक विश्वसरकार[414] बनाने की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए इसका आह्वानमय चिंतन प्रस्तुत करते हैं।[415] वे विश्वसरकार और मानवराष्ट्र के लिये एक मानवभाषा/विश्वभाषा के प्रयोग का समर्थन करते हैं।[416] इसकी व्यावहारिक परिणति के लिये सत्यसमाजियों द्वारा प्रतिवर्ष 2 मई को 'मानवराष्ट्र दिवस'[417] पर एवं स्वामी सत्यभक्त द्वारा संयुक्तराष्ट्र संघ तथा कई राष्ट्रों की सरकारों को प्रस्ताव व पत्र-लेख प्रेषित कर समय-समय पर प्रयास किये जाते रहें हैं।[418]

स्वामी सत्यभक्त प्राकृतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर जातीयता व समुदाय की श्रेष्ठता निर्मित कर मानवीय संबंधों/आचरण में भेद करना अनुचित मानते हैं। वे मानते हैं कि धर्म एवं संस्कृति में युगानुरूप विवेकपूर्ण दृष्टि से सुधार एवं विकास होने पर पूर्ण सर्वधर्म समभाव होगा। वे एक ऐसे व्यवस्थित आदर्शपूर्ण भावी नये संसार[419] की कल्पना/चिंतन एवं रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं जिसमें भौतिकता व आध्यात्मिकता का ज्ञान, भाव एवं क्रिया के आधार पर समन्वयपूर्णता होगी। अन्य शब्दों में

---

409. वही, विश्वशांति का अमोघ उपाय, पृ. 11-12, 12-13, 13-14, 14-17, 17-19
410. वही, पृ. 25; सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. 717-719
411. वही, पृ. 22, 22
412. वही, पृ. 22, 25, 36
413. वही, पृ. 25
414. वही, पृ. 19, 27
415. वही, पृ. 27
416. वही, पृ. 25-26
417. संगम, जून 1982, पृ. 136, जून 1985, पृ. 105
418. सत्यभक्त, विश्वशांति का अमोघ उपाय, पृ. 27
419. वही, 'नया संसार', सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. 722-790

जो संसार समभाव के आधार पर विकसित होगा और उसमें सभी मनुष्य परस्पर श्रेष्ठ, आत्मोपम व्यवहार करेंगे।[420]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि स्वामी सत्यभक्त ने आधुनिक युग को समझकर उसके विकास के आधार पर सर्वधर्म समभावपूर्ण एक व्यवस्थित नवीन दृष्टि प्रस्तुत की है। अतः कई विद्वानों ने उनके द्वारा स्थापित सर्वधर्म समभावपूर्ण सत्यसमाज/युगधर्म को एक सर्व समन्वयवादी, क्रांतिकारी मौलिक धर्म माना है यह पूर्व में भी कहा जा चुका है। सत्य साहित्य (सत्यभक्त साहित्य) एवं विभिन्न विद्वानों के अनुसार यह धर्म न तो किसी धर्म विशेष की शाखा माना जा सकता है और न ही किसी प्रकार की राजनैतिक संस्था।[421] प्रत्येक मौलिक धर्म की अपनी कुछ विशेषताएं होती हैं। जैसे-उनके अपने धर्मशास्त्र, सिद्धांत, धर्म स्थान, पर्व/उत्सव आदि होते हैं। प्रत्येक मौलिक धर्म की अपनी कुछ पृथक व स्वतंत्र आचार-संस्कृति, विधि-विधान, संस्कार आदि होते हैं। उसका (मौलिक धर्म का) कोई संप्रदाय नहीं होता है और न ही वह किसी धर्म विशेष के संप्रदाय के रूप में विकसित होता है। वरन् महापुरुष/तीर्थंकर/पैग़ंबर के युगानुरूप स्वतंत्र चिंतन का परिणाम होता है। जैसे-जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि।

इसी प्रकार स्वामी सत्यभक्त द्वारा स्थापित सत्यसमाज के सत्यधर्म में भी मौलिक धर्म होने की उक्त वर्णित सभी विशेषताएं पायी जाती हैं। जैसे-हिन्दू धर्म के वेद, बौद्ध धर्म के त्रिपिटक, ईसाई धर्म के बाइबिल, इस्लाम धर्म के क़ुरआन की तरह विद्वानों के मतानुसार सत्यसमाज के सत्यधर्म का प्रमुख धर्मशास्त्र, मानव धर्मशास्त्र के रूप में सत्यामृत-तीन काण्ड (दृष्टिकाण्ड, आचारकाण्ड एवं व्यवहारक़ाण्ड) है।[422] यह अन्य सभी धर्मों के धर्मशास्त्रों से भिन्न व मौलिक है। इसमें व्यक्ति समाज से संबंधित विविध विषयों का जैसे कर्त्तव्यों, नीतियों, सिद्धांतों का निरूपण, युगानुकूल धर्म, राष्ट्र, वर्ग, जातिभेद आदि की स्पष्ट व्याख्याएं व सिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं। इसके अतिरिक्त सत्येश्वर गीता, दिव्य दर्शन भी इसके प्रमुख धर्मग्रंथ माने गये है।[423] सिद्धांत रूप में इस सत्यधर्म में सत्यदर्शन प्रमुख है। इसमें दर्शन दृष्टि,

---

420. वही, नई दुनियाँ का नया समाज

421. संतराम (संचालक जातिपांति तोड़क मंडल होशियारपुर), संगम, मार्च 1947; ठाकुरदास बंग, संगम नवंबर 1947; भारती (काश्मीर से प्रकाशित), उद्धृत-संगम, 1989, पृ. 149

422. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, प्रस्ताविक, पृ. 5-6; ठाकुरदास बंग, संगम, नवंबर 1947

423. वही, सत्येश्वर गीता, पृ. 4; दिव्य दर्शन, लालजी भाई सत्यस्नेही (अयोध्या) का प्रकाशकीय निवेदन, पृ. 9

28—259 Min. of H.R.D./2005

ध्येय दृष्टि, प्रमाण दृष्टि, विश्व दृष्टि, आचार दृष्टि आदि को समन्वित किया गया है।[424] इस दृष्टि से जीवन में सत्यधर्म व विज्ञान का समन्वय[425], सच्चिदानंद[426], 24 जीवन सूत्र[427] उन्नतिशीलता, सुशासक, युद्ध निरोध व न्याय, नैतिक रूप में सुख-साधन वृद्धि, एक संगत मानवभाषा और लिपि, एक मानवराष्ट्र, विश्वकौटुंबिकता और ज्ञान, भाव, क्रिया तथा भक्ति के समन्वय के आधार पर कर्मयोग आदि इसके प्रमुख सिद्धांत के रूप में माने जा सकते हैं। अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि ये परंपरागत धर्मों से भिन्न हैं तथा इनके विवेचन में प्रायः सत्य दृष्टि को यथा संभव विशेषतः ध्यान में रखा गया है। सत्येश मंत्र[428] के रूप में सभी सत्य साधकों के उपदेशों को विनय एवं विवेकपूर्ण मानने का आदर्श माना गया है।

व्यक्ति व समाज में धर्म समभावपूर्ण सामाजिक समरसता का विकास हो, अंधविश्वास एवं रूढ़िविहीन आदर्श समाज की स्थापना हो, इसके लिये व्यावहारिक स्तर पर सत्यसमाज में समुचित आचार संस्कृति, पर्व, विधि-विधान, संस्कारोत्सवों आदि के परिष्कृत स्वरूप को माना गया है।[429]

अतः उक्त विवेचन के आधार पर यह मानना संगत होगा कि स्वामी सत्यभक्त द्वारा स्थापित सत्यसमाज एवं सत्यधर्म/युगधर्म किसी परंपरागत धर्म विशेष का संप्रदाय नहीं है और न ही वह किसी प्राचीन धर्म का युगधर्म के रूप में समर्थन करता हैं। इसके प्रवर्त्तक स्वामी सत्यभक्त भी पूर्व तीर्थकर, पैग़ंबर की तरह किसी प्राचीन धर्म या संप्रदाय के आचार्य व समर्थक नहीं है।[430] इसलिये यह मानना

---

424. वही, सत्यदर्शन, विषय सूची, पृ. 7, 17, 23, 66, 81

425. वही, पृ. 6, 78-81, 97

426. वही, पृ. 97; सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 11। - 13।; संगम, जनवरी 1990, पृ. 5

427. वही, सत्येश्वर गीता, पृ. 4-5, 6, 7, 8, 9, 10

428. 'सत्येशागे भक्तल, ममेशीगे साधल।

पुम सत्यभक्तघे अंक अम्भल।।'

भावार्थ-'सत्येश्वर की श्रद्धापूर्वक आज्ञा मानकर विनय करता हूँ। भगवती अहिंसा की (विश्वप्रेम की ईश्वरी) की साधना करता हूँ सत्य के सभी भक्तों (तीर्थंकर, पैग़ंबर, अवतार आदि) के उपदेश विवेकपूर्वक मानता हूँ।' –सत्यभक्त, सत्यार परिचय, प्रथम पृष्ठ, 15-17; वही सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 11-12; सत्यार गीत

429. वही, 'मम्मीरो मनाइये' संगम, सित. 1989, पृ. 178; जून 1982, पृ. 136; सत्यभक्त, सत्यामृत-व्यवहारकांड, पृ. 449।।, 546।। - 548 ।।, 554।।

उचित होगा कि स्वामी सत्यभक्त द्वारा स्थापित सत्यसमाज एवं सत्यधर्म आधुनिक समकालीन चिंतन में 'युगानुरूप स्वतंत्र चिंतन का परिणाम है।'[431] यह विशेष ध्यान रखने योग्य है कि इसके अंतर्गत सर्वधर्म समभाव की धर्म रूप में व्यावहारिक स्थापना हुई है, उसे मात्र सिद्धांत रूप में ही नहीं माना गया है। भावनात्मक स्तर पर परमसत्ता की ईश्वरवादी तथा बौद्धिक स्तर पर सत्य रूप में अनीश्वरवादी व्याख्या की गयी हैं। सभी प्रकार के मनुष्यों की वृत्तियों को ध्यान में रखते हुए अनुकूल ज्ञान, भाव व क्रिया का समन्वय भी किया गया है। सर्वधर्म समभाव की व्यावहारिक परिणति के रूप में 'सत्यार' एवं सत्यसमाज की स्थापना की गयी है तथा इस आधार पर भविष्य में ज्ञान-विज्ञान से युक्त सर्वधर्म समभावी विश्वमंडल/विश्वराष्ट्र की योजना की गयी है। अतः इसे युगधर्म के रूप में स्वीकार करना अनुचित नहीं होगा। इन उल्लिखित आधारों पर यह कहा जा सकता है कि स्वामी सत्यभक्त के धर्म समभावपूर्ण चिंतन में सर्वधर्म समभाव/समभाव की न केवल सैद्धांतिक व्याख्या की गई है वरन् यह व्यावहारिक एवं मूर्त्त भी है। यद्यपि अभी यह शैशव रूप में है परंतु इसके युवा होने की संभावना से इंकार भी नहीं किया जा सकता है।

अतः इस अध्याय के सार बिंदु के रूप में यह कहा जा सकता है कि समकालीन चिंतक सर्वधर्म समभाव की दृष्टि से सभी धर्मों को अपूर्ण मानते हैं। स्वामी विवेकानंद, राधाकृष्णन्, स्वामी सत्यभक्त आदि चिंतक धर्म समभाव की दृष्टि से परंपरागत धर्मों के गुण व दोषों के विश्लेषण व समीक्षा करने को मान्यता देते हैं। इनके अनुसार सिद्धांत व व्यवहार की भिन्नता के कारण परंपरागत धर्म वर्तमान युगानुरूप धर्म नहीं है। अतः युगानुरूप युगधर्म की स्थापना होनी चाहिये। इस संदर्भ में स्वामी विवेकानंद सर्वधर्म समभाव की ऐसी योजना प्रस्तुत करते हैं जिसमें सभी प्रकार की मनोवृत्तियों के लोगों का समावेश हो सके। परंतु यह योजना सैद्धांतिक व अमूर्त्त ही रही तथा भविष्य में इसके व्यवहार रूप में परिणत होने की आकांक्षा व्यक्त की गयी। कालांतर में स्वामी सत्यभक्त धर्म समभाव की व्यापक स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक युग के अनुरूप सत्यदृष्टि को ध्यान में रखते हुए वे परमसत्ता, को बौद्धिक दृष्टि से सत्य एवं भावनात्मक दृष्टि से ईश्वर (सत्येश्वर) के रूप में व्याख्यायित करते हैं। सभी धर्मों एवं महामानवों को उससे संबद्ध मानते हुए, उनके प्रति विवेकपूर्ण समान आदरभाव रखना मानते हुए सत्यसमाज के धर्मालय 'सत्यार' में सभी धर्मों को समान प्रतिनिधित्व देते हैं। वे समभाव को एक प्रकार से धर्म दृष्टि नहीं अपितु धर्म ही मानते हैं और उसमें सभी धर्मों के समन्वय के साथ-साथ राष्ट्रों, जातियों, व्यक्तियों आदि के प्रति भी समभावपूर्ण व्यवहार करना महत्वपूर्ण मानते हैं। इस पूर्ण समभाव के आधार पर वे संपूर्ण विश्व को एक

430-431. जननी मासिक (इलाहाबाद); मराठी समाज स्वास्थ्य (बम्बई), उद्धृत-संगम, अगस्त 1989, पृ. 152

मानवराष्ट्र के रूप में देखने का चिंतन पस्तुत करते हैं। उनके चिंतन में सब मानवों को एक ही मानव जाति के रूप में मानते हुए परस्पर स्नेह वे सद्भाव से रहना ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। अतः स्वामी सत्यभक्त के सर्वधर्म समभाव के आधार पर प्रस्तुत चिंतन को एवं प्रयोगात्मक सर्वधर्म समभाव को एक समग्र युगधर्म की संज्ञा से संज्ञिप्त किया जाना अनुचित प्रतीत नहीं होता है।

सर्वधर्म समभावी सत्यसमाज एवं सत्यार के संस्थापक



स्वामी सत्यभक्त



समाधि स्थल : स्वामी सत्यभक्त (पं॰ दरबारी लाल)
(10 नवम्बर 1899 - 10 दिसम्बर 1998)



सत्याश्रम, बोरगाँव-वर्धा (महाराष्ट्र)

उपसंहार

धर्म के स्वरूप पर चिंतन करने से स्पष्ट होता है कि धर्म शब्द बहुआयामी एवं व्यापक अर्थ वाला है। पदार्थ के गुण-विशेष, प्रकृति के आधारभूत नियम-सिद्धांत/ऋत, जीवन के नैतिक नियम, कर्त्तव्य आदि अनेक आशय इसके (धर्म) द्वारा अभिव्यक्त होते हैं।

वस्तुतः धर्म का आशय एवं स्वरूप इतना व्यापक है कि किसी विशेष देश काल एवं मत में बांध कर उसे परिभाषित करना संगत प्रतीत नहीं होता है। परंतु मानव मनोवृत्ति उसे शब्दों में आबद्ध कर उसका निर्धारण करना चाहती है अतः ऐसी स्थितियों में कई बार विभिन्न देश-काल एवं परिस्थितियों के आधार पर गौण रूप से विकसित एवं स्वीकृत मान्यताओं को भी मूल धर्म के रूप में मान लिया जाता है। जैसे-धर्म के क्रियाकर्म, प्रार्थना, पूजा, उपवास, धर्मस्थान, धर्मग्रंथ आदि। इस आधार पर मंदिर के धर्म को अगियारि (पारसी धर्म स्थान) के धर्म से, वेदपाठी मनुष्य को क़ुरआनपाठी मनुष्य से, गीतापाठी मनुष्य को बाइबिलपाठी मनुष्य से भिन्न मान लिया जाता है। जबकि धर्म अपने मूल स्वरूप में वस्तुतः किसी भी मंदिर, मस्ज़िद, चर्च, संघ, संस्था, मत, ग्रंथ, ध्वज आदि के साथ बंधा हुआ नहीं है। यद्यपि उपासना भाव, विधि-विधान, धर्म ग्रंथ एवं धर्मस्थान व्यक्ति-धर्म का एक अंग तो है तथा उस दृष्टि से मानव जीवन में इन सबका महत्व भी है परंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि धर्म-मंदिर, मस्ज़िद, चर्च, अगियारि, मठ आदि धर्मस्थानों में या धर्मग्रंथों में, उनकी भाषाओं में बंदी (क़ैद) रहने वाली विषय-वस्तु/तत्व है। ये सभी व्यक्तियों में धार्मिक शिक्षा एवं सात्विक संस्कार प्रदान करने का एक माध्यम तो हो सकते हैं परंतु स्वयं धर्म नहीं। इन्हें पाठशाला तो माना जा सकता है पर ज्ञान नहीं। ये सब देश-काल एवं परिस्थितियों में बंधे हुए होने से परिवर्तनशील हो सकते हैं, पंथ/मार्ग निर्देशक हो सकते हैं। ये परिपूर्ण धर्म नहीं हैं।[1] पूर्ण/मूल धर्म देश-काल एवं परिस्थितियों में बंधा हुआ नहीं होता है। उसमें समस्त मनुष्यों के लिये ऐहिक अभ्युदय (सांसारिक सुख) और निःश्रेयस (मोक्ष) अथवा प्रेयस और श्रेयस दोनों ही अभिप्रेत माने गये हैं।[2] यह अभिप्रेत ही सर्वांगीण उन्नति (सबकी सब प्रकार से उन्नति) है। धर्म की सर्वमान्य हो सकने वाली परिभाषाओं/व्याख्याओं में सांसारिक सुख/अभ्युदय को प्राथमिकता दी गयी है उसे सर्वथा त्याज्य अथवा हीन नहीं माना गया है यह ध्यान में रखने योग्य है।

यह उल्लेखनीय है कि मनुष्यों में तीन प्रकार की वृत्तियों प्रमुख होती हैं। वे हैं–ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक वृत्तियां। अतः धर्म की जो कोई भी परिभाषा/व्याख्या आदि की जाए उसमें

---

1. सत्यभक्त, धर्म मीमांसा, पृ. 3

2. वैशेषिक सूत्र, 1/1/2; सत्यभक्त, वही, पृ. 23-29

इन तीनों को यथेष्ट स्थान देना/समावेषित करना आवश्यक है तभी वह सर्वमान्य/सर्वस्वीकृत होने का रूप ग्रहण कर सकती है। इनके समन्वय के अभाव में धर्म एवं उससे संबद्ध चर्चा अपूर्ण रहती है। इसी संदर्भ में धर्म संबंधी परिभाषाओं का विश्लेषण-विवेचन किया गया है।

धर्म प्रमुखतः भौतिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक-सर्वांगीण विकास से संबद्ध है वह परमसत्ता/परमतत्व के रूप में ईश्वर से विमुख नहीं है परंतु उसमें व्यक्ति और समाज-सृष्टि के दृष्ट और अदृष्ट जीवन की सामंजस्यपूर्ण धारणा एवं विकास विशेष महत्वपूर्ण होता है। इसलिये धर्म में ईश्वर को मानना भी अनिवार्य नहीं माना गया है। बहुत से व्यक्ति/धर्म ऐसे हैं जो ईश्वर को नहीं मानते है। जैस-जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि। इस आधार पर स्पष्ट होता है कि कोई व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व को या उसके सृष्टिकृतृत्व को माने या न माने लेकिन जीवन को सुचारु रूप से व्यतीत करने हेतु धर्म के अधिकांश भाग जैसे-सत्य, नैतिक सिद्धांत, सांसारिक अभ्युदय/सुख, सामाजिक जीवन के नियम व व्यवस्थाएं आदि को तो स्वीकार करता ही है अथवा इन्हें स्वीकार करना ही होगा। ईश्वर को मानने या न मानने के बारे में धर्म व्यक्ति को पूर्णतः स्वतंत्रता देता है परंतु चोरी, हत्या, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, अन्याय, अनैतिक कृत्य आदि की स्वतंत्रता प्रदान नहीं करता है। कोई व्यक्ति पूजा-पाठ, प्रार्थना, ध्यान-साधना, व्रत-उपवास, यज्ञ-अनुष्ठान आदि करे या न करे; पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, मरणोत्तर जीवन, रहस्यवाद, सर्वज्ञता, सिद्धि आदि में विश्वास रखे या न रखे परंतु समाज में रहते हुए स्व-पर कल्याण के रूप में प्रतिष्ठित भाव (प्रेम, सहयोग, दया), ज्ञान, अधिकार व कर्त्तव्यों का पालन उसे करना ही होता है। अतः व्यक्ति धर्म-धारणा से मुक्त नहीं रह सकता है। यही कारण है कि मंदिर, मस्ज़िद, चर्च, ध्वजा, मूर्ति, नदी, चित्र धर्म ग्रंथों आदि प्रतीकों में देश-काल के अनुसार भले ही परिवर्तन होता रहे पर ये किसी न किसी रूप में मानव समाज में रहकर मानव में धारणात्मक आस्थाओं/अवस्थाओं को जगाये रहता है।[3]

मानव जीवन में धर्म, नैतिकता, दर्शन विज्ञान, धर्मदर्शन आदि सभी विषयों की उपयोगिता है। इन सबका ध्येय मानव ज्ञान व अनुभव में अपने-अपने ढंग से अभिवृद्धि करना है; उसे सत्यबोध कराना है; उसके जीवन से दुःखों का निराकरण कर युगानुरूप सुख/आनंद की वृद्धि करने में सहायक होना है। वैज्ञानिक सत्य तथ्यपरक है तथा धार्मिक सत्य जन-कल्याणपरक है जो नैतिकता, मानवता, सद्गुण आदि के रूप में अभिव्यक्त होता है। दोनों सत्य मानव जीवन से संबंधित हैं, दोनों का उद्देश्य मिथ्यात्वों का निराकरण करना है अतः उन्हें परस्पर विरोधी मानकर नहीं अपितु पूरक मानकर समझना चाहिये।[4]

---

3. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 137।।

4. वही, सत्यदर्शन, पृ. 7, 97; संस्कृति समस्या, पृ. 20-30; Plank, Max, Where Is Science Going, p. 165

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि धर्म, विज्ञान, दर्शन, नैतिकता, धर्मदर्शन आदि सभी विषय सत्य को महत्व देते हैं तथा सत्यज्ञान की प्राप्ति ही इनका उद्देश्य है तो फिर इनमें अंतर क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि यद्यपि सभी विषय सत्य को महत्वपूर्ण मानते हैं परंतु उसे अभिव्यक्त करने के लिये प्राचीनकाल से ही प्रतीकों की धारणा विकसित हुई है। ये वे मानव निर्मित/कृत्रिम चिह्न या संकेत होते हैं जिनके द्वारा किसी मूर्त्त, अमूर्त्त अथवा भौतिक, अभौतिक वस्तु के संबंध में वह अपने भाव/विचार/अनुभूतियों एवं क्रियाशीलता को अभिव्यक्त करते हैं। भिन्न-भिन्न विषयों में ये उनकी विधि-स्वभाव के आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं। धर्म में ये प्रतीक उसके वस्तु तत्व/प्रत्यय सिद्धांत के रूप में विकसित हुए हैं। इस दृष्टि से परमसत्ता/परमतत्व/ईश्वर, शरीरेत्तर चेतना/आत्मा/जीव, पुनर्जन्म/मरणोत्तर जीवन, कर्म, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, जगत/दृष्टि, धर्मस्थान, धर्मग्रंथ आदि सभी धर्म के प्रत्यय रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। इनके माध्यम से व्यक्ति की धर्म-भावना/चिंतन धर्मबोध अभिव्यक्त किया जाता है परंतु ये स्वयं धर्म नहीं है यह विशेषतः स्मरण रखा जाने योग्य है।

धर्म समभाव परंपरावादी एवं आधुनिक धर्मचिंतकों का केंद्रीय चिंतन बिंदु रहा है। इस संदर्भ में विचार करने पर स्पष्ट होता है कि धर्म समभाव भी बहुपक्षीय विचार है। जैसे-महात्मा गांधी धर्म समभाव का अर्थ प्रायः अन्य धर्मों के प्रति आदरभाव बढ़ाना करते हैं। वे धर्मों (परंपरागत धर्मों) में तुलना व विश्लेषण को मान्यता नहीं देते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि तुलना व विश्लेषण के द्वारा अच्छाइयों के साथ-साथ दोषों को भी देखा जाता है। अतः वे धर्मों में दोष निकालना अनुचित मानते हैं। उनके अनुसार धर्मों की आलोचना नहीं करनी चाहिये वरन् समर्पित भाव से उनके (धर्मों) गुणों की प्रशंसा करनी चाहिये। इस आधार पर स्पष्ट है कि उनके धर्म समभाव संबंधी विचारों में संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण ही महत्वपूर्ण है, विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण नहीं है। हमारे विचार से यह दृष्टिकोण सत्यज्ञान प्राप्ति एवं समग्र सर्वधर्म समभाव के संदर्भ में पर्याप्त नहीं है।

कारण कि पूर्ण ज्ञान/सत्यज्ञान में संश्लेषणपरक तथा विश्लेषणपरक-दोनों दृष्टिकोण महत्वपूर्ण होते हैं और धर्म समभाव में भी पूर्ण सत्य का समावेश होना चाहिये। अतः पूर्ण धर्म समभाव में समालोचनात्मक दृष्टिकोण/विश्लेषण-तुलना आदि भी पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा धर्मों के गुण तथा दोष-दोनों का सत्यज्ञान हो जाता है। सत्यज्ञान होने पर जिस आधार पर अन्य धर्मों के प्रति आदरभाव उत्पन्न होता है वही वास्तविक धर्म समभाव है। अतः धर्म समभाव का अर्थ विवेकपूर्ण समालोचनात्मक, निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाते हुए पूर्वाग्रहों/पूर्वधारणाओं से मुक्त होकर सब धर्मों का समान आदर करना है। इसलिये तुलनात्मक दृष्टि से स्वामी विवेकानंद, डॉ. राधाकृष्णन् स्वामी सत्यभक्त आदि चिंतकों द्वार निर्धारित धर्म-समभाव का अर्थ अधिक संगत है। इस आधार पर धर्म समभाव में न तो मिथ्या विनय होता है और न

ही मात्र विश्वासपूर्ण श्रद्धाभाव ही, वरन् उनकी युगानुरूप सत्यता के प्रति विवेकपूर्ण आदरभाव है। इसमें सभी धर्मों के सत्य को अपनाया जाता है और मिथ्यात्व का त्याग किया जाता है। इससे जो कुछ भी सत्य एवं युगानुकूल है उसके प्रति स्वीकृति का भाव उत्पन्न होता है तथा स्व-पर विरोध के समाप्त होने की पूर्ण संभावना रहती है। अतः देश-काल के अनुरूप कल्याणकारक एंव सुख व आनंद की अभिवृद्धि करने वाले सत्य, धर्म उपदेशों/सिद्धांतों को ग्रहण करना, कालमोह, स्वत्वमोह का त्याग कर उन पर निःष्पक्ष विचार करना तथा उनके संबंध में योग्य शिष्टाचार एवं आदरभाव का पालन करना धर्म समभाव है।[5] इसमें ज्ञान, भाव एवं क्रिया इन तीनों पक्षों को समन्वित माना गया है।

धर्म समभाव के अर्थ एवं परिभाषा के निर्धारण क्रम में ही धर्म समभाव के आधारतत्वों के निरूपण हेतु धर्म समभाव की विशेषताओं/आधारतत्वों को प्रतिष्ठित किया गया है। स्वामी सत्यभक्त ने विवेकपूर्ण चिंतन के आधार पर स्पष्ट एवं व्यापक रूप में धर्म समभाव की विशेषताओं का निर्धारण किया है। ये हैं- सत्यशोधकता, धार्मिक द्वंदपरिहार, अनेकांत दृष्टिलब्धि, स्वत्वमोह विजय, इतिहास प्रकाश (इतिहास के आधार पर सत्यज्ञान), कृतघ्नता परिहार (अतीत के प्रति कृतज्ञता), धर्म मर्मज्ञता और सामाजिकता में वृद्धि। इनके आधार पर मनुष्य-मनुष्य में विश्वप्रेम/चेतनात्मक समानता, अनासक्त राग-द्वेष से परे निष्पक्षता एवं समन्वयशीलता/अन्य धर्मों/मतों के प्रति आदरभाव उत्पन्न होता है। अतः इन आधारों पर हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक विकासक्रम में पूर्ववर्ती धर्म (पहले का धर्म) अपने परवर्ती धर्म (बाद के धर्म) के लिये आदर का विषय है। इस तरह सभी धर्मों एवं उनके प्रवर्त्तकों के प्रति विवेकपूर्ण समान आदरभाव रहता है। उनका सत्य युगानुकूल होने पर ग्रहण कर लिया जाता है एवं युगबाह्य विचारों का त्याग किया जाता है। इसमें उनमें कोई विरोध-भाव नहीं रहता है।

पौर्वात्य धर्म एवं धर्म समभाव में पौर्वात्य (पूर्वीय) परंपरा में विकसित धर्म यथा-हिन्दू धर्म, जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के धार्मिक प्रत्ययों तथा धर्म समभाव के मान्य आधारों के आधार पर धर्म समभाव की अवधारणा स्पष्ट की गयी है। इनमें परमसत्ता/परमतत्व, शरीरेत्तर चेतना, मरणोत्तर जीवन-अमरता, पुनर्जन्म/पुनर्जीवन, बंधन, मोक्ष/मुक्ति, कर्मवाद/कर्मफलन, न्याय, पाप, पुण्य, स्वर्ग-नरक, जगत् आदि धार्मिक प्रत्ययों को प्रस्तुत किया गया है। बाद में विवेचित सभी पौर्वात्य धर्मों के इन धार्मिक प्रत्ययों/सिद्धांतों/धारणाओं तथा उनके धर्म समभाव संबंधी चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

पाश्चात्य धर्म एवं धर्म समभाव में पाश्चात्य (पश्चिमी) परंपरा में विकसित धर्म यथा-यहूदी धर्म, ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म के धार्मिक प्रत्ययों एवं धर्म समभाव के मान्य आधारों के आधार पर धर्म समभाव की

---

5. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 125।।

अवधारणा स्पष्ट की गयी है। बाद में विवेचित सभी पाश्चात्य धर्मों के धार्मिक प्रत्ययों/धारणाओं तथा उनके धर्म समभाव संबंधी चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

पौर्वात्य एवं पाश्चात्य (पूर्वीय एवं पश्चिमी) धर्म चिंतन में उल्लिखित धर्मों के सिद्धांतों/प्रत्ययों में निहित धर्म समभाव की धारणाओं की तथा धर्म समभाव की मान्य अवधारणाओं के आधार पर तुलना (विश्लेषण-विवेचन) की गयी है। इस तुलना से यह भी स्पष्ट हुआ है कि विवेचित सभी प्रमुख धर्मों में धर्म समभाव के मान्य सभी आवश्यक आधार-यथा चेतनात्मक आधार पर धर्म समभाव, अनासक्त (राग-द्वेष से परे, निष्पक्ष) आधार पर धर्म समभाव एवं अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव-उपलब्ध होते हैं।

वस्तुतः धर्मों में संपूर्ण विश्व (सृष्टि) में मानव प्रकृति व उसके अंतर्सम्बंधों की स्वाभाविकता को धार्मिक चिंतन के माध्यम से सिद्धांततः तद्नुरूप व्यवहार (व्यष्टिगत और समष्टिगत) के स्तर पर एक ऐसा स्वरूप प्रदान किया गया है जिसमें 'स्व' का परिष्कृत असीम विस्तार 'सर्व' में भ्रातृत्वभाव, सौमनस्य एवं मानवता के रूप में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। यह सीमित 'स्व' का भावबोध और ज्ञानबोध ही संपूर्ण मानवजाति को समभावपूर्ण एकात्मीकरण की ओर प्रेरित करता है। इसके आधार पर ही उसमें संयम, संतोष, त्याग समर्पण आदि भाव उत्पन्न होते हैं तथा वह सभी व्यक्तियों को एक ही परमसत्ता से संबद्ध मानते हुए परस्पर कौटुंबीकरण का व्यवहार करता है। इस 'वसुधैव कुटुंबकम्' में सभी के प्रति आदरभाव विकसित होता है तथा मतभेद होने पर भी वैमनस्य, द्वेष, हिंसा, आदि का भाव/व्यवहार नहीं किया जाता है। इसके कारण इसे धर्मों का शुक्ल पक्ष भी कहा जा सकता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि परंपरागत प्रमुख धर्मों में सब धर्मों के प्रति एवं व्यक्तियों के प्रति समान आदरभाव/सर्वधर्म समभाव का उल्लेख होने पर भी इसकी यथार्थ क्रियान्विति नहीं हो पायी है। और परिणामस्वरूप आचरणात्मक पक्ष के रूप में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः कई दोषों का प्रतिष्ठित विवेचन हमें धर्मग्रंथों में उपलब्ध होता है। इसके प्रभाव से समाज में आज भी कई रूढ़ियों व दोषों का प्रचलन है। इसकी चर्चा यथास्थान पर की गयी है। धर्मों के आधार पर किया गया यह आचरण/व्यवहार पक्ष उनकी प्रेम, समानता, सद्भावना, सहयोग, समरसता, सामंजस्य, सम्मान आदि के पक्ष को धूमिल/कृष्णपक्षीय कर देता है। यही नहीं अपितु सजग, बुद्धिजीवी पाठक एवं चिंतक को धर्मों में स्वीकृत ये मान्यताएं परस्पर विरोधी एवं असंगत लगती हैं तथा उनमें शनैःशनैः परंपरागत धर्मों के प्रति उपेक्षाभाव, संदेहभाव आदि उत्पन्न होते हैं और उनसे विमुख होने की प्रवृत्ति विकसित होती है। ऐसी स्थिति में प्रबुद्ध धर्म-चिंतकों के द्वारा या तो परंपरारूप में उपलब्ध धर्मों में सुधार करना आवश्यक हो जाता है या फिर युगानुरूपता (युगदृष्टि) को ध्यान में रखते हुए किसी ऐसे नवीन युगधर्म की स्थापना करना महत्वपूर्ण हो जाता है जो सिद्धांत व आचरण की-परस्पर विरोधी एवं असंगत मान्यताएं न रखता हो।

इस दृष्टि से धर्म समभाव एवं समकालीन चिंतन नामक अध्याय में विचार किया गया है। इसके अंतर्गत यह स्पष्ट हुआ कि स्वामी विवेकानंद, डा. भगवान दास, महात्मा गांधी, डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, स्वामी सत्यभक्त आदि भारतीय चिंतकों ने परंपरागत धर्मों पर चिंतन करते हुए धर्म समभाव संबंधी व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इनके द्वारा संसार में अहंकार, संघर्ष और प्रतिद्वंदता द्वारा उत्पन्न बुराइयों, द्वेष, ईर्ष्या, हिंसात्मक प्रवृत्ति, घृणा तथा शोषण आदि को अनुचित मानते हुए उनका विरोध किया गया है। कारण कि संसार में इनके ही कारण विच्छिनताएं होती हैं अतः इन प्रकीर्ण विच्छिन्नताओं को दूर करना धर्म समभाव का साध्य है।

यह उल्लेखनीय है कि इस साध्य को मात्र चिंतन द्वारा नहीं पाया जा सकता है, अतः स्वामी सत्यभक्त धर्म समभाव के अंतर्गत आधुनिक युगानुरूप दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हुए उसे सत्यसमाज के रूप में वर्तमान के युगधर्म/विश्वधर्म का व्यावहारिक रूप भी प्रदान करते हैं। यह विवेकपूर्ण दृष्टि पर आधारित सामान्य मानव के लिये सामान्य, सरल एवं सहज धर्म तथा कर्त्तव्य के रूप में है। इसमें मानव की ज्ञान, भाव, क्रिया आदि सभी प्रकार की वृत्तियों को ध्यान में रखा गया है। यह सभी प्रकार की वृत्ति वाले व्यक्तियों के लिये ग्राह्य हो सकता है। इसमें धर्म समभावपूर्ण धर्म एवं समाज के लिये कुछ नियम, सिद्धांत, धर्म स्थान, विधि-विधान है। उनका धर्म समभाव धर्म के संबंध में एक विशेष चिंतन पद्धति ही नहीं अपितु व्यवहार पद्धति भी है जिसका संबंध समग्र मानवता से है। वे 'सत्यार' के रूप में एक ही वेदी पर सभी धर्मों के प्रति समान आदरभाव अपनाते हुए उनके महापुरुषों को यथायोग्य स्थान प्रदान करते हैं। वे अपने सच्चिदानंदवाद में विवेक एवं समभाव को महत्व देते हुए ज्ञानात्मक स्तर पर सत्य को सिद्धांत के रूप में एवं भावनात्मक स्तर पर ईश्वर के रूप में मानते हुए ईश्वरवाद एवं अनीश्वरवाद-दोनों का समन्वय करते हैं।[6]

वे मानते हैं कि मनुष्य मात्र मनुष्य है वह धर्म, जाति, संप्रदाय, वर्ण, राष्ट्र, भाषा आदि नहीं है। उसमें सभी मनुष्यों के लिये एकत्व की एवं भ्रातृत्व की भावना होनी चाहिये क्योंकि सभी एक दूसरे से गहन रूप से आबद्ध हैं तथा एक ही परमसत्ता के विकसित रूप हैं। अतः मनुष्य-मनुष्य में धर्म, जाति, लिंग, वर्ग, वर्ण, संप्रदाय, भाषा आदि की विभिन्नताओं के आधार पर परस्पर भेदभाव, घृणा, वैमनस्य, हिंसा, युद्ध

---

6. 'सत्यभक्त की भावुकता का प्यारा ईश्वरवाद। सत्यभक्त की सजग बुद्धि का प्यारा अनीश्वरवाद।। ईशानीश समन्वयमय तू सद्विवेक की खान। कौन तू तेरा कौन निशान।।5।।'

   'ईश अनीशवाद के झगड़े छोड़े सब विद्वान। अपनी मति गति लेकर करदे जग को स्वर्ग समान। सत्यभक्त, कर चिदानन्दमय सत्येश्वर का ध्यान।। कौन तू तेरा कौन निशान।।18।।' – सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 12, II

आदि की दुर्भावनाएं नहीं होनी चाहिये। साथ ही उसे यह बोध भी हो जाना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य एक वृहत्त परिवार एवं समाज-समष्टि का सदस्य है और मूलतः सभी की एक ही जाति और एक ही धर्म है तथा वह है मानव होना और सबके प्रति सम होना (समभाव होना)[7] यह विवेकपूर्ण स्वत्वबोध ही समस्त युग धर्मों का एवं धर्म समभाव का मूल उद्देश्य है।[8]

इस उद्देश्यपूर्ण भावना को समझकर व्यवहार करने के लिये धर्मों में भी कहा है कि–

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः। -हितोपदेश

'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि पश्येमम्।' -वेद

'इसमें कोई शक नहीं कि अल्लाह ने आदम को अपनी सूरत पर बनाया है, हर इंसान की सूरत रहमान की ही सूरत है।' -हदीस

'यः क्रियावान सः पंडितः।' -महाभा., कर्णपर्व, 312/108

अर्थात् जो इन सबके प्रति आत्मौपम दृष्टि/विवेकपूर्ण आधार पर समभावपूर्ण व्यवहार करता है वही ज्ञानी/बुद्धजन है। अतः धर्म समभाव मात्र सैद्धांतिक दृष्टि नहीं है अपितु मानव-मानव में परस्पर व्यवहार की दृष्टि है और समभावपूर्ण दृष्टि का व्यवहार है।

इस प्रकार इस पुस्तक में विभिन्न धर्मों की मूल स्थिति एवं अन्य मतानुयायी लोगों के विषय में समभावपूर्ण धारणाओं की सोदाहरण प्रस्तुतियों से यह स्पष्ट होता है कि सभी धर्मों में मनुष्य-मनुष्य में, प्राणी-प्राणी में भेद स्वीकार नहीं किया गया है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक कारणों एवं परिस्थितियों के आधार पर विकसित भिन्नता, पृथकता एवं श्रेष्ठता-निम्नता सतही है। वास्तविकता अथवा यथार्थ स्थिति से इन सतहगत धारणाओं एवं मान्यताओं का कोई संबंध नहीं है। इस मूल पर ही आधुनिक धार्मिक धर्म समभावी चिंतकों का चिंतन आधारित है, यद्यपि उसमें पूर्ण समानता नहीं है क्योंकि विचार व्यक्ति एवं परिस्थिति पर भी आश्रित होते हैं किंतु उनके आशयगत विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वे धर्म समभाव के पक्षधर हैं और प्रत्येक चिंतक ने अपनी दृष्टि से श्रेष्ठ धर्म समभाव की धारणा प्रतिपादित की है। शोध परक इस पुस्तक में हमने सभी धर्म समभावी चिंतकों के चिंतन को समालोचनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है जिससे समभाव की धारणा श्रेष्ठत्तर रूप में प्रस्तुत हो सके।

धर्म समभाव चिंतन तक सीमित नहीं माना जा सकता है, अतः इसका क्रियात्मक महत्व भी है। धर्म

---

7. वही, सत्येश्वर गीता, पृ. 12-13, 14-16, 17-18, 19-22

8. वही, सत्यसमाज की देन, पृ. 3-5, 6-8, 15-17, 20

समभाव एक व्यवहार प्रणाली है अतः स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी एवं स्वामी सत्यभक्त ने इस पक्ष पर विशेष ध्यान दिया। इनमें से भी महात्मा गांधी एवं सत्यभक्त ने इसका विशेष क्रियान्वयन किया। महात्मा गांधी की राजनीतिक एवं सामाजिक व्यस्तताओं ने उन्हें धर्म-समभाव (सर्वधर्म समादर) के व्यवहारकर्त्ता के रूप में तो प्रस्तुत किया किंतु उनके धर्म समभाव के चिंतन में उतनी निष्पक्ष व्यापकता एवं गहराई नहीं आ पायी है, साथ ही कुछ पक्ष अछूते रह गये हैं। इन अछूते पक्षों पर स्वामी सत्यभक्त ने ध्यान दिया एवं धर्म समभाव का व्यापक विवेकपूर्ण व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया, जिसका यथा स्थान विवेचन किया गया है।

उक्त पुस्तक में धर्म समभाव के लिये सभी धर्मों के ऐतिहासिक विवेचन से लेकर समकालीन चिंतन तक के विवेचन को प्रस्तुत करने के साथ ही यह प्रतिपादित किया गया है कि कोई भी सिद्धांत व्यवहार रूप ग्रहण किये बिना सार्थकता प्राप्त नहीं करता है। अतः प्रथमतः वैचारिक स्तर पर धर्म समभाव संबंधी स्पष्टता का होना आवश्यक है। इस शोधपरक पुस्तक में इसी स्पष्टता को प्रस्तुत किया गया है और धर्म समभाव को आधुनिक युगानुकूल युगधर्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

ग्रंथ-संदर्भिका (Bibiliography)

1. हिन्दी/संस्कृत/पालि/प्राकृत

(अ) मूल गंथ/शब्दकोष/सहायक एवं आधुनिक ग्रंथ

अकलंक : *तत्वार्थ सूत्र राजवार्तिक* टीका, कोलकाता (1929 ई.)

अभयदेव (संपा. वेणीचंद सुरचंद्र) : *स्थानांग सूत्र* वृत्ति (दो भाग), आगमोदय समिति, बम्बई (1918-20)

अभयदेव (टीका) : भगवती सूत्र बंबई (1918-21)

अमितगति, आचार्य (विवे. -पं. भागचंद) : *अमितगति श्रावकाचार,* अनंतकीर्ति दिग. जैन ग्रंथमाला, बंबई (1979 वि.सं.)

अमितगति : *सामयिक पाठ,* देहली (1966)

अमितगति (संपा. भाष्य-जुगल किशोर मुख़्तार) : *योगसार,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रका., मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमाला वाराणसी (1968), *योगसार* अमितगति, जैन सिद्धांत प्रका. संस्था, कलकत्ता (1918 ई.)

अश्वघोष : *बुद्धचरित* (बुद्धचरित्र)

अमरमुनि (व्याख्या) : *सामयिक सूत्र,* सन्मति ज्ञानपीठ प्रका., आगरा (1956)

अमरमुनि, मुनि श्री कन्हैयालाल (संपा.) : *निशीथ सूत्र,* सन्मति ज्ञानपीठ प्रका., आगरा

अमृतचंद्र : *पुरुषार्थ सिद्धयुपाय,* सेंट्रल जैन पब्लिक हाऊस, लखनऊ (1935 ई.); श्री परमश्रुत मंडल, बंबई (2431 वी.स.)

अरविंद, महर्षि (अनु. केशवदेव आचार्य) : *दिव्य जीवन* (दो भाग), दिव्य जीवन साहित्य प्रकाशन, पांडिचेरी-2 (1971)

अरविंद, महर्षि (अनु. केशवदेव आचार्य) : *मानव एकता के आदर्श,* जीवन प्रकाशन, पांडिचेरी-2 (1971)

अवस्थी, नंदकुमार (हि.अनु.) : *क़ुरआन शरीफ़,* लखनऊ किताबघर, मौसम बाग, सीतापुर रोड़, लखनऊ

आर्यरक्षित : *अनुयोगद्धार,* प्रकाशक-राय धनपत सिंह

आप्टे, उमाकांत केशव : *मृत्युंजय* भारत, सुरुचि साहित्य, नई दिल्ली (1980)

आत्माराम (हि.अनु. व व्याख्या) : *आचारांग सूत्र* (दो भाग), जैन आगम प्रका. समिति, लुधियाना (1963)

आत्माराम (हि.अनु. व व्याख्या) : *उपासकदशांग सूत्र* जैन आगम प्रका. समिति लुधियाना (1964)

आत्माराम (हि.अनु. व व्याख्या) : *श्रीनंदी सूत्रम,* जैन आगम प्रका. समिति, लुधियाना (1966)

आत्माराम (हि.अनु. व व्याख्या) : *प्रश्नव्याकरण,* आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना

आचार्य, अनुरुद्ध (अनु. भदंत आनंद कौशल्यायन) : *अभिधम्मत्थसंगहों,* बुद्ध विहार, लखनऊ (1960)

आचार्य, नरेंद्रदेव : *बौद्ध धर्म दर्शन,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना (1956)

आप्टे, वामन शिवराम (संपा.) : *संस्कृत हिन्दी कोष* (तृतीय संस्क.), मोतीलाल बनारसी दास, बंगला रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-7, (1973)

ईश्वरकृष्ण : *सांख्यकारिका,* नेशनल पब्लि. हाऊस, अंसारी रोड, दिल्ली (1969)

..... : ईशावास्योपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर (2030 सं.)

..... : ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर (2040 सं.)

..... : उपनिषद् (*संक्षिप्त संस्क.*), निर्णयसागर प्रेस, बंबई

उपाध्याय, बलदेव : *बौद्ध दर्शन मीमांसा* (*दवि. संस्क.*), चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी (1954)

उपाध्याय, भरतसिंह : *बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन* (*दो भाग*), बंगाल हिन्दी मंडल, कलंकत्ता (2011 सं.)

उमास्वाति : *तत्वार्थ सूत्र,* सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; भारतीय ज्ञानपीठ, मूर्तिदेवी जैन ग्रंथामाला दुर्गाकुंड, बनारस (1944)

..... : *उत्तराध्ययन सूत्र,* जैन श्वेता, तेरापंथी महासभा 3, पोर्चुगीज, चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता (1967); श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना (2478 सं.)

..... : *उवासगदसाओ,* आगम प्रका. समिति, ब्यावर (1980)

..... : ऐतरेय उपनिषद्, गीता प्रेमस गोरखपुर (2006 सं.)

..... : *कठ उपनिषद्,* गीता प्रेस गोरखपुर (2032 सं.)

कणाद, महर्षि : *वैशेषिक सूत्र,* इलाहाबाद प्रका. (1923)

..... : *कण्व संहिता,* शुक्ल यजुर्वेदीय, संपा. माधव शास्त्री, बनारस (1915)

..... : *कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण,* (सायण टीका सहित 3 जिल्द), संपा. आर. एल. मित्र, कलकत्ता (1859-70)

कपिल, महर्षि : *सांख्य प्रचवन सूत्र,* भारतीय विद्या प्रका. वाराणसी (1966)

काणे, पी. वी. (अनु. अर्जुन चौबे काश्यप) : *धर्मशास्त्र का इतिहास* (1 से 5 भाग द्वि. संस्क.), हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, (1975)

कार्तिकेय : *कार्तिकेयानुप्रेक्षा,* राजचंद्र ग्रंथमाला प्रका. (1960 ई.); डा. आ. ने. उपाध्याय (संपा.), परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, गुजरात

काश्यप, भिक्षु जगदीश (संक.) : *मज्झिम निकाय,* नव नालंदा महाविहार संस्क.

काश्यप, भिक्षु जगदीश (अनु.) : *दीर्घ निकाय,* नव नालंदा महाविहार संस्क.

काश्यप, भिक्षु जगदीश (अनु.) : *उदान,* महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस

कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, *ब्ला. ई. लेलिन* : द्वंदात्मक भौतिकवाद, प्रगति प्रका., मास्को (1978)

कालिदास : *रघुवंश,* चौरवम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

कुंदकुंदाचार्य : *षट् पाहुड़* (दर्शन पाहुड़, सूत्र पाहुड़, शील पाहुड़ (चरित्र पाहुड़), बोध पाहुड़, भाव पाहुड़, मोक्ष पाहुड़), माणिक चंद्र ग्रंथमाला प्रका., बंबई (1977 वि.स.)

कुंदकुंदाचार्य : *अष्ट पाहुड़,* कुंदकुंद कहान दिग. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर।

कुंदकुंदाचार्य (हि. अनु. परमेष्ठीदास) : *नियमसार,* अगरसेन, अजिताश्रम, लखनऊ (1963); टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर (1983)

कुंदकुंदाचार्य (हि. अनु. परमेष्ठीदास) : *समयसार,* अहिंसा मंदिर प्रका., देहली (1958)

कुंदकुंदाचार्य (हि. अनु. परमेष्ठीदास) : *प्रवचन* सार, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बंबई (1935 ई.)

कुंदकुंदाचार्य (हि. अनु. मगनलाल जैन) : *पंचास्तिकाय संग्रह,* कुंदकुंदर कहान दिग. जैन सुरक्षा ट्रस्ट बापूनगर, जयपुर (1990)

कुंदकुंदाचार्य : *पंचास्तिकाय,* परमश्रुत प्रभावक मंडल, बंबई (1972 वि.)

..... : *केनोपनिषद्* गीता प्रेस गोरखपुर (2030 सं.)

..... : *कौषितकी* उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर (2030 सं.)

कौशल्यायन, भदंत आनंद (अनु.) : *अंगुतर निकाय (तीन भाग)*, महाबोधि सभा, कलकत्ता

..... : *गरूड़ पुराण,* श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बंबई

गणधर, सुधर्माचार्य : *सूत्तकृतांग, श्री सूत्रागम प्रका.* समिति, जैन स्थानक, रेलवे रोड, गुड़गांव, हरियाणा (1961)

गणधर, सुधर्माचार्य : *सूत्रकृतांग,* स्था. जैन कांफरेंस, बंबई (1938)

गाँधी, मो.क. : *अनासक्ति योग,* सस्ता साहित्य मंडल प्रका., नई दिल्ली (1957)

गाँधी, मो.क. : *गीताबोध और मंगल प्रभात,* नव जीवन ट्रस्ट सर्वसेवा संघ प्रका., वाराणसी (1969)

गाँधी, मो.क. : *धर्म नीति,* नव जीवन ट्रस्ट सर्वसेवा संघ प्रका. वाराणसी (1979)

गाँधी, मो.क. : *सक्षिप्त आत्मकथा,* नव जीवन प्रका., अहमदाबाद (1951)

गुप्त, कच्छेंदीलाल (हि.अनु.) : *धम्मपद,* चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी (1983)

गुणभद्राचार्य : *आत्मानुशासन,* अजिताश्रम, लखनऊ (1928 ई.)

गौतम : *न्याय सूत्र,* चौखंबा, विद्या भवन, वाराणसी (1977)

गौतम : *गौतम धर्म सूत्र,* आनंदाश्रम, पूना

चंद्रकीर्ति : प्रसन्नपदा, वाराणसी (1983)

चावण्डराय (संपा. गजाधर जैन) : *चरित्र सार,* प्रकाशन वर्ष (1990)

..... : *छांदोग्य उपनिषद्* गीता प्रेस, गोरखपुर (2032 सं.)

जमालुद्दीन (संपा.) : *विनोबा दर्शन,* लोकोदय प्रका., वर्धा, महाराष्ट्र (1948)

..... : (अनु. भदंत आनदं कौशल्यायन) : *जातक,* हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

जिनसेन, आचार्य : *आदिपुराण,* भारतीय ज्ञानपीठ, मूर्तिदेवी ग्रंथमाला दुर्गाकुंड, बनारस

जिनेसन : हरिवंश पुराण (दो भाग), भारतीय ज्ञानपीठ, मूर्तिदेवी ग्रंथमाला, बनारस (1944)

जिनभद्रगणी (संपा. डा. नथमल टाटिया) : *विशेषावश्यक भाष्य* (भाग दो), दिव्य दर्शन ट्रस्ट, बंबई (2039 वि.सं.)

जेम्स, विलियम (हि.अनु. रमेशचंद्र) : *प्रयोजनवाद,* हि. ग्रंथ अका. राजस्थान, जयपुर (1972)

जैमिनी, महर्षि (संपा. श्री राम शर्मा) : *पूर्व मीमांसा सूत्र,* संस्कृति संस्थान बरेली (1969)

जैन, हीरालाल : *भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान,* मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल (1964)

जैन, फूलचंद : *मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन,* पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी (1987)

जैन, सागरमल : *जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन* (भाग 1 व 2) राज. प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (1982)

झा, गंगानाथ : *प्राभाकर मीमांसा* (प्र. संस्क.), बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (1942)

..... : *तत्वार्थ सार,* जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता (1929 ई.सं.)

तिलक, बालगंगाधर (प्रका. आर.बी. तिलक) : *गीता रहस्य,* लोकमान्य तिलक मंदिर, नारायण पेठ, पूना (1984)

..... : *तैत्तिरीय उपनिषद्* गीता प्रेस, गोरखपुर (2033 सं.)

..... : *तैत्तिरीय संहिता, (सायण व्याख्या)*, आनंदाश्रम मुद्रणालय, पूना (1940)

..... : (संपा. मधुरकर मुनि) : *दर्शवैकालिक* (हि.अनु.), स्थानक जैन कांफरेंस, बंबई

..... : *थेरीगाथा,* भागवत एन.के. बंबई (1937)

दास, भगवान (अनु. पं. सुंदरलाल) : *सब धर्मों की बुनियादी एकता,* चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी (1961)

दुबे, एम.पी.: *धर्म निरपेक्षवाद और भारतीय प्रजातंत्र,* नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, (1991)

देवराज, नंदकिशोर : *संस्कृति का दार्शनिक विवेचन,* प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उ.प्र. (1957)

देवेंद्रमुनि शास्त्री : *जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण,* श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर (1975)

देवेंद्रमुनि शास्त्री : *भगवान महावीर एक अनुशीलन,* श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर (1974)

धर्म कीर्ति (संक. द्वारिकादास शास्त्री) : *प्रमाणवार्तिकम्,* बौद्ध भारती, वाराणसी (1968)

धर्मरत्न, भिक्षु (अनु.) : *सुत्त निपात,* महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस (1950)

धर्मरत्न, भिक्षु (अनु.) : *थेरगाथा,* महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस (1955)

29—259 Min. of H.R.D./2005

..... : *धर्मशास्त्र (बाइबल का हि.अनु.)*, बाइबल सोसायटी ऑफ इंडिया, बैंगलौर

नथमल, मुनि (संपा. दुलहराज) : *जैन दर्शन : मनन और मीमांसा,* आदर्श साहित्य संघ चूरू, राज. (1973)

नथमल, मुनि (संपा.) : *आचारांग सूत्र (आयारो)*, जैन विश्वभारती लाडनुं, राज. (2031 सं.)

नगेंद्र एवं नरवणे, वी.एस. (संपा.) : *मानविकी पारिभाषिक कोश,* दर्शन खंड, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (1966 सं.)

नागार्जुन : *माध्यमिकशास्त्र* (माध्यामिककारिका), मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, बिहार

निंबार्क : *वेदांत पारिजात सौरभ,* रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता (1940)

..... : निरुक्त कोश, जैन विश्व भारती, लाडनूँ (1984)

नेमिचंद्र, आचार्य (संपा. ए.एन. उपाध्ये) : *गोम्मटसार कर्मकांड एवं जीवकांड,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रका., नई दिल्ली (1978, 1979)

नेमिचंद्र, आचार्य (संपा. मोहनलाल शास्त्री) : *द्रव्य संग्रह (द्वादश संस्क.)*, सरल जैन ग्रंथ भंडार, जबलपुर, म.प्र. (2505 वि.सं.)

पाण्डेय, राजबली : *हिन्दू धर्मकोश* : *उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,* लखनऊ (1988)

पाण्डेय, गोविंदचंद्र : *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास,* हिन्दी समिति, सूचना विभाग उ.प्र. लखनऊ (1963)

पुष्पदंत, आचार्य : *महापुराण,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रका., काशी (1951 ई.)

पूज्यपाद (संपा. फूलचंद शास्त्री) : *सर्वार्थ सिद्धि (तत्वार्थ सिद्धि)*, भारतीय ज्ञानपीठ प्रका., बी/45-47, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली (1955)

पैट्रिक, जार्ज टॉमस व्हाइट (हि.अनु. उमेश्वर प्रसाद मालवीय) : *दर्शन शास्त्र का परिचय,* हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़ (1984)

..... : प्रश्नोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर (2030 सं.)

फारुख़ खाँ, मुहम्मद (हि.अनु.) : क़ुरआन मज़ीद, मक़्तबा अल हसनात्, रामपुर (उ.प्र. 1970)

बंदिष्टे, डी.डी एवँ शर्मा, रमाशंकर (संपा.) *भारतीय दार्शनिक निबंध,* मध्य प्रदेश हि.ग्रं. अका., भोपाल (1991)

बादरायण (टीका शंकराचार्य) : *वेदांत सूत्र,* चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी (1967)

बुद्धघोष (संपा. धर्मानन्द कौसंबी) : *विशुद्धिमग्ग,* भारतीय विद्याभवन, बंबई

बुद्धघोष (अनु. धर्मरक्षित) : *विशुद्धिमार्ग (दो भाग),* महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस (1956-57)

बोहरा, संतोषचंद : *संस्मरणिका,* सत्याश्रम बोरगाँव, वर्धा (1966)

..... : *बृहदारण्यक् उपनिषद्,* गीता प्रेस, गोरखपुर (2032 सं.)

ब्रह्मानंद : *श्री रामकृष्ण उपदेश,* मलापुर मठ, मद्रास (1960)

भर्तृहरि : *नीति शतक,* व्यंकटेश्वर प्रेस, बंबई (1914 ई.)

भद्रबाहु, आचार्य : *आंचारांग निर्युक्ति,* रतलाम (1941 सं.)

भद्रबाहु, आचार्य : *आवश्यक निर्युक्ति,* आगमोदय समिति, बंबई (2454 वी. सं.)

भद्रबाहु (द्वीतीय) : *दशवैकालिक निर्युक्ति,* स्था. जैन कांफरेंस, बंबई (1993 ई.)

भंडारकर, आर.जी. (अनु. महेश्वर प्रसाद) : *वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत,* भारतीय विद्या प्रका., दिल्ली (1983)

भास्कर, भागचंद्र : *जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास,* नागपुर विद्यापीठ प्रका., नागपुर (1977)

भावे, विनोबा (अनु. कुंदुर दिवाण) : *धम्मपद (नवसंहिता),* सर्व सेवा संघ प्रका., वाराणसी (1972)

भावे, विनोबा : *आत्मज्ञान और विज्ञान,* सर्व सेवा संघ प्रका., वाराणसी

भावे, विनोबा : *साम्य सूत्र,* सर्व सेवा संघ प्रका. वाराणसी (1958)

भावे, विनोबा : *विनोबा चिंतन,* सर्व सेवा संघ प्रका., वाराणसी (1968, 1969)

..... : *भागवत पुराण (देवी भागवत एवँ विष्णु भागवत),* भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी

..... : *मत्स्य पुराण,* गीता प्रेस गोरखपुर, कल्याण वार्षिकांक 58-1 (1984)

..... : *मनुस्मृति,* पुस्तक मदिर मथुरा (2015), चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

मध्वाचार्य : *सर्वदर्शन संग्रह,* चौखंब., वाराणसी (1964)

मल्लिषेण (हिं.अनु. जगदीशचन्द्र जैनेन) : *स्याद्वाद मंजरी,* परमश्रुत प्रभावतक मंडल, अगास, गुजरात (1918)

मसीह, याकूब : *समकालील धर्मदर्शन,* बिहार हि.ग्र. अका., पटना (1972)

मसीह, याकूब : *पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या,* मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

मसीह याकूब : *तुलनात्मक धर्मदर्शन* (द्वि. संस्क.), मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी (1990)

महत्तर, जिनदासगणी : *आचारांग चूर्णि,* ऋषभदेव जी, केसरीलाल जी श्वेतांबर संस्था

महत्तर, जिनदासगणी : *आवश्यक चूर्णि,* आगमोदय प्रका. समिति, बंबई

महत्तर, जिनदासगणी (संपा. मुनि पुण्यविजय) : *नंदी सूत्र (चूर्णि सहित),* प्राकृत ग्रंथ परिषद, वाराणसी

महर्षि, पंतजलि : *योगसूत्र,* भारतीय विद्याभवन चौखंबा प्रका., वाराणसी (1963)

मशरूवाला, किशोरीलाल, घनश्यामलाल : *गाँधी विचार दोहन,* सस्ता साहित्य मंडल प्रका., नई दिल्ली (1939)

..... : *मांडुक्य उपनिषद्,* गीता प्रेस गोरखपुर (2030)

माचवे, प्रभाकर एवं दफ्तुआर, सुरेंद्र नारायण : *विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना,* बिहार हि.ग्र. अका., पटना (1974)

मालवणिया, दलसुख : *आत्ममीमांसा,* जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस (1953)

..... : *मिलिंद प्रश्न,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (1965)

..... : *मिशक़ावह शरीफ़*

..... : *मुंडक उपनिषद्,* गीता प्रेस गोरखपुर (2023 सं.)

मेक्डोनल, ए.ए. एवं कीथ, ए.बी. (अनु. राम कुमार राय) : *वैदिक इंडेक्स (दो भाग),* चोखंबा विद्याभवन प्रका., वाराणसी (1962)

मैक्समूलर (हि.अनु. ब्रह्मदत्त दीक्षित) : *धर्म की उत्पत्ति और विकास,* आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, 492-मालवीय नगर, इलाहाबाद (1968)

..... : *मैत्रायणी उपनिषद्,* गीता प्रेस, गोरखपुर (2023)

..... : *मैत्री उपनिषद्,* गीता प्रेस, गोरखपुर (2032)

: *मैत्रेय उपनिषद्,* गीता प्रेस गोरखपुर

..... : *याज्ञवल्क्य स्मृति,* चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस (1986 सं.)

..... : *योगवासिष्ठ,* निर्णयसागर प्रेस, बंबई

योगिंदुदेव : *परमात्म प्रकाश; योगसार,* परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचंद आश्रम अगास, गुजरात (2044 वि.स.)

रविषेण : *पद्मपुराण (पदम्चरित),* भारतीय ज्ञानपीठ प्रका., काशी (1944)

रायचंद्र : *आत्मसिद्धि शास्त्र,* निर्णय सागर प्रेस, बंबई (1964 सं.)

राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली : *भगवद्गीता,* सरस्वती विहार, नई दिल्ली (1982)

राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली : *भारतीय दर्शन (दो भाग),* राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली-6 (तृ. सं. 1973 एवं 1989 संस्क.)

राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली : *धर्म तुलनात्मक दृष्टि में,* राजपाल एंड संस, दिल्ली (1969)

राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली : *धर्म और समाज,* सरस्वती विहार, शाहदरा, नई दिल्ली (1975)

राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली : *प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार,* राजपाल एंड संस, नई दिल्ली-6 (1967, 1939)

राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली : (अनु. विजयकुमार मल्होत्रा) : *रचनात्मक जीवन,* सरस्वती विहार, शाहदरा, नई दिल्ली (1989)

राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली : *हमारी संस्कृति,* (तृ. संस्क.), राजपाल एंड संस (1982)

रानाडे, रामचंद्र दत्तात्रेय (अनु. रामानंद तिवारी) : *उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण,* राज. हि.ग्र. अका., जयपुर (1989)

..... : *राजवार्तिक,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रका., वाराणसी (2008 वि.सं.)

रामानुज : *श्री भाष्य,* ग्रंथमाला ऑफिस, कांजीवरम

रामानुज : *वेदांत सार,* मोतीलाल बनारसीदास, चौखंबा, वाराणसी

राजेंद्रमुनि : *चौबीस तीर्थंकर एक पर्यवेक्षण,* श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर (1976)

राजेंद्रसूरि, विजय : *अभिधान राजेंद्र कोश,* श्री आगमोदय समिति रतलाम (2450 वीर सं.)

लक्षमणसरूप (सत्यभूषण योगी) : *निघंटु तथा निरुक्त,* मोतीलाल बनारसीदास, चौखंबा, बनारस

वसु, नगेंद्रनाथ : *हिन्दी विश्वकोष : एकादश भाग,* कलकत्ता (1926)

वसुबंध (हि.अनु. आचार्य नरेंद्र देव) : *अभिधर्मकोश,* काशीप्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना

वर्मा, रामचंद्र (संपा.) : *संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर कोष (सप्तम संस्क.),* काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (1971)

वर्मा, रामचंद्र (संक.) : *मत्स्य पुराण (हिन्दी सारांश),* धर्मग्रंथ प्रकाशन, दिल्ली (1981)

वर्मा, वेदप्रकाश : *नीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत,* एलाईड पब्लिशर्स लिमिटेड, नई दिल्ली (1988)

वद्देकर (संपा. पं. कैलाशचंद्र) : *मूलाचार (भाग* 1-2), भारतीय ज्ञानपीठ प्रका., नई दिल्ली (1944); अनंतकीर्ति दिग. जैन ग्रंथमाला, बंबई (1976 वि.सं.)

वात्स्यायन : *न्याय भाष्य,* चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी (1970)

..... : *वाराहपुराणम्,* सर्वभारतीय काशीराज न्याय, वाराणसी (1983)

वाल्मीकी (अनु. रामनारायण शास्त्री) : *वाल्मीकीय रामायण (दो भाग),* गीता प्रेस गोरखपुर (1991)

..... : *वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद),* संस्कृति संस्थान, बरेली (1962); गीता प्रेस, गोरखपुर

वेदव्यास, महर्षि (अनु. रामनारायण शास्त्री) : *महाभारत,* गीता प्रेस, गोरखपुर (2017 सं.) चित्रशाला प्रेस, पूना (1929-33)

वृषभाचार्य, यति : *तिलोयपण्णत्ति,* जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर (1999 वि.सं.); संपा. आर्यिका विशुद्धिमति, भारतवर्षीय दिग. जैन महासभा, लखनऊ (1988)

विज्ञानभिक्षु : *सांख्य प्रवचन भाष्य,* भारतीय विद्या प्रका., वाराणसी (1966)

विवेकानंद, स्वामी : *विवेकानंद साहित्य (तृतीय संस्क-प्रथम से दशम खंड),* अद्वैत आश्रम, 5 डिही एंटाली रोड, कलकत्ता (1984)

..... : *विनय पिटक,* नागरी लिपि में संपादित, नालंदा देवनागरी पालि ग्रंथमाला; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

विनयसागर (संपा.) : *कल्पसूत्रम्,* प्राकृत भारती अकादमी प्रका. जयपुर (1977)

विद्यानंद - *आप्त परीक्षा,* वीर सेवा मंदिर प्रकाशक, सरसावा-सहारनपुर (1949)

विद्यामार्तंड, धर्मदेव : *वेदों का यथार्थ स्वरूप,* गुरूकुल कांगड़ी, हरिद्वार

शंकराचार्य (भाष्य) : *ब्रह्मसूत्र शां.भा.*, रत्नप्रभा भारती न्याय निर्णय सहित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई (1947); गीता प्रेस, गोरखपुर

शंकराचार्य (भाष्य) : *श्रीमद् भगवद्गीता,* गीता प्रेस, गोरखपुर (2018)

..... : *शतपथ ब्राह्मण,* हि.अनु.-पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय, मेहरचंद लच्छमन दास, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली; संपा.-वी. शर्मा, गौड़ एवं सी.डी. शर्मा, काशी (1994-97 सं.)

शर्मा, चंद्रधर : *सौगात सिद्धांतसार संग्रह,* चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस (1954)

शर्मा, आचार्य श्रीराम (संपा.) : *ब्रह्मवैवर्त्त पुराण (दो खंड),* संस्कृति संस्थान, बरेली (1969)

शर्मा, आचार्य श्रीराम (संपा.) : *पद्म पुराण,* संस्कृति संस्थान बरेली (1968)

शर्मा, आचार्य श्रीराम (संपा.) : *नारद पुराण,* संस्कृति संस्थान, बरेली

शर्मा, आचार्य श्रीराम (संपा.) : *वायु पुराण,* संस्कृति संस्थान बरेली

शर्मा, आचार्य श्रीराम (संपा.) : *विष्णु पुराण,* संस्कृति संस्थान, बरेली (1969)

शर्मा, आचार्य श्रीराम (संपा.) : *हरिवंश पुराण,* संस्कृति संस्थान, बरेली

शर्मा, रामनाथ (संपा.) : *धर्म दर्शन,* केदारनाथ एंड कं., मेरठ (1981)

..... : *श्लोकवार्तिक,* कुन्युसागर ग्रंथमाला, शोलपुर (1949-1956)

..... : *श्वेताश्वेतर उपनिषद्,* गीता प्रेस गोरखपुर (2032 सं.)

शांतरक्षित (टीका. कमलशील) : *तत्वसंग्रह पंजिका,* गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज बड़ौदा (1925)

शांतिदेव (हि.अनु. शांति भिक्षु शास्त्री) : *बोधिचर्यावतार,* बुद्ध विहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ (1955)

शास्त्री, शांतिभिक्षु (हि.अनु.) : *ललित विस्तार,* उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ (1984)

शिवकोट्याचार्य (अनु. सखाराम दोशी) : *भगवती आराधना,* नेमिचंद दिग. ग्रंथमाला, शोलापुर (1935)

शीलांकाचार्य (वृत्ति.) : *आचारांगवृत्ति,* श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, मुंबई

श्रीनवलजी (संपा.) : *नालंदा विशाल शब्द सागर कोष,* अदीश बुक डिपो, जवाहर नगर, नई दिल्ली

श्रीवास्तव, जगदीश चंद्र सहाय : *ग्रीक एवं मध्ययुगीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास,* इलाहाबाद (1981)

श्रीधर : *न्यायकंदली,* संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (1977)

..... : *श्रीमद्भागवत महापुराण,* गीता प्रेस गोरखपुर (2008 सं.)

..... : *श्रीमद्भागवत महापुराण,* (*दो भाग*), गीता प्रेरु गोरखपुर (2006 वि.सं.)

सत्यभक्त, स्वामी (पं. दरबारी लाल) : *सत्यामृत* (3 *भाग-दृष्टिकांड, आचारकांड एवं व्यवहार कांड*), सत्याश्रम बोरगांव वर्धा, महाराष्ट्र (1951; 1958; 1945)

सत्यभक्त, स्वामी (पं. दरबारी लाल) : *अनमोल,* सत्याश्रम वर्धा, महाराष्ट्र (1950)

सत्यभक्त. स्वामी (पं. दरबारी लाल) : आत्मकथा, सत्याश्रम, वर्धा, महाराष्ट्र (1940)

सत्यभक्त, स्वामी (प्रका. सूरजचंद सत्यप्रेमी) : *जैनधर्म मीमांसा* (*दूसरा व तीसरा भाग*), सत्य संदेश ग्रंथमाला, सत्याश्रम वर्धा, महाराष्ट्र (1940-1942)

सत्यभक्त, स्वामी : *दिव्य दर्शन,* सत्याश्रम बोरगांव वर्धा (1965)

सत्यभक्त, स्वामी (पं. दरबारी लाल न्यायतीर्थ) : *धर्म मीमांसा,* सत्यसमाज ग्रंथमाला, रघुनाथ दिपाजी देसाई, न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस, 6 केलेवाड़ी गिरगाँव, बंबई (1935)

सत्यभक्त, स्वामी : ईसाई धर्म (प्रथम संस्क.), सत्य संदेश ग्रंथमाला (22वाँ पुष्प), सत्याश्रम वर्धा, महाराष्ट्र

सत्यभक्त, स्वामी : *ईसाई बहाई समीक्षा,* संगम पुस्तकमाला (तीसरा पुष्प), संगम कार्यालय, सत्याश्रम वर्धा (1959)

सत्यभक्त, स्वामी : *धर्म समभाव,* सत्याश्रम वर्धा, म.प्र. (1951)

सत्यभक्त, स्वामी : *धर्म समीक्षा,* सत्य संदेश ग्रंथमाला, सत्याश्रम वर्धा, महाराष्ट्र (1961)

सत्यभक्त, स्वामी : *मानवभाषा,* सत्याश्रम वर्धा, म.प्र. (1962)

सत्यभक्त, स्वामी : *जीवन सूत्र,* सत्याश्रम वर्धा, महाराष्ट्र (1962)

सत्यभक्त, स्वामी : *विश्वशांति का अमोघ उपाय,* संगम ग्रंथमाला, सत्याश्रम वर्धा (1963)

सत्यभक्त, स्वामी : *सत्य दर्शन,* सत्याश्रम वर्धा (1970)

सत्यभक्त, स्वामी : *सत्येश्वर गीता* (*द्वितीय संस्क.*), सत्याश्रम वर्धा (1970)

सत्यभक्त, स्वामी : *सत्यार परिचय,* सत्यसमाज शाखा, नृपेन सरकार रोड, कांचरपाड़ा, 24 परगना,

पश्चिमी बंगाल (1971)

सत्यभक्त, स्वामी : *संस्कृति समस्या,* सत्याश्रम वर्धा, मध्यप्रदेश (1952)

सत्यभक्त, स्वामी : *सुलझी हुई गुत्थियां,* सत्याश्रम वर्धा (1941)

सत्यभक्त, स्वामी : *कैसा धर्म चाहिये?,* (*दूसरा परिवर्धित संस्क.*) सत्याश्रम वर्धा (1985)

समंतभद्र : *आप्तमीमांसा*

समंतभद्र : *युक्तानुशासन,* वीरसेवा मंदिर, सरसावा (1951)

समंतभद्र : *रत्नकारंड श्रावकाचार,* माणिकचंद दिगंबर जैन ग्रंथमाला, बंबई (1926 ई.)

..... : *समवायांग सूत्र,* आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (1982)

..... : *समाधिशतक,* वीर सेवा मंदिर, देहली (2021)

..... : *संयुक्त निकाय,* नालंदा देवनागरी-पालि ग्रंथमाला प्रकाशन

..... : *सद्धर्मपुंडरीक* (हि.अनु. डा. राममोहन दास) : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना (1966)

सातवलेकर, श्रीपाद-दामोदर (संपा.) : *ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्थवेद एवं सामवेद संहिता,* स्वाध्याय मंडल पारडी, गुजरात

सातवलेकर, श्रीपाद-दामोदर (संपा. हि.अनु.) : *महाभारत* (18 *पर्व*), पारड़ी, बलसाड़ (1985)

सांकृत्यायन, राहुल (हि.अनु.) : *विनय पिटक,* महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस (1935)

सांकृत्यायन, राहुल (संपा.) : *विमानवत्थु,* रंगून, बर्मा (1937)

सांकृत्यायन, राहुल (संपा.) : *उदान,* रंगून (1937)

सांकृत्यायन, राहुल (हि.अनु.) : *दीर्घ निकाय,* महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस (1936)

सांकृत्यायन, राहुल (हि.अनु.) : *मज्झिम् निकाय,* महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस

सांकृत्यायन, राहुल (संपा.) : *सुत्तनिपात,* रंगून, बर्मा (1937)

सांकृत्यायन, राहुल (हि.अनु.) : *बुद्धचर्या* (द्वि. सं.), महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस (1952 ई.)

सांवलिया, बिहारीलाल : *विश्व-धर्म दर्शन,* पटना (1953)

सिन्हा, हरेंद्र प्रसाद : *धर्मदर्शन की रूपरेखा,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (1990)

सिंह, दशरथ : *गाँधीवाद को विनोबा की देन,* बि.हि.ग्रं.अका., पटना (1975)

सिंघवी, पं. सुखलाल (अनु. शांतिलाल जैन) : *भारतीय तत्वविद्या,* ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, अनेकांत विहार, अहमदाबाद (1960)

सैय्यद, अतहर रिज़वी (अनु.) : *इब्ने ख़लदून का मुक़दमा (इब्ने ख़लदून अब्दुर्रहमान),* प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उ.प्र, (1961)

हरिभद्र : *षड्दर्शन समुच्चय,* भारतीय ज्ञानपीठ प्रका, नई दिल्ली (1970)

हरिषेण (संपा.ए.एन. उपाध्ये) : *बृहद कथा कोश,* भारतीय विद्याभवन, बंबई (1999 वि.सं.)

हरिषेण (अनु. अमर मुनि) : *व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (भगवती सूत्र),* आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राज, (1983 ई.)

हस्तीमल, मुनि (संपा.) : *प्रश्नव्याकरण सूत्र,* पाली, राज. (1950)

हस्तीमल, मुनि (संपा.) : *प्रश्नव्याकरण सूत्र,* पाली, राज. (1950)

हस्तीमल, मुनि एवं मूथा, मोतीलाल बालमुकुंद (हि.अनु.) : *दशवैकालिक,* स्थानक जैन कांफरेंस, बंबई

हिरियन्ना, एम. (अनु. डा. गोवर्धन भट्ट, मंजु गुप्ता एवं सुखवीर चौधरी) : *भारतीय दर्शन की रूपरेखा,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (1987)

हेमचंद्र, आचार्य : *योगशास्त्र,* दिल्ली (1963)

त्रिवेदी, रामगोविंद : ऋग्वेद, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग (1954)

..... : *ऋग्वेद संहिता,* सायण टीका सहित (5 जिल्द), वैदिक संशोधन मंडल, पूना (1933-51)

(ब) पत्र-पत्रिकाएं

1. *परामर्श (हि.त्रैमासिक)* : संपा. सुरेंद्र बारलिंगे एवं राजेंद्र प्रसाद, पुणे विश्वविद्यालय दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्वज्ञान केंद्र प्रकाशन, जून 1985; मार्च 1993, सित. 1990

2. *माया (मासिक)* : प्र. संपा. आलोक मित्र, माया प्रेस प्रा. लि. मुठ्ठीगंज, इलाहाबाद 3. 15 मार्च, 1995

3. *इंडिया टुडे* : लिविंग मीडिया इंडिया लि. एफ.-14/15, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-1

4. *संगम* (*मासिक*) : संपा व प्रका., विज्ञान चंद सत्यसमाजी, सत्येश्वर प्रिटिंग प्रेस, सत्याश्रम बोरगाँव, वर्धा (महाराष्ट्र) अंक मई व जून 1941, मार्च 1947, नव. 1947, अगस्त 1989, जनवरी 1990

2. English

(A) Book/Dictionary/Encyclopaedia

A barnethy, George L. and Longford, Thomas A. (Ed.) : *Philosophy of Religion,* II Edi, The Macmillan Comp., New York U.S.A. (1968)

Alexander, S. : *Space, Time and Diety,* Macmillan Comp., New York (1920)

Aquinas, Thomas : *Summa Theologica,* Eng. Trans. Benzigar Brother's, New York (1947-1948)

(st.) Augustien (tran. John K. Ryan) : Eng. trans. *The Confession,* Doubleday, New York (1962)

(st.) Augustien : *Christianity,* The modern Library, Random House, New York (1950)

Aristotal : *Politics Cortton* House, New York

Aurobindo : *Dayanand and the Veda,* New York

Barth, A (Trans. Rev. J. Wood) : *Religions of Inida,* VI Edi, S. Chand & Comp. Ltd. New Delhi (1980)

Bradley, F.H. : *Appearance and Relity,* Oxford (1930)

Belle, C.A. : *Rullars, Towonsmen and Bazar's,* Cambridge Uni. Press, London (1983).

Berkhof, Louis : *Systematic Theology* : *The Banner of Truth Trust,* The Grey House, 3 Murrayfield Road, Edinburgh, London (1974).

Besant, Annie : *Seven Great Religions,* The Theosophical Publ. House, Adyar, Madras (1966).

Bose, K.S. : *A Theory of Religions Thought,* Sterling Pub., New Delhi (1991)

Bransteen & Scholwis (compiled) : *Approaches to the Philosophy of Religion* Printice Hall, Englewood Cliffs (1955).

Carus, Paul. : *The Gospel of Buddha,* Compiled from Ancient Records (1971).

Chaild, John, L. : *Education and Morals.* Appleton Char., New York (1950).

Chaild, V.G. : *New Light on the Most Ancient East,* London (1935)

Chatterjee, S. : *The Fundamentals of Hinduism* : *A Philosophical study,* Uni. of Calcutta

(1970).

Chaudhary, N.C. : *An Essay on the Peoples of India,* Bombay (1934).

Das, Bhagwan : *The Science of Social Organization,* Vol. I; II Edi. (1932-35).

Dasgupta, S.N. : *The History of Indian Philosophy,* The Syndics of tthe Cambridge Uni. Press, Brently House, London (1961).

Davis, Kingsley : *Human Sociology,* Surjeet Pub., Delhi (1981).

Devaraja, N.K. : *Hinduism and Christianity,* Asia Pub. House Bombay (1969).

Diwakar, R.R. : *Gandhi : A Practical Philosopher,* Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay (1965).

Dufour, Leon (Ed.) : *Dictionary of Biblical Theology,* Geoffery Chapman London (1973); Theological Pub. in India Banglore (1973).

Dunbar., Flanders : *Mind and Body,* Random House, New York

Durkhim, Email (Trans, Joseph Wandswain) : *Elementary Forms of Religious Life,* Collier Books, New York (1961)

Duson, Paul: *Outlines of Indian Philosophy, Karl Curtis* (1907).

Dutt, Ramesh Chandra : *Civilization in Ancient India,* Vol. I & II London (1893).

Dutt, S.C. : *The Fundamentals of Hinduism* : A Philosophical Study, II Edi., University Press Calcutta (1970).

Einestein, Albert (Edi. Bronstein and Schulweis) :*Approaches to the Philosophy of Religion,* New York, U.S.A. (1954).

Eliot, Sir Charles : *Hinduism and Buddhism,* Barnes and Noble com. New York (1957).

Engineer, Asgar Ali : *The Islamic State,* Vikas Pub. House Pvt. Ltd., Delhi (1980).

Eveing, A.C. : *The Fundamental Question of Philosophy,* Macmillon Comp. New York (1951)

Freud, S. (Trans, D. Scott) : *Future of An Ilusion,* Liyonard and Varginiaja Wolf Pub. London.

Frued, S. : *Civilization and its Discontents,* Hogarth Press, London (1930)

Freud, S. : *Moses and Monotheism,* Hogarth Press, London (1939).

Frajer, Sir James : *The Golden Bough,* Abriged Edi (1934)

Flint, R : *Theism* (1877)

Fuchs, Stephen : *The Origion of Man and his Culture,* Asia Pub., Bombay

Gandhi, M.K. (Edi-Prof. Abbul-Majid Khan) : *Fellowship of Faiths and Unity of Religions,* Gandhi Book House, New Delhi (1990)

Gandhi, M.K. : An Autobiography, Navajeevan Pub. House, Ahmedabad (1948)

Gandhi, M.K. : *Hindu Dharma* Navajeevan Pub., Ahmedabad (1950).

Gandhi, M.K. (Tr. Y.G. Desai) : From Yeravda Mandir, Navajeevan Ahemdabad (1932)

Galloway, Georg : *The Philosophy of Religion,* Charles Seribners Son's (1922)

Gillin, J.H., and Gillin, J.P. : *Cultural Sociology,* The Macmillan Comp. New York (1950)

*..... : *Glimpses of World Religions,* Jaico Pub. House Bombay, IV Imp. (1972)

Hagven : *The Nature of Living Matter,* Kegan Pal, London (1950)

Hameed, Hakeem Abdul (Ed.) : *Islam at a Glance,* Vikas Pub. House Pvt. Ltd. Ansari Road, New Delhi. (1981)

Hastings, James (Ed.) : *Encylopaedia of Religion and Ethics,* New York. (1956)

Harris, E. Eroll : *Revelation Through Science and Philosophy,* London (1958)

Hick, John : *Philosophy of Religions,* III Edi, Printice Hall, Engle wood Cliffs (1988).

Hick, John : *Argument for the Existence of God,* Macmillan Comp., New York (1970)

Hick, John (Ed.) : *Faith and Philosophers,* Macmillan Comp., New York (1964)

*..... : *Holy Bible, The Gideons International,* New Delhi (1961)

Huxley, Aldous : *Parenial Philosophy,* Chatto & Windus, 40 Williams IV Street London, W.C. 2 (1957)

Jacobi, H : *S.B.E (Sacred Books of the East).* Oxford.

Jacobi, Jolan : *The Psychology of Jung,* Kegan Paul. London.

James, William : *The Varieties of Religious Experience,* Modern Library, New York.

James, William : *Pragamatism, Washington* Square Press, New York.

Josiah Royce : *The World and the Individual,* Vol. I &II

Jurdeeg, William : *An Analytical Philosophy of Religion.* Allen & Unwin Pub. London (1959)

Jung, C.G. : *Collected Works,* (18 vol.). Routledge, Kegan Paul, London (1953).

Jung C.G. : *Modern Man in Search of a Soul,* Routledge & Kegan Paul, London (1949)

Jung C.G. : *Psychology and Religion,* New Haven, Yale Uni. Press (1938)

Kalghatgi, T.G. : *Karma and Rebirth,* L.D. Institute of Indology, Ahmedabad-9 (1972).

Kalghatgi, T.G. : *Some Problems in Jain Psychology,* Karnataka University, Dharwad (1961)

Kant, Immanual (Trans. H.J. Petton) : *Ground work of the Metaphiscs of Morals,* Hutchinson Uni. Library, London (1969)

Kaegi, A. (Tra. R. Arrow Smith) : The Regaveda, Boston (1898)

Khudabakhash : *Politics in Islam* 2009, Qasim Jan Street, Delhi (1975)

Klyuev, Boris : *Religion in Indian Society,* The Dimension of Unity and Diversity, Sterling Pub. Pvt. Ltd., New Delhi (1989).

Lamount, Carliss : *Humanism As aPhilosophy,* Watts & Co., London (1952).

Leighton, Joseph A. : *The field of Philosophy,* New York (1930)

Lee, Atkinson : *The Ground work of the Philosophy of Religion,* Dakvarth London (1946).

Lewis, H.D. : *Contemporary British Philosophy,* George Allen & Unwin Ltd., London (1961)

Lewis H.D. *The Philosophy of Religion,* A Pelican Book (1966)

Leuba, J.H. : *God and Man,* Henary Halt Co., New York (1933).

Locke, John : *Essay Concerning Human Understanding,* New York (1964-65)

Macguarrie, John. *Twentienth Century Religions Thought,* London (1963).

Macgregor : *Introducing to Religious Philosophy,* Houghton Mifflin.

Mackenjee, J.S. : *A Manual of Ethies,* Uni. Tutorial Press, London (1948)

Magenis, A. and Apple, John Canard : *A History of the World,* Eurasia Pub. House Pvt. Ltd., Ravindra Mansions, New Delhi (1963)

Marx, Karl : *On Religion,* Progress Pub. Moscow (1957).

Marx, Karl (Pub. Engels F.) : *Sixth thesis on Feurebach,* Moscow (1888).

Marshal, John ; *Mohanjodro and the Indus Civilization,* London (1931).

Maxmullar : *Three Lectures on Vedant Philosophy,* Chokhamba Sanskrit Series, Varanasi (1967).

Maulana, Muhammad Ali : *The Religion of Islam,* S. Chand & Co., Ram Nagar, New Delhi.

Mohapatre, A. R. : *Philosophy of Religion,* Sterling Pub., New Delhi (1990).

Moore, G.E. : *Ethics,* Home Uni. Library, London (1945).

Moudoodi, Syed Abul A'la : *Fundamentls of Islam,* II Edi, Marazi Maktba Islami, Delhi

Muirhead, J. H. : *The Elements of Ethics,* London (1910)

Muirhead, J. H. : (Ed.) : *Contemporary British Philosophy,* Allen & Unwin Ltd., London (1965)

Murti, T.R.V. : *Central Philosophy of Buddhism* : *Study of the Madhamika System,* II Edi, George Allen and Unwin, London (1960).

Narayan, Shriman : *The Selected works of Mahatama Gandhi,* Vol. IV, Navajeevan Pub. House, Ahemedabad (1968).

Narvane, V.S. : *Modern Indian Thought* : *A Philosophical Survey,* Asia Pub. House, Bombay (1954)

Nicholson, R.A. : *The Mystics of Islam,* Cambridge, London (1914)

O'Dev, Thomas : *Sociology of Religion* Printice-Hall, Englewood Clifls (1966).

Oldenberg, H (Ed.) : *Thergatha,* P.T.S. London (1883)

Oldenberg, William (Ed.) : *Deepvansh,* Edinberg, London (1879)

Pandey. G.C. : *Studies in the Origins of Buddhism,* II Edi, Motilal Banarsidas, Varanasi (1974)

Pickthall, Mohammed Marmaduke (Tra) : *The Meaning of the Glorious Koran,* Mentor Book, New American Library, London.

Planck, Max : *Where is Science Going*?. George Allen and Unwin Ltd., London (1933).

Pratt, J. B. : *The Religious Consciousness,* Macmillan & Co. New York (1920)

Radhakrishanan, S. : *The Philosophy of the Upnishads,* George Allen and Unwin Ltd., London (1953).

Radhakrishanan, S. : *The Hindu View of Life,* II Imp., Unwin Books, London (1961)

Radhakrishanan, S. : *The Idealistic View of Life,* Allen & Unwin, London (1957)

Radhakrishanan, S. : *The Reign of Religion in Contemporary Philosophy,* Macmillan and Co., London (1920)

Radhakrishanan, S. : *Speeches and Writing.* combined Edi (1952-59).

Radhakrishanan, S. : *Recovery of Faith,* George Allen & Unwin Ltd., London (1961)

Radhakrishanan, S. and Muirhead, J.H. (Ed.) : *Contemporary Indian Philosophy,* George Allen and Unwin, London (1952)

Radhakrishanan, S and Raju, P.T. (Edi) : *The Concept of Man,* George Allen and Unwin, London (1960)

Raystem Paeik, E. (Ed.) : *Encyclopeadia or Religion and Religions,* George Allen and Unwin, London (1951).

R. Morris and E. Hardy : *Angutter Nikaya* (5 Vol.), P.T.S., London (1885-1900).

Rechardson (Comp.) : *Dictionary-English, Persian and Arabic,* Vol. I (1810).

Rhys Davids, T.W. and Carpenter, E. (Ed.) : *Dirgh Nikaya* (3 Vol.), P.T.S. London (1890-1911-1938-1949).

Rhys Davids, T.W. and Oldenberg (Trans) : *Vinay Pitak,* S.B.E. Oxford (1881-85).

Rhys Davids, T.W. (Trans.) *The Dialoges of Budha* (3 Vol.) P.T.S. London (1899-1900-1921)

Rhys Davids : *Buddhism,* London (1877)

Rhys Davids, C.A.F : *Buddhist Psychology* II Edi. (1924)

Roger, A Bullard (Ed.) : *Abingdon Dictionary of Living Religions,* Parthenon Press, U.S.A.

Roy Manvendra Nath : *New Orientenation,* Renaissan Pub. Calcutta (1946)

Roy. Manvendra Nath : *Reason Romanticism and Revolution,* (2 part), Renaissan Pub., Calcutta (1952)

Roy Manvendra Nath : *Reason in Religion* (1905)

Santoyana, George : *Reason in Religion,* Charles Scribner's sons. New York, U.S.A (1905)

Sartre, Jean Paul (Tr. Philipmairet) : *Existentialism and Humanism,* Methuen & Co. Ltd., London (1957)

Schlegal : *Wisdom of the Ancient Indians,* Heidelberg (1808)

Schlipp (Ed.) : *Albert Einstein, Philosopher-Scientist,* New York (1959)

30—259 Min. of H.R.D./2005

Sellar, R.W. : *The New Step in Religion,* Macmillan Comp. New York (1918)

Seshgiri, K.L. : *Mahatama Gandhi and Comparative Religion* (1978).

Shakir, Moin : *Islam in Indian Politics,* Delhi (1983).

Stevenson, Sinclair : *The Heart of Jainism,* Oxford Uni. Press (1915).

Srinivas K. : *A Dictionary of Philosopy,* Ashish Pub. House, New Delhi (1993).

Sujuki, D.T. (Tran.) : *Lankavatar Sutra,* London (1932)

Suzuki, B.L. : *Outlines of Mahayan Buddhism,* London (1907)

Swiven, Runsiman : *A History of the Crusedess,* Part VIII.

Sayad, Amir Ali : *The Spirit of Islam,* Idarah-1 Adabiyat, Delhi, Sadar Bazar, Delhi (1978).

Taylor, Edward B. : *Primitive Culture,* John Mure, London (1913).

Tagore R.N. : *Creative Unity,* Macmillan and Co. Ltd., Indian Edi. (1950)

Tagore R.N. : *Sadhana,* Macmillan and Comp. New York (1964)

Tagore R.N. : *Personality,* Macmillan, Indian Edi. (1948)

Tillich, Paul : *Systematic Theology,* Uni. of Chicago Press (1951, 1957, 1963).

Tillich, Paul (Ed. Rathnada Anshen) : *Dynamics of Faith,* Harper and Brothers Pub., New York (1957).

Tiwari K.N. : *World Religions and Gandhi,* Classical Pub., New Delhi (1988)

*..... *The Catholic Encyclopaedia,* XIII, Robert Appleton Comp. (1912)

*..... *The Complete Works of Swami Vivekanand,* Advaita Ashram, Mayavati, Almora, Himalayas.

*..... *The Random House Dictionary of English,* College Edi. Allied Pub.

*..... *The Vedic Age,* Itihas Samiti, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay

Tondon, Vishwanath : *The Social and Political Philosophy of Sarvodaya after Gandhi,* Varanasi (1965).

Wittgenstien, L. (Trans, G.E.M. Amcombe) : *Philosophical Investigation,* 2 Edi., Oxford Basic Blackwel & Mott. Ltd. (1958).

Wittgenstien, L. : *Psychology and Religious Belief,* Oxford Uni, Press. (1966).

Wittgenstien, L. : *Lectures and Conversations on Psychology and Religious Belief,* Oxford Uni. (1966).

Wheli, Lui : *Confucius : His Life and Time.*

White, V. : *God and the Unconscious,* Harvill Press, Chicago (1952).

Wundt, Wilhelm : *The Elements of Folk Psychology,* London.

Wundt, Wilhelm : *The Principles of Morality and the Depths of Moral Life,* George Allen and Unwin Ltd., London.

Zaehner, R.C. : *Hinduism,* oxford Uni. Press, London (1962).

(B) Journal/Magazine/Papers

Economy and Political Weekly, : Ed. Sachin Chaudhary, Hitari House Shahid Bhagat Singh Road, Bombay, Jan. 12, 1985.

Harijan : Ed. M.K. Gandhi, English and Hindi Weekly.

Indian Philosophical Quarterly, Ed. S.S. Barlingay and Rajendra Prasad, Department of Philosophy, Poona Uni., Poona.

International Journal of Ethics : XXXIII, No. 4.

The Vishva Bharti Quarterly : Shantiniketan, West Bengal, Jan. 1930.

The Hindustan Times : New Delhi, August 31, 1978 : Sept. 26, 1987.

The Patriot : April 26, 1982.

The Reader's Digest : RDI Print and Pub. Ltd. House, New Cross Road, Worli Bombay, January 1945.

Times of India : July 4, 1987

Times of India : Ed. Gautam Adhikari, Times of India Press, Bahadur Shah Jafar Marg, New Delhi, Oct. 26, 1986.

View and Reviews : Shree Aurbindo Ashram Pondicherry, 1946.

Young India : Ed. M.K. Gandhi, English Weekly.

पारिभाषिक शब्दावली

अंतःप्रज्ञा, अंतर्दृष्टि	Intuition
अंततः	Ultimately
अकर्मण्यता	Indolence
अद्वैतवाद	Non-dualism
अगोचर	Invisible
अहंकार	Conceit
अनासक्ति, निर्लिप्तता	Detachment
अनिर्वचनीय	Ineffable
अनीश्वरवाद	Agnosticism
अनुग्रह	Grace
अनुदार, रूढ़िवादी	Conservative
अनेकांतवाद	Pluralism
अनेकांत दृष्टिलब्धि	Multifold vision
अपूर्णता	Inadequacy
अमूर्त प्रत्यय	Abstraction
अवज्ञा	Insubordination, Infra-intellectual
अहिंसा	Non-violence
असत्	Non-being
अहंभाव	Ego

अचार-नियम	Maxims of morality
आत्मपरिष्कार	Self-realization
आत्मिक	Spiritual
आत्मवाद	Spiritualism
आदर्श	Norm
आध्यात्मिक विचार	Metaphysical-view
आस्तिक	Theist
आवश्यक	Necessary
आवेग, संवेग	Emotion
आयाम	Dimension
इतिहास प्रकाश	Enlighten history
इलहाम	Revelation
इन्द्रिय-निग्रह, इन्द्रिय संयम	Sense control
ईर्ष्या	Envy
ईशदूत	Prophet
उपयोगी, उपयोगितावादी	Useful, Utilitarian
उचित	Justified
उदारता, सहिष्णुता	Tolerance
एकमात्र, एकांतिक	Exclusive
एकात्मकता, समरूपता	Identity
एकात्मीकरण, एकीकरण	Integration, Unify

एकेश्वरवाद	Monotheism
कल्पना	Imagination
कल्पनामूलक	Imaginative
कर्म	Action
कर्मकांड	Ritual
करुणा	Compassion
क्रम	Order
कृतध्नता परिहार	Removal of disobligation
कालक्रम	Chronological
कारण	Cause
क्रियाशील	Dynamic
खंडन	Refutation
गत्यात्मक	Dynamic
गुणात्मक	Qualitative
चमत्कार	Miracle
चेतना	Awareness, Conscious
जीवन-सूत्र	Life formula
तंत्र-मंत्र	Occutism
तत्व-दर्शन, तत्वमीमांसा	Ontology, Metaphysics
तथ्य	Fact
तथ्य-सामग्री	Data

तर्क-सम्मत, तार्किक	Logical, Rational
तर्कसम्मत यथार्थ	Logical reality
तर्कविरुद्ध	Irrational, Irrlogical
तार्किक आधार	Logical ground
तार्किक तथ्यपरकता/तार्किक	Logical evidence
तादात्म्य	Identity
तुलनात्मक	Comparative
दर्शन	Philosophy
देश-काल	Space-time
देवकथा	Myth
द्वैत, द्वैतवाद	Dualism
दोष	Fallacies
द्रोह	Malice
दृष्टांत	Parable
धर्मनिष्ठ, धर्मपरायण	Religious
धर्म मर्मज्ञता	Expertisation in religion (insight into the subject)
धर्म समन्वयशीलता (सहगामी)	Religious concordance (in-coexisting manner)
धार्मिक द्वंद्व परिहार/निष्पक्षापूर्ण बौद्धिक न्याय	Impartial reasoning (removal of all conflicts in religion)-wisdom and judicious
धारणा	Concept

32—259 Min. of H.R.D./2005

ध्यान	Contemplation, Meditation
नबी	Prophet
नया युग-धर्म, विश्व धर्म	New world religion
न्यासंगत	Justified
नित्य, शाश्वत	Eternal
निर्विकार	Immutable
नियामक	Regulative
निर्धारक	Determinate
निर्धारण	Determination
निरपेक्ष, चरम, परम	Absolute
निराशावाद	Pessimism
निरीश्वरवाद	Atheism
निष्ठा, श्रद्धा	Faith
निर्वैयक्तिता	Impersonality
निर्माण	Construction
नीति शास्त्र	Ethics
नैतिक निर्णय	Moral judgment
परा तथा अपरा विद्या	Higher wisdom and lower knowledge
पद	Term
पक्षपाती/एकांगी दृष्टिकोण	Bias, Partial
परंपरा निष्ठ	Traditional, Orthodox

परंपरागत	Conventional
परिभाषा	Definition
परिभाषित करना	To define
परिवर्धन	Addition
परिवेश	Environment
पुनीत, पवित्र	Holy, Sacred
पारलौकिक	Other-worldly, Eschatological
पुनर्गठन, पुनर्व्यवस्था	Rearrangement
पुनर्निर्माण	Reconstruction
पुनर्जन्म	Rebirth
पुरस्कार	Requite, Reward
पूर्वाग्रही	Prejudice
प्रतिफल	Reciprocate
प्रथा	Custom
प्रमुख तत्व/मूल तत्व	Principal factor
प्रकाशना (ईसाई धर्म)	Revelation
प्राणायाम	Breath control
प्राणी, जीव	Creature
विरुद्ध, प्रतिकूल	Adverse
प्रत्यक्ष, साक्षात्कार	Perception
प्रत्यय	Idea, Concept

प्रतीक	Symbol
प्रामाणिक	Valid, Authentic
प्रमाणिकता	Validity
बहुत्ववाद	Pluralism
बुद्धिवाद	Intellectualism
भाव	Emotionality
भविष्यवाणी	Forecasting
भविष्यदर्शन	Foreseeing
भौतिकवाद, जड़वाद	Materialism
भ्रम	Illusion
मतग्रहिता, मताग्रह	Dogmatism
मरणोत्तर जीवन	After- life
मानवतावाद	Humanism
मानव भाषा	Manav bhasha (New Human language)
मिथ्या	False
मूर्त्त, यथार्थ	Concrete
मूल्य, मूल्यात्मक	Value, Value base
युक्ति, बौद्धिक तर्क	Argument, Rational, Based on reason
युगबाह्य (अप्रचलित)	Out of date

रहस्य	Mystery
लोकहित	Common good
वस्तुनिष्ठ	Objective
विधान	Sanction
विकास	Evolution, Development
विपरीत	Contrary
विरोध	Contradiction
विवेकशील	Rational, Endowed with the faculty of reason
विवेकी/विवेकयुक्त-बुद्धिमानी	Prudent-wise, Judicious
विश्वशांति	World-peace
विरोधी, विरुद्ध	Contradictory
विरोधाभास	Paradox
विश्लेषण	Analysis
विश्वास	Belief
विश्व	Cosmos
वैराग्यवाद	Asceticism
व्यष्टि	Individual
व्यष्टिवाद, व्यक्तिवापद	Individualism
व्यवस्था	Arrangement, System
व्यावहारिक (व्यवहारतः)	Pragmatic, Practical

हठधर्मी	Fanatic
हिंसा	Violence
शाश्वत	Eternal
शास्त्रविधि	Ritual
शुचि	Sacred
श्रद्धा	Faith
संश्लेषण	Synthesis
सद्बुद्धि, विवेक	Conscience
सर्वज्ञ	Omniscience
सर्वशक्तिमान	Omnipotent
सर्वव्यापक	Comprehensive
सत्य	Truth
सभ्यता	Civilization
सद्गुण	Virtue
सदृश	Analogous
समष्टि	Whole
समायोजन	Accommodation
सामंजस्य, संगति	Harmony
साधन मूल्य	Instrumental value
साध्य मूल्य	Ultimate value

सापेक्ष	Relative
सापेक्षवाद	Relativity
सामयिक	Protempore
सामान्य	General, Normal
सार्वभौम	Universal
सोपान, सीढ़ी	Stage
सर्जनात्मक	Creative
स्तर	Level
समीक्षा	Critics
सर्वधर्म समभाव	Serva dharma sambhava
सत्यार, सत्यमंदिर	Satyar (Satya Mandir)
सत्यनिष्ठा, ईमानदारी	Integrity
संस्थागत	Institutional
संस्थागत निष्ठा	Institutional loyality
संयम	Temperance
स्वत्वामोह विजय	Overcome attachment to self
समीक्षापूर्ण एवं बौद्धिक तर्क	Critical and reasonably proper argument
सत्य शोधकता	Stentorian truth by investigation and purification

सुधारकता (शीघ्र ही उग्र उत्तेजना में संशोधन करने वाला)	Swelling reformation
स्वयंसिद्ध	Axiom
स्वयंभू	Cause sui
सुख	Pleasure
सृष्टि	Creation
सृष्टा	Creator

परिशिष्ट-दो

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा स्वीकृत शब्दावली-निर्माण के सिद्धांत

1. अंतर्राष्ट्रीय शब्दों को यथासंभव उनके प्रचलित अंग्रेजी रूपों में ही अपनाना चाहिए और हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुसार ही उनका लिप्यंतरण करना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली के अंतर्गत निम्नलिखित उदाहरण दिए जा सकते हैं:

   (क) तत्त्वों और यौगिकों के नाम, जैसे हाइड्रोजन, कार्बन डाइऑक्साइड आदि;

   (ख) तौल और माप की इकाइयाँ तथा भौतिक परिमाण की इकाइयाँ, जैसे डाइन, कैलॉरी, ऐम्पियर आदि;

   (ग) ऐसे शब्द जो व्यक्तियों के नाम पर बनाए गए हैं, जैसे मार्क्सवाद (कार्ल मार्क्स), ब्रेल (ब्रेल), बॉयकाट (कैप्टन बॉयकाट), गिलोटिन (डॉ. गिलोटिन), गेरीमैंडर (मि. गेरी), एम्पियर (मि. एम्पियर), फ़ारेनहाइट तापमान (मि. फ़ारेनहाइट) आदि;

   (घ) वनस्पति-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, भूविज्ञान आदि की द्विपदी नामावली;

   (ड.) स्थिरांक, जैसे π, g आदि;

   (च) ऐसे अन्य शब्द जिनका आमतौर पर सारे संसार में व्यवहार हो रहा है, जैसे रेडियो, पेट्रोल, रेडार, इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि;

   (छ) गणित और विज्ञान की अन्य शाखाओं के संख्यांक, प्रतीक, चिह्न और सूत्र, जैसे साइन, कोसाइन, टेन्जेन्ट, लॉग आदि (गणितीय संक्रियाओं में प्रयुक्त अक्षर रोमन या ग्रीक वर्णमाला के होने चाहिए)।

2. प्रतीक; रोमन लिपि में अंतर्राष्ट्रीय रूप में ही रखे जाएँगे परंतु संक्षिप्त रूप देवनागरी और मानक रूपों से भी, विशेषतः साधारण तौल और माप में लिखे जा सकते हैं, जैसे सेन्टीमीटर का प्रतीक cm हिंदी में भी ऐसे ही प्रयुक्त होगा परंतु देवनागरी में संक्षिप्त रूप से.मी. भी हो सकता है। यह सिद्धांत बाल-साहित्य और लोकप्रिय पुस्तकों में अपनाया जाएगा, परंतु **विज्ञान और प्रौद्योगिकी की मानक पुस्तकों** में केवल अंतर्राष्ट्रीय प्रतीक, जैसे cm ही प्रयुक्त करना चाहिए।

3. ज्यामितीय आकृतियों में भारतीय लिपियों के अक्षर प्रयुक्त किए जा सकते हैं, जैसे क, ख, ग, या अ, ब, स परंतु त्रिकोणमितीय संबंधों में केवल रोमन अथवा ग्रीक अक्षर ही प्रयुक्त करने चाहिए, जैसे साइन A, कॉस B आदि।

4. संकल्पनाओं को व्यक्त करने वाले शब्दों का सामान्यतः अनुवाद किया जाना चाहिए।

5. हिंदी पर्यायों का चुनाव करते समय सरलता, अर्थ की परिशुद्धता और सुबोधता का विशेष

ध्यान रखना चाहिए। सुधार-विरोधी प्रवृत्तियों से बचना चाहिए।

6. सभी भारतीय भाषाओं के शब्दों में यथासंभव अधिकाधिक एकरूपता लाना ही इसका उद्देश्य होना चाहिए और इसके लिए ऐसे शब्द अपनाने चाहिए जो:-

   (क) अधिक से अधिक प्रादेशिक भाषाओं में प्रयुक्त होते हों, और

   (ख) संस्कृत धातुओं पर आधारित हों।

7. ऐसे देशी शब्द जो सामान्य प्रयोग के पारिभाषिक शब्दों के स्थान पर हमारी भाषाओं में प्रचलित हो गए हैं, जैसे telegraph/telegram के लिए तार, continent के लिए महाद्वीप, post के लिए डाक आदि इसी रूप में व्यवहार में लाए जाने चाहिए।

8. अंग्रेजी, पुर्तगाली, फ्रांसीसी आदि भाषाओं के ऐसे विदेशी शब्द जो भारतीय भाषाओं में प्रचलित हो गए हैं, जैसे टिकट, सिगनल, पेंशन, पुलिस, ब्यूरो, रेस्तरां, डीलक्स, आदि इसी रूप में अपनाए जाने चाहिए।

9. **अतर्राष्ट्रीय शब्दों का देवनागरी लिपि में लिप्यंतरण :** अंग्रेजी शब्दों का लिप्यंतरण इतना जटिल नहीं होना चाहिए कि उसके कारण वर्तमान देवनागरी वर्णों में नए चिह्न व प्रतीक शामिल करने की आवश्यकता पड़े। शब्दों का देवनागरी लिपि में लिप्यंतरण अंग्रेजी उच्चारण के अधिकाधिक अनुरूप होना चाहिए और उनमें ऐसे परिवर्तन किए जाएं जो भारत के शिक्षित वर्ग में प्रचलित हों।

10. **लिंग** - हिंदी में अपनाए गए अंतर्राष्ट्रीय शब्दों को, अन्यथा कारण न होने पर, पुल्लिंग रूप में ही प्रयुक्त करना चाहिए।

11. **संकर शब्द :** पारिभाषिक शब्दावली में संकर शब्द, जैसे guaranteed के लिए 'गारंटित', classical के लिए 'क्लासिकी', codifier के लिए 'कोडकार' आदि, के रूप सामान्य और प्राकृतिक भाषाशास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार बनाएं गए हैं और ऐसे शब्दरूपों को पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकताओं, यथा सुबोधता, उपयोगिता और संक्षिप्तता का ध्यान रखते हुए व्यवहार में लाना चाहिए।

12. **पारिभाषिक शब्दों में संधि और समास :** कठिन संधियों का यथासंभव कम से कम प्रयोग करना चाहिए और संयुक्त शब्दों के लिए दो शब्दों के बीच हाइफन लगा देना चाहिए। इससे नई शब्द-रचनाओं को सरलता और शीघ्रता से समझने में सहायता मिलेगी। जहाँ तक संस्कृत पर आधारित 'आदिवृद्धि' का संबंध है, 'व्यावहारिक', 'लाक्षणिक' आदि प्रचलित संस्कृत तत्सम शब्दों में आदिवृद्धि का प्रयोग ही अपेक्षित है। परंतु नवनिर्मित शब्दों में इससे बचा जा सकता है।

13. **हलंत** - नए अपनाए हुए शब्दों में आवश्यकतानुसार हलंत का प्रयोग करके उन्हें सही रूप में लिखना चाहिए।

14. **पंचम वर्ण का प्रयोग :** पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करना चाहिए परंतु lens, patent आदि शब्दों का लिप्यंतरण लेंस, पेटेंट या पेटेण्ट न करके लेन्स, पेटेन्ट ही करना चाहिए।

आयोग के प्रकाशन
शब्द-संग्रहों की सूची

क्र.सं.	शब्द-संग्रह	मूल्य
1.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : विज्ञान, खंड-1,2 (पृ. 2058)	174.00
2.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : विज्ञान (हिंदी-अंग्रेजी) (पृ. 819)	38.50
3.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मानविकी और सामाजिक विज्ञान, खंड-1,2 (पृ. 1297)	292.00
4.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मानविकी और सामाजिक विज्ञान (हिंदी-अंग्रेजी) (पृ. 700)	132.00
5.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : कृषि विज्ञान (पृ. 223)	278.00
6.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : आयुर्विज्ञान, भेषजविज्ञान, नृविज्ञान	239.40
7.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : आयुर्विज्ञान, कृषि एवं इंजीनियरी (हिंदी-अंग्रेजी) (पृ. 240)	48.50
8.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मुद्रण इंजीनियरी (पृ. 104)	48.00
9.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : इंजीनियरी (सिविल, विद्युत्, यांत्रिक) (पृ. 566)	57.00
10.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : इंजीनियरी-2 (पृ. 186)	84.00
	विषयवार शब्दावलियाँ	
1.	मानविकी शब्दावली - (नृविज्ञान) (पृ. 179)	10.00
2.	कंप्यूटर विज्ञान शब्दावली (पृ. 337)	87.00
3.	इस्पात एवं अलोह धातुकर्म शब्दावली (पृ. 378)	55.00
4.	वाणिज्य शब्दावली (पृ. 172)	259.00
5.	समेकित रक्षा शब्दावली	284.00
6.	अंतरिक्ष विज्ञान शब्दावली	30.00

7.	भाषाविज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-हिंदी तथा हिंदी-अंग्रेजी) (पृ. 249)	113.00
8.	बृहत् प्रशासन शब्दावली (अंग्रेजी-हिंदी)	निःशुल्क
9.	बृहत् प्रशासन शब्दावली (हिंदी-अंग्रेजी)	निःशुल्क
10.	पशुचिकित्सा विज्ञान शब्दावली (पृ. 174)	82.00
11.	लोक-प्रशासन शब्दावली (पृ. 98)	52.00
12.	अर्थशास्त्र शब्दावली (मानविकी शब्दावली-9) (पृ. 96)	4.40
13.	नृविज्ञान शब्दावली (पृ. 198)	10.00
14.	वानिकी शब्दावली (पृ. 62)	8.50
15.	खेलकूद शब्दावली (पृ. 103)	10.25
16.	डाकतार शब्दावली (पृ. 126)	11.60
17.	रेलवे शब्दावली (पृ. 56)	2.00
18.	गुणता-नियंत्रण शब्दावली (पृ. 67)	38.00
19.	रेशम विज्ञान शब्दावली (पृ. 85)	50.00
20.	गणित की मूलभूत शब्दावली (पृ. 135)	निःशुल्क
21.	कंप्यूटर विज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ. 115)	निःशुल्क
22.	भूगोल की मूलभूत शब्दावली (पृ. 156)	निःशुल्क
23.	भूविज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ. 141)	निःशुल्क
24.	वनस्पति विज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ. 207)	निःशुल्क
25.	पशु चिकित्सा विज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ. 179)	निःशुल्क

शब्द-संग्रह

1.	कोशिका-जैविकी शब्द-संग्रह (पृ. 197)	62.00
2.	गणित शब्द-संग्रह (पृ. 357)	143.00
3.	भौतिकी शब्द-संग्रह (पृ. 536)	119.00
4.	गृहविज्ञान शब्द-संग्रह (पृ. 144)	60.00
5.	रासायनिक इंजीनियरी शब्द-संग्रह (पृ. 167)	
6.	भूगोल शब्द-संग्रह (पृ. 369)	200.00
7.	खनन एवं भूविज्ञान शब्द-संग्रह	
8.	भूविज्ञान शब्द-संग्रह (पृ. 328)	88.00
9.	संरचनात्मक भूविज्ञान एवं विवर्तनिकी शब्द-संग्रह (पृ. 48)	15.00
10.	पत्रकारिता एवं मुद्रण शब्दावली (पृ. 184)	12.25

परिभाषा कोशों की सूची

क्र.सं.	परिभाषा-कोश	मूल्य
1.	भूविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 284)	10.00
2.	भूविज्ञान परिभाषा-कोश-2 (सामान्य भूविज्ञान) (पृ. 196)	13.50
3.	शैलविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 195)	
4.	प्रारंभिक पारिभाषिक रसायन कोश (पृ. 242)	3.25
5.	उच्चतर रसायन परिभाषा-कोश	17.00
6.	रसायन (कार्बनिक) परिभाषा-कोश-3 (पृ. 280)	25.00
7.	पेट्रोलियम प्रौद्योगिकी परिभाषा-कोश (पृ. 188)	173.00
8.	प्रारंभिक पारिभाषिक कोश—गणित (पृ. 298)	18.75
9.	गणित परिभाषा-कोश (पृ. 253)	11.00
10.	आधुनिक बीजगणित परिभाषा-कोश (पृ. 159)	11.00
11.	सांख्यिकी परिभाषा-कोश (पृ. 432)	18.00
12.	भौतिकी परिभाषा-कोश (पृ. 212)	3.15
13.	आधुनिक भौतिकी परिभाषा-कोश (पृ. 290)	13.00
14.	प्राणिविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 220)	10.00
15.	वनस्पतिविज्ञान परिभाषा-कोश (1,2,3,4)	
16.	वनस्पतिविज्ञान परिभाषा-कोश-5 (आकारिकी तथा वर्गिकी)	
17.	पुरावनस्पतिविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 161)	80.50
18.	भूगोल परिभाषा-कोश	10.00
19.	मानव-भूगोल परिभाषा-कोश (पृ. 228)	18.00
20.	मानचित्र-विज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 361)	231.00
21.	गृहविज्ञान परिभाषा-कोश	
22.	गृहविज्ञान परिभाषा-कोश-2 (पृ. 64)	9.00
23.	इलेक्ट्रॉनिकी परिभाषा-कोश (पृ. 215)	22.00
24.	तरल यांत्रिकी परिभाषा-कोश (पृ. 76)	10.00
25.	यांत्रिक इंजीनियरी परिभाषा-कोश (पृ. 135)	84.00
26.	सिविल इंजीनियरी परिभाषा-कोश (पृ. 112)	61.00
27.	आयुर्विज्ञान पारिभाषिक कोश (शल्यविज्ञान)	48.05
28.	इतिहास परिभाषा-कोश (पृ. 297)	20.50
29.	शिक्षा परिभाषा-कोश (पृ. 197)	13.50
30.	शिक्षा परिभाषा-कोश-2 (पृ. 205)	99.00

31.	मनोविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 142)	9.50
32.	दर्शन परिभाषा-कोश (पृ. 432)	9.75
33.	अर्थशास्त्र परिभाषा-कोश (पृ. 232)	117.00
34.	अर्थमिति परिभाषा-कोश (पृ. 245)	17.65
35.	वाणिज्य परिभाषा-कोश (पृ. 173)	24.70
36.	समाजकार्य परिभाषा-कोश (पृ. 183)	
37.	समाजशास्त्र परिभाषा-कोश (पृ. 212)	71.40
38.	सांस्कृतिक नृविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 287)	24.00
39.	पुस्तकालय विज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 196)	49.00
40.	पत्रकारिता परिभाषा-कोश (पृ. 164)	87.50
41.	पुरातत्व परिभाषा-कोश (पृ. 391)	76.50
42.	पुरातत्व परिभाषा-कोश-2 (पृ. 453)	509.00
43.	पाश्चात्य संगीत परिभाषा-कोश (पृ. 104)	28.55
44.	भाषाविज्ञान परिभाषा-कोश खंड-1 (पृ. 212)	89.00
45.	कंप्यूटर-विज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 144)	102.00
46.	राजनीतिविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 356)	343.00
47.	प्रबंधविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 191)	170.00
48.	अंतर्राष्ट्रीय विधि परिभाषा-कोश (पृ. 293)	344.00
49.	कृषि-कीटविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 213)	75.00
50.	वनस्पतिविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 204)	75.00
51.	पादप आनुवंशिकी परिभाषा-कोश (पृ. 185)	75.00
52.	पादपरोगविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 138)	75.00
53.	मृदा विज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 149)	77.00
54.	सूक्ष्मजैविकी परिभाषा-कोश (पृ. 193)	45.00
55.	भाषाविज्ञान परिभाषा-कोश खंड-2 (पृ. 259)	59.00
56.	धातुकर्म परिभाषा-कोश (पृ. 441)	278.00
57.	भारतीय दर्शन परिभाषा-कोश खंड-1 (पृ. 171)	151.00
58.	सूत्रकृमि विज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 263)	125.00
59.	विद्युत इंजीनियरी परिभाषा कोश	81.00

मुद्रणाधीन

60. संरचनात्मक भूविज्ञान परिभाषा-कोश

पाठमालाएँ/मोनोग्राफ

क्र.सं.		मूल्य
1.	ऐतिहासिक नगर	195.00
2.	प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक नगर	109.00
3.	समुद्री यात्राएँ	79.00
4.	विश्व दर्शन	53.00
5.	अपशिष्ट प्रबंधन	17.00
6.	कोयला : एक परिचय	294.00
7.	वाहित मल एवं आपंक : उपयोग एवं प्रबंधन	40.00
8.	पर्यावरणी प्रदूषण : नियंत्रण तथा प्रबंधन	23.50
9.	रत्न-विज्ञान – एक परिचय	115.00
10.	2-दूरीक एवं 2-मानकित समष्टियों में संपात एवं स्थिर बिंदु समीकरणों के साधन	68.00
11.	पराज्यामितीय फलन	90.00
12.	ऊर्जा : संसाधन और संरक्षण	105.00
13.	स्वास्थ्य दीपिका	200.00
14.	समकालीन भारतीय दर्शन के कुछ मानवतावादी चिंतक : तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन	153.00
15.	स्वतंत्रता पूर्व हिंदी में विज्ञान लेखन	153.00
16.	भारतीय कृषि का विकास	155.00

© भारत सरकार

प्रकाशन नियंत्रक
पी. ई. डी.-883
500—2005 (डी. एस. के.-II)

मूल्य : देश में : 490 रु.
विदेश में : £ 6.28 या $ 10.98

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशन नियंत्रक, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, 2006